तुलसीकृत

अयोध्या काण्ड

का

काव्य-सौन्दर्य

[मूल, विस्तृत व्याख्या]

लेखक

राकेश एम० ए०

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल

हॉस्पिटल रोड, आगरा।

लक्ष्मीनारायण अग्रवाल
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

❀

प्रमुख विक्रेता :
श्री इन्दौर बुक डिपो,
४०४, महात्मा गांधी मार्ग, इन्दौर।

मूल्य १०.५०

१९६८

मुद्रक
जवाहर प्रिंटिंग प्रेस,
लोहामंडी, आगरा।

अनुक्रमण

अपनी बात

मेरी कृति "अयोध्या काण्ड" का 'काव्य-सौन्दर्य" छात्रों के समक्ष प्रस्तुत है। इसमें 'गीता प्रेस' के संस्करण के आधार पर प्रामाणिक मूल पाठ दिया गया है। इसके साथ ही शब्दार्थ, संदर्भ और काव्य सौन्दर्य से युक्त व्याख्या देकर छात्रों की परीक्षा की दृष्टि से 'अयोध्या काण्ड' का अध्ययन सुगम और सरल बनाने का मेरा प्रयास रहा है। अन्त में गोस्वामी तुलसीदास की काव्य-कला तथा 'अयोध्या काण्ड' पर परीक्षा में आने वाले सभी प्रश्न पूर्ण उत्तर के साथ दिये हैं। आशा है कि इसके द्वारा अध्ययन करते हुए परीक्षा का महासागर छात्रों के लिए गोष्पद ही जायगा।

रमेश एम० ए०

卐

अयोध्या काण्ड

मूल पाठ

और

विस्तृत-व्याख्या

卐

卐

बरबस लिए उठाइ उर, लाए कृपा-निधान।
भरत-राम की मिलन लखि, बिसरे सबहि अपान॥

卐

अयोध्या काण्ड

कथावस्तु

कथानक का प्रारम्भ—

अयोध्या काण्ड 'रामचरित मानस' का द्वितीय सोपान है। कथावस्तु को प्रारम्भ करने से पूर्व गोस्वामी तुलसीदास तीन श्लोको मे शिव, राम की मुखश्री और सीता सहित राम की वन्दना करते है। कथानक मे सबसे पहले राम-वन गमन का कारुणिक प्रसंग है। इसके वर्णन के लिए वे शिव से:—

"शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्कर पातु माम्"

कहकर शक्ति प्राप्त करते है। इसके पश्चात् वे राम की उस मुखश्री की वन्दना करते हैं, जो सुख-दु.ख मे निर्लिप्त रहने वाली है। राज्याभिषेक के समाचार पर जो हर्षित नही हुई और वनवास की आज्ञा सुनकर म्लान नही हुई—

जो अभिषेक की बात सुनी,
तो प्रसन्नता नेकु परी न लखाई।
औ वनवास कि आयसु पैं,
नहिं रेख कछू दु.ख की तहँ आई॥
जो दुख मे न मलीन भई,
सुख मे नहि जो कतहूँ हरषाई।
सो मुखश्री रघुनन्दन की,
मुद होई हमहि नित मंगलदाई॥

इसके पश्चात् सीता-सहित राम की वन्दना करते हैं। कथा का मुख्य अंग उन्ही का चरित्र है। अन्त मे श्रीगुरु-चरण की वन्दना करके मन को स्थिर करते हुए कथा प्रारम्भ करते है।

राम के राज्याभिषेक के लिए सजी हुई अयोध्या—

राम के विवाहोपरान्त अयोध्या मे नित्य नवीन मगल, मोद और बधाये हो रहे है। रामचन्द्र के मुख-चन्द्र को देखकर अयोध्या-वासी सब प्रकार से सुखी हैं। सभी के हृदय मे एक ही अभिलाषा है कि राजा दशरथ अपने सामने ही राम को युवराज बना दें—

> सब कें उर अभिलाषु अस, कहहिं मनाइ महेसु।
> आपु अछत जुबराज पद, रामहि देहिं नरेसु ॥

राजा दशरथ अपना अन्तकाल समीप देखकर गुरु, मंत्री और सभासदो से राम को युवराज बनाने की इच्छा-अभिव्यक्त करते हैं। गुरु वशिष्ठ प्रसन्न होकर राम-राज्याभिषेक की स्वीकृति देते हुए कहते हैं—

> बेगि बिलम्बु न करिअ नृप, साजिअ सकल समाजु।
> सुदिन सुमंगल तबहिं जब, राम होहिं जुबराजु ॥

राम-राजतिलक का समाचार सुनकर अयोध्या आनन्द और हर्ष मे निमग्न हो जाती है। रानियाँ अत्यन्त प्रसन्न होती हैं। राम-राज्याभिषेक की तैयारी प्रारम्भ होती है।

भरत के अभाव में राम के हृदय का असमंजस—

गुरु वशिष्ठ जाकर राम को उनके राज्याभिषेक की सूचना देते हैं। भरत ननिहाल में हैं। उनके अभाव मे राम को राज्याभिषेक नहीं सुहाता। उनके लिए यह अनुचित बात है कि भरत की अनुपस्थिति में उनका राज्याभिषेक हो रहा है। वे अकुलाते हुए चिन्तन करते हैं—

> जनमे एक संग सब भाई। भोजन, सयन, केलि लरिकाई ॥
> करनबेध, उपबीत बिआहा। संग-संग सब भयहु उछाहा ॥
> बिमल-बंस यहु अनुचित एकू। अनुज बिहाइ बड़े हि अभिषेकू ॥

देवताओं का षड्यन्त्र—

राम के राज्याभिषेक से अयोध्या मे प्रसन्नता और आनन्द का सागर हिलोरें ले रहा था। देवताओं को आनन्द बधावा उसी प्रकार अच्छा नहीं लगता था जिस प्रकार चोर को चाँदनी रात अच्छी नही लगती। उनके कार्य

की सिद्धि राम के वन-गमन मे ही हो सकती है, तभी राक्षसो का विनाश हो सकता है। वे शारदा से विनय करते हैं कि वह राम के वन-गमन मे सहायक बने। राम-वन-गमन मे शारदा आगे कल्याण समझकर यह कार्य अपने ऊपर ले लेती है और अयोध्यापुरी मे आती है।

शारदा मथरा की बुद्धि फेर देती है—

शारदा अपने प्रभाव से कैकेयी की दासी मंथरा की बुद्धि फेर देती है। मथरा को अयोध्या मे आनन्द-बधाई अच्छी नही लगती। वह कैकेयी के पास आकर उसे ऊँच नीच सुझाती है। कैकेयी पर उसका कोई प्रभाव नही पडता। वह मथरा को ही भला-बुरा कहती है। इस पर मथरा उदासीन भाव से कहती है—

पूत बिदेस न सोचु तुम्हारें। जानति हहु बस नाहु हमारें।

× × ×

कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाँडि अब होब कि रानी॥

× × ×

तुम्हहि न सोचु सुहाग बल, निज बस जानहु राउ।

मन मलीन मुँह मीठ नृपु, राउर सरल सुभाउ॥

× × ×

रामहि तिलक कालि जौं भयऊ। तुम कहुँ बिपति बीजु बिधि बयऊ।

रेख खँचाइ कहउँ बलु भाषी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी॥

जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई॥

कद्रूँ बिनतहि दीन्ह दुख, तुम्हहि कौसिला देब।

भरत बन्दिगृह सेइहहिं, लखनु राम के नेब॥

मथरा के वचन कैकयी को प्रभावित कर लेते हैं। वह उपाय पूछती है। वह कोप-भवन मे पडने, राजा के राम-शपथ करने पर भरत को राज्याभिषेक और राम को वन-गमन के वरदान माँगने की मंत्रणा देती है—

दुइ बरदान भूप सन थाती। मागहु आजु जुडावहु छाती॥

सुतहि राज रामहि बनवासू। देहु, लेहु सब सवति हुलासू॥

भूपति राम सपथ जब करई। तब मांगेहु जेहि बचनु न टरई॥

सुनु जननी सोइ सुत बडभागा । जो पितु मातु बचन अनुरागा ॥
तनय मातु-पितु तोषनिहारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥

मुनिगन मिलनु बिसेषि बन, सबहि भांति हित मोर ।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर ॥

भरत प्रानप्रिय पावहिं राजू । बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू ॥

राम पिता का सोच दूर करके माता कौशल्या से आज्ञा लेने चल देते हैं। राम वन-गमन की बात सारी अयोध्या-नगरी में फैल गई। सभी दुखित होकर कैकेयी को गाली देने लगे। राम माता कौशल्या के पास पहुँचे। सारा प्रसंग सुनकर वे स्तभित रह गईं। यदि वे राम से वन जाने को कहें तो स्नेह की हानि है, यदि रोकें तो धर्म जाता है। उनकी दशा सांप-छछूंदर की-सी हो जाती है। अन्त में धैर्य धारण करके वे कहती हैं—

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बडि माता।
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।

सारा समाचार सीता को ज्ञात होता है। ये भी साथ चलने को प्रस्तुत हो जाती हैं। राम के समझाने पर भी वे अयोध्या मे नही रुकना चाहती। उनका एक ही निर्णय है—

प्राननाथ तुम्ह बिनु जग मांही। मो कहँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिहि नाथ पुरुष बिनु नारी।
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे। सरद बिमल बिधु बदनु निहारे॥

राम को विवश होकर साथ चलने की अनुमति देनी ही पडती है—

कहेउ कृपाल भानुकुल नाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥

राम माता का प्रबोध कर सीता सहित चल देते हैं। लक्ष्मण भी उनके साथ हो लेते हैं। वे किसी प्रकार भी रोके नही रुकते। अन्त मे राम पिता, गुरु और पुरवासियो से विदा लेकर तापस वेश मे सीता,लक्ष्मण समेत चल देते है। सुमन्त उनको रथ मे विठाकर चलते है। अयोध्यावासी उनका पीछा करते है। राम पहली रात्रि तमसा के तट पर व्यतीत करते हैं। दो घडी रात व्यतीत होने पर राम अयोध्यावासियो को सोते हुए छोडकर चल देते है। सभी नर-नारी जागने पर बहुत व्याकुल होते हैं और विह्वल बने हुए अयोध्या लौट आते हैं। वे राम के दर्शन के लिए नेम और व्रत करने लगते है।

शृङ्गवेरपुर मे राम—

राम पत्नी और भ्राता सहित शृगवेरपुर पहुँचते है। वे लक्ष्मण और मत्री सहित गगा को प्रणाम करते है। निषादराज उनका स्वागत और पहुनाई करता है। सीता, सुमत, लक्ष्मण सहित कन्द-मूल फल खाकर राम विश्राम करते है। सवेरा होता है। राम सुमन्त को विदा करते हैं और पार जाने के लिए केवट से नाव माँगते हैं। केवट राम के चरण-कमलो को पखार कर और चरणामृत का पान कर कुल-सहित अपना उद्धार करता है और राम, सीता, लक्ष्मण को उस पार ले जाता है। निषादराज भी राम के साथ हो लेता है।
राम, सीता, लक्ष्मण सहित आगे चलकर प्रयागराज पहुँचते हैं। भरद्वाज ऋषि

राम का स्वागत करते हैं। राम मुनि से आगे का मार्ग पूछते हैं। मुनि पथ को जाने हुए चार शिष्य उनके साथ कर देते हैं। कुछ दूर चलने के उपरान्त राम बटुओं को विदा कर देते हैं और यमुना में स्नान करके आगे बढ़ते हैं। शृंगपुर के समीप कवि उन्हें एक तापस के रूप में उपस्थित करता है—

तेहि अवसर एक तापस आवा। तेजपुंज लघु वयस सुहावा॥
कवि अलखित गति वेषु विरागी। मन क्रम वचन राम अनुरागी॥
सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेव पहिचानि।
परेउ दण्ड जिमि धरनितल, दसा न जाइ बखानि॥

यहाँ से राम निषादराज को भी लौटा देते हैं और वन-मार्ग में आगे बढ़ते हैं। [यह वन-मार्ग सम्भवतः बान्दा के समीप आस-पास से चित्रकूट तक है।] वन मार्ग में सीता-लक्ष्मण सहित राम—

राम, लक्ष्मण, सीता की सुकुमारता, सौन्दर्य और शील को देखकर मग के नर-नारी स्नेह-शिथिल हो जाते हैं। राम गिरि-वन, विहग मृग आदि की शोभा देखते हुए आगे बढ़ते हैं। कवि यहाँ पर उनके देवत्व का व्यापक प्रभाव वर्णन करता हुआ कहता है—

परसि राम पद पदुम परागा। मानति भूरि भूमि निज भागा॥
छाँह करहिं घन विबुधगन, बरषहिं सुमन सिहाहिं।
देखत गिरि बन विहग मृग, राम चले मग जाहिं॥

पथ के ग्राम्य नर-नारी उनके शील और सौन्दर्य को देखकर चकित हो जाते हैं। उनकी दशा का कवि ने बड़ा रसात्मक वर्णन किया है—

रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥
एक नयन मग छवि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बर बानी॥
एक देखि बट छाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गवाँइअ छिनुकु श्रमु गवनब अबहिं कि प्रात॥
एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी॥

ग्राम बालायें सीता से राजकुमारों का परिचय पूछती हैं। सीता बड़ी सुन्दरता से मर्यादा के अन्दर उत्तर देती हैं। अयोध्या काण्ड का यह प्रसंग अत्यन्त मार्मिक और अनुभूतिपूर्ण बन पड़ा है। देखिए—

कोटि मनोज लजावन हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महुँ मुसुकानी ॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी ॥

× × × ×

सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे ॥
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी ॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि ॥

राम आगे बढते हैं। वे नर-नारियो का मन अपने साथ लगा लेते है। राम वाल्मीकि के आश्रम मे प्रवेश करते है।

वाल्मीकि के आश्रम मे राम—

वाल्मीकि मुनि राम का स्वागत करते हैं। कन्द, मूल, फल आदि वे लाकर आगे रखते हैं। राम, सीता और लक्ष्मण सहित उनको खाते हैं। राम उनसे पूछते हैं कि वे अब वनवास की अवधि कहाँ व्यतीत करें ? मुनि उनको विविध आध्यात्मिक स्थान बताते हुए कहते है—

पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ, मै पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुम्हहि देखावौं ठाउँ ॥

अन्त मे चित्रकूट मे निवास करने को कहते हैं। राम चित्रकूट मे निवास करते है। आगे कवि चित्रकूट की महिमा का विस्तार से वर्णन करता है।

सुमन्त का अयोध्या लौटना और दशरथ का प्राण-त्याग—

सुमन्त शोक से विकल होकर अयोध्या की ओर चलते हैं। घोडे भी राम वियोग मे विह्वल हैं। वे आगे नही बढते—

तल फरहिं मग चलहिं न घोरे। बन मृग मनहुँ आनि रथ जोरे ॥

सुमन्त पछताते हुए सध्या-समय अन्धेरे मे अवध मे प्रवेश करते है। राम, सीता, लक्ष्मण रहित रथ को देखकर अयोध्या के नर-नारी व्याकुल हो जाते हैं। दशरथ राम-राम कहकर प्राण-त्याग करते हैं। गुरु वशिष्ठ भरत को ननिहाल से बुला भेजते है।

भरत अयोध्या मे—

गुरु का आदेश पाकर भरत अयोध्या को चल देते है। अपशकुनो से उनका हृदय त्रस्त हो रहा है। अयोध्या पहुँचकर वे उसे श्री हीन और नर-नारियो का दुःखी देखते है। कैकेयी अपने द्वार पर ही भेंटकर उन्हे भीतर ले जाती है। कैकयी से भरत को राम-वन-गमन और पिता के मरण का सारा प्रसग ज्ञात होता है। इस प्रसग मे अपनी माता और स्वय का कारण समझ कर वे बहुत दुःखी होते हैं। उनका हृदय ग्लानि से भर जाता है। वे कैकेयी को बुरा भला कहते हुए माता कौशल्या के पास जाते हैं। वे उनका समाधान करके धैर्य देती हैं। गुरु वशिष्ठ तथा समस्त मत्रीगण उनसे राज्य-भार ग्रहण करने की अनुनय करते है। वे राम को मनाकर लाने का अपना निश्चय सुना देते हैं—

एकहि आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥

भरत का मत सभी को अच्छा लगता है। भरत विश्वासपात्र सेवको को नगर सौंप कर अयोध्या-समाज-सहित वन को चल देते हैं। भरत पैदल ही चलते है। वे तमसा, गोमती और सरयू के तट पर निवास करते हुए शृगवेरपुर पहुँचते हैं।

भरत और निषादराज—

भरत के दल-बल सहित आने का समाचार निषादराज को मिलता है। वह भरत के लिए सोचता है—

जानहिं सानुज रामहि मारी। करउँ अकटक राजु सुखारी॥

और इतना सोचते ही साथियो सहित उनका गतिरोध करने को प्रस्तुत हो जाता है, किन्तु जब उसे ज्ञात होता है कि भरत राम को मनाने जा रहे हैं। तब वह उनका स्वागत-सत्कार करता है। भरत भी निषादराज को हृदय से लगाते हुए इतने आनन्दित होते हैं, मानो लक्ष्मण ही उनको मिल गये हों। इसके पश्चात् भरत रामघाट को प्रणाम करते हुए इतने मग्न हो जाते हैं, मानो उन्हे राम ही मिल गये हो। जिस 'सिंसुपा' के नीचे राम ने विश्राम किया था, भरत ने उसे प्रणाम किया। सारी रात्रि राम के गुणो का स्मरण करते हुए ही व्यतीत हुई। प्रातः होते ही सब गगा के पार उतर कर गये। भरत

अयोध्यावासियों सहित आगे चले। निषादराज भी पथ-प्रदर्शन के लिए साथ हो लिया।

भरत भरद्वाज के आश्रम को—

भरत पयादेहि पाँव चल रहे हैं। सुसेवक बारम्बार कोतल पर बैठने को कहते हैं। भरत उनको उत्तर देते हैं—

राम पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर बल जाउँ धरम यह मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

भरत तीसरे प्रहर में प्रयाग में प्रवेश करते हैं। उसके पैरों में झलका झलकने लगते हैं। वे त्रिवेणी में स्नान करते हैं। त्रिवेणी की श्यामल-धवल हिलोरें देखकर भरत का हृदय राम के प्रति अपार प्रेम से भर जाता है। वे त्रिवेणी में वरदान माँगते हुए कहते हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरवान।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन॥

राम उनके कारण वनवासी हुए, यह सोचकर भरत का हृदय आत्म ग्लानि से भर जाता है। त्रिवेणी से निकली हुई वाणी उनका समाधान करती है—

तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू॥
बादि गलानि करहु मन माहीं। तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं॥

त्रिवेणी के अनुकूल वचन सुनकर भरत पुलकित हो जाते हैं। देवता भरत को 'धन्य-धन्य' कहकर पुष्पों की वर्षा करते हैं।

भरद्वाज के आश्रम में भरत—

भरत भरद्वाज मुनि के आश्रम में पहुँचते हैं। मुनि भरत को उठाकर हृदय से लगा लेते हैं। भरत की आत्म-ग्लानि दूर करने के लिए मुनि भाँति-भाँति से उनका प्रबोध करते हैं और कहते हैं कि तुम्हारा दर्शन तो राम, सीता, लक्ष्मण के दर्शन का फल है—

सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा। सहित प्रयाग सुभाग हमारा॥

भरद्वाज मुनि ने अपने तपोवन में ऋद्धि-सिद्धि और अणिमादिक को बुलाकर भरत सहित समस्त नर-नारियों के सुख और सुविधा का प्रबन्ध करा दिया। प्रात होते ही ऋषि से आज्ञा लेकर भरत समाज-सहित चित्रकूट को चल दिये। निषादराज उनके साथ चल रहा था। जिन विटपों के नीचे राम ने विश्राम किया था, उनको देखकर भरत के नेत्रों में अश्रु आ जाते हैं। देवता पुष्प की वृष्टि करते हैं। जलद छाया कर रहे हैं और समस्त पथ मंगलमय हो गया है—

देखि दसा सुर बरिसहिं फूला। भइ मृदु महि मगु मंगल मूला॥
किए जाहिं छाया जलद, सुखद बहइ बर बात।
तस मगु भयउ न राम कहँ, जस भा भरतहिं जात॥

भरत के प्रभाव को देखकर इन्द्र चिन्तित हो उठते हैं। उन्हें चिन्ता होती है कि भरत के प्रेम के कारण राम लौट न आयें और देवताओं का बना हुआ कार्य बिगड़ जावे। वे सुरगुरु से ऐसा उपाय करने की विनय करते हैं, जिससे राम और भरत की भेंट न हो। सुरगुरु कहते हैं कि यहाँ कपट से काम न चलेगा। राम अपने भक्त का अपराध सहन नहीं कर सकते। तथा—

तब कछु कीन्ह राम रुख जानी। अब कुचाल करि होइहि हानी॥

भरत धर्म और कर्तव्य-पथ में कभी भी बाधक नहीं बनेंगे। अतः हमें भरत ही की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

वन-मार्ग में भरत—

भरत वन-मार्ग में आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। जब वे राम कहकर उसास लेते हैं, तभी उनके चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है। वे यमुना के किनारे पर निवास करके प्रात होते ही दूसरी पार जाते हैं। आगे-आगे श्रेष्ठ मुनि चल रहे हैं। उनके पीछे सारा समाज चल रहा है और उसके पीछे नंगे पैरों दोनों भाई चल रहे हैं। जहाँ-जहाँ राम ने विश्राम किया था, उस स्थान को भरत प्रेम-सहित प्रणाम करते हैं। वन-मार्ग के ग्रामों के नर-नारी अपने कार्यों को छोड़कर उनके सौन्दर्य को देखते हैं। वे भरत के शील और स्नेह की सराहना करते हैं। भरत आगे बढ़ते हैं। उनको मंगल शकुन होने लगते हैं। भरत-सहित

समस्त समाज को राम-मिलन की आशा हो जाती है। इसी समय निषादराज भुजा उठाकर भरत को राम का आश्रम दिखाता है। वट की छाया में वेदी बनी हुई है। जहाँ मुनि-गणों के साथ राम बैठकर पुराण, वेद और इतिहास की चर्चा सुनते हैं। कोल और किरात राम से दल-सहित भरत के आने का समाचार सुनाते हैं। यह सुनकर राम सोच में पड जाते हैं और लक्ष्मण गति-रोध करने के लिए धनुष-बाण उठा लेते हैं। राम उनका समाधान करते हैं। और कहते हैं कि भरत जैसा बन्धु होना दुर्लभ है। भरत निषादराज के साथ आगे बढते हैं। उन्हे ग्लानि हो रही है कि राम-लक्ष्मण उनका नाम सुनकर कहीं अन्यत्र उठकर न चले जाँय।

राम-भरत का मिलन—

राम का आश्रम देखकर भरत के नेत्र अश्रुओं से भर जाते हैं। वे बन्धु-सहित प्रणाम करते हुए आगे बढते हैं। राम के पद-चिन्ह देखकर वे अत्यन्त हर्षित होते हैं। मानो रंक को पारस मणि मिल गई हो। राम के आश्रम में प्रवेश करते ही भरत के समस्त दुःख दूर हो जाते हैं। भरत 'पाहि नाथ', 'पाहि नाथ' कहकर लकुट की तरह पृथ्वी में गिर जाते हैं। लक्ष्मण इतना कह पाते हैं कि 'भरत प्रणाम कर रहे हैं।' राम वेदी पर से उठकर प्रेम-अधीर बने हुए दौडते हैं। उनके वस्त्र कहीं छूटते हैं, धनुष कहीं और तरकश कहीं। वे प्रेम विह्वल होकर भरत को उठाकर गले से लगा लेते हैं। राम और भरत के इस मिलन को देखकर सभी अपनापन भूल जाते हैं। इसके पश्चात् राम गुरु-वशिष्ठ तथा परिजन और समस्त अयोध्या-वासियों से मिलते हैं। माताओं में वे सबसे पहले कैकेयी से मिलते हैं।

राम अपने स्नेह से पिता की मृत्यु सुनकर बहुत दुःखी होते हैं। समस्त समाज शोक-विह्वल हो जाता है। दूसरे दिन सवेरा होते ही गुरु वशिष्ठ की आज्ञा से राम पिता का श्राद्ध-कर्म करते हैं। अयोध्या वासी राम के दर्शन से बहुत प्रसन्न हैं। कोल-किरात, भिल्ल आदि वनवासी, कंद-मूल फल, अंकुर आदि से सबका सम्मान करते हैं। इस प्रकार आनन्द में दिन-रात पलक के समान व्यतीत हो जाते हैं। इस समय कैकेयी को भी अपनी करनी पर पश्चाताप होता है।

चित्रकूट की सभा —

सभी की अभिलाषा है कि राम अयोध्या को लौट चलें। भरत अनुनय करते हुए कहते हैं—

तिलक समाजु साजि सबु आना। करिय सुफल प्रभु जौं मन माना॥

सानुज पठइअ मोहि बन, कीजिय सबहि सनाथ।
नतरु फेरियहि बंधु दोउ, नाथ चलहुँ मैं साथ॥

नतरु जाहिं बन तीनहुँ भाई। बहुरिय सीय-सहित रघुराई॥

भरत के वचनों को सुनकर राम संकोच में पड़ जाते हैं। इसी समय दूत आकर राजा जनक के आने का समाचार देते हैं। राम समस्त अयोध्या-समाज सहित आगे बढ़कर मिथिलेश का स्वागत करते हैं। दोनों राज-समाज मिलकर आनन्दित होते हैं इस प्रकार चार दिन और व्यतीत हो जाते हैं। दोनों समाज यह इच्छा करते हैं कि राम-सीता के बिना लौटने में भलाई नहीं है। सीता-राम के साथ वनवास में भी स्वर्ग के समान सुख है।

सीता अपने परिजनों से मिलकर प्रसन्न होती हैं। जानकी को तापस वेष में देखकर सभी विषाद से भर जाते हैं। जनक का विषाद भी घोर होता है। वे आनन्दित होकर कहते हैं—

के अनुसार आचरण की बाते करते हुए भरत का समाधान करते है। भरत का परम सन्तोष होता है। वे चित्रकूट देखने की अभिलाषा व्यक्त करते है। राम कहते है कि अत्रि ऋषि की आज्ञा शीश पर धारण कर चित्रकूट मे विहार करो। के राम अभिषेक के लिए के तीर्थो के सलिल से भरे भाजन चित्रकूट-पर्वत समीप के कूप मे अत्रि-मुनि की आज्ञा से उडेल दिये। वही भरत कूप कहलाया, जो समस्त पापो को नष्ट करने वाला है। दूसरे दिन पुन राज-सभा बैठी। भरत ने राम से अपने आश्रय के लिए उनकी चरण पादुकाएँ माँग ली। उनको ऐसा आनन्द हुआ मानो राम के रहने का ही सुख मिल गया हो। इसके पश्चात् भरत ने प्रणाम करके विदा माँगी। सुरपति ने भी अवसर जानकर लोगो के मन मे उचाट उत्पन्न कर दी। सुरपति की यह कुचाल लाभकारी ही हुई, अन्यथा राम के वियोग मे जीना दूभर हो जाता।

भरत और शत्रुघ्न दोनो भाई राम के चरणो की वन्दना करके चल दिये। राम ने जनक, गुरु वशिष्ठ तथा अन्य समस्त पुरवासियो का समुचित सम्मान कर उन्हे विदा किया। समस्त समाज ने यमुना उतर कर प्रथम विश्राम किया। वह दिन बिना भोजन के ही व्यतीत हुआ। वहाँ से चलकर गगा पार करके दूसरा वास किया। निषादराज ने समस्त सुख-सुविधा। जुटाई इसके पश्चात् सरयू और गोमती को पार करके चौथे दिन अयोध्यापुरी मे आ गये। जनक ने चार दिन अयोध्या मे रहकर साज-सभार की और भरत तथा मन्त्रियो को राज्य सौंपकर तिरहुत चले गये। सारे अयोध्यावासी राम के दर्शन के लिए सयम और उपवास करते हुए दिन व्यतीत करने लगे—

राम दरस लगि लोग सब, करत नेम उपवास।
तजि-तजि भूषन भोग सुख, जिअत अवधि की आस॥

नन्दी ग्राम मे भरत—

भरत ने स्वामि भक्त सेवको को प्रत्येक का कार्य सम्हार दिया। छोटे भाई को माताओ की सेवा सौंपी। इसके पश्चात् ब्राह्मणो को बुलाकर अनुनय पूर्वक कहा कि वे बुरे-भले कार्यो से सचेत करते हुए आदेश देते रहे।

इसके पश्चात् गुरु वशिष्ठ और राम की माता कौशल्या से आज्ञा लेकर

अपने निवास के लिए नन्दी ग्राम में पर्णकुटी बनाई। उन्होंने सिर पर जटाजूट और शरीर पर मुनि-वस्त्र धारण किये और सोने के लिए पृथ्वी पर कुशा की शैय्या बनाई। सिंहासन पर प्रभु की पादुकाओं को रखकर और उनसे आज्ञा माँग-माँग कर राज-कार्य करने लगे।

नित पूजत प्रभु पावरी, प्रीति न हृदय समाति।
माँगि माँगि आयसु करत, राज काज बहु भाँति॥

भरत का शरीर दिन प्रति दिन जैसे-जैसे क्षीण होता था, वैसे-वैसे उनका मुख तेज बढ़ता जाता था और राम का प्रेम हृदय में पुष्ट होता जाता था। वे पुलकित होकर सीता-राम के नाम का जाप करते थे—

पुलकि गात हियँ सिय रघुबीरु। जीह नामु जप लोचन नीरु॥

उनकी दशा देखकर सभी उनकी प्रशंसा करते हुए कहते—

लखन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं॥
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू॥

अन्त में भरत की महिमा का निम्न प्रकार प्रतिपादन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास अयोध्या काण्ड के कथानक को समाप्त करते हैं—

"सिय राम प्रेम पियूष पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन अगम जम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुख-दाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥
भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेम अवसि होइ भव रस बिरति॥

अयोध्या काण्ड पर आलोचनात्मक दृष्टि

अयोध्या काण्ड के कथानक का आरम्भ 'जब ते राम ब्याहि घर आये' से होता है। राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल का यथार्थ रूप सामने आता है। राम की पितृ भक्ति, माता-पिता का वात्सल्य, सीता का पातिव्रत्य, भरत तथा लक्ष्मण की भ्रातृ-भक्ति एवं त्याग आदि की घटनाएँ कवि के मनोवैज्ञानिक पाण्डित्य का परिचय देती हैं।

चरित्र-चित्रण—

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी अयोध्या काण्ड सर्वोत्तम है। 'रामचरित मानस' के प्रमुख पात्रो के चरित्र का विकास इसी काण्ड मे होता है। राम का चरित्र सर्व प्रमुख है, वे ही कथानक के नायक है। वे दैवी और मानवीय दोनो ही रूपो मे, हमारे सामने आते हैं। पिता की आज्ञा के पालन का जो आदर्श उन्होने उपस्थित किया, वह अन्यत्र खोजने से भी न मिलेगा। वे सुख-दुःख मे निलिप्त और निर्विकार थे। राज्याभिषेक के समाचार पर वे प्रसन्नता मे मग्न नही होते और वनवास की आज्ञा पर उनके मुख पर म्लानता नही आती। राम अनिच्छा-पूर्वक अपने मन को मार कर भी दूसरो का मन नही तोडते। सीता और लक्ष्मण को वे अयोध्या में रहने के लिए बहुत समझाते है, किन्तु जब वे स्वीकार नही करते तो उनकी इच्छा पूरी करने को विवश हो जाते हैं।

राम भरत के प्रेम के वश मे थे। वे भरत की सदैव सराहना करते है और चित्रकूट की सभा मे भरत की इच्छानुसार काम करना स्वीकार कर लेते हैं। राम सकोची स्वभाव के थे। वे कटु वचन कहना जानते ही नही थे। गगा-तट पर लक्ष्मण सुमन्त से पिता के लिए कुछ कटु शब्द कहते है। इस पर राम अपनी शपथ दिलाते हुए सुमन्त से कहते हैं कि वे लक्ष्मण का सन्देश जाकर न कहें—

सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखन सँदेसु कहिअ जनि जाई॥

अयोध्या काण्ड मे राम का चरित्र कोमल, सहृदय, सकोची, उदार, कृतज्ञ, पितृ-आज्ञा पालक आदि उदात्त गुणो से विभूषित है।

दशरथ—

दशरथ वात्सल्य की साकार प्रतिमा के रूप में हमारे सामने आते है। वे अपनी छोटी रानी कैकेयी के वशीभूत थे। यह उनकी मानवीय दुर्बलता थी। कैकेयी ने उनसे राम को चौदह वर्ष का वनवास मांगा। वे मना कैसे करते। उनका तो सिद्धान्त था—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाँहि पर वचन न जाई॥

इन्होंने राम को वनवास दिया और उनके वियोग में तड़प-तड़प कर प्राण त्याग दिये।

भरत—

अयोध्या काण्ड में भरत का चरित्र बहुत महत्वपूर्ण है। राम के प्रति प्रेम और अटल भक्ति के रूप में उनके चरित्र का सुन्दर विकास हुआ है। भरत के लिए 'राम प्राण हु के प्राण' थे। वे साक्षात् श्रीराम के स्नेह का रूप थे—

'धरे देह जनु राम सनेहू।'

राम-भक्ति में निमग्न भरत का चित्र गोस्वामी तुलसीदास ने निम्न प्रकार चित्रित किया है—

पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जपु लोचन नीरू॥

भरत का पावन-चरित्र लोक में श्रीराम की भक्ति की ओर ले जाने वाला है—

भरत चरित करि नेमु, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय राम पद प्रेमु, अवसि होइ भव-रस विरति॥

लक्ष्मण—

लक्ष्मण देह और गेह सबसे तृण के समान सम्बन्ध तोड़कर राम का अनुगमन करते हैं। वे अपने आदर्श को राम के समक्ष व्यक्त करते हुए कहते हैं—

जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम श्रुति गाई॥
मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीन बन्धु उर अंतरयामी॥

लक्ष्मण की प्रकृति उग्र है। वे अपना विरोध नहीं सहन कर सकते। अन्याय के लिए उनके पास क्षमा नहीं है। इसीलिए गंगा-तट पर राम को वनवास देने वाले पिता को वे कटु वचन कहते हैं। तथा सैन्य-समेत भरत के आने का समाचार सुनकर उनका सामना करने को तैयार हो जाते हैं।

सीता—

सीता राम की परम शक्ति हैं। सीता के लिए राम ही सर्वस्व हैं। वे कहती है—

प्राण नाथ तुम बिनु जग माँहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥

वे अपने पति की सच्ची सहचरी है। सुख-दुःख मे उनके साथ रहने वाली हैं। वे पतिव्रत की साक्षात् मूर्ति हैं। पति के साथ कुश-कटक मय वन मे फिरना उन्हें कोटियो अयोध्या से बढ़कर है। सीता राम के सकेत पर तत्काल कार्य करने वाली हैं। गगा पार जाने पर राम को सकोच होता है कि उन्होने केवट को उतराई नही दी। सीता सब कुछ समझ जाती हैं और देने को अपनी मणि-मुँदरी उतार देती हैं—

पिय हिय की सिय जाननि हारी। मनि मुँदरी मन मुदित उतारी॥

सीता का चरित्र भारतीय नारी के शील के चरमोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ है। ग्राम बालायें उनसे उनके पति और देवर का परिचय पूँछती हैं। सीता बड़ी शीलता, शिष्टता और चतुरता से उत्तर देती हैं—

सहज सुभाइ सुभग तनु गोरे। नाम लखन लघु देवर मोरे॥
बहुरि वदन विधु अचल ढाकी। पिय तन चितै भौंह करि बांकी॥
खजन मजु तिरीछे नैननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सेननि॥

सीता का चरित्र प्रत्येक दृष्टि से आदर्शमय और पावन है। चित्रकूट मे वे पिता से जाकर मिलती हैं। किन्तु उनको रात मे वहाँ ठहरते हुए सकोच होता है। राजा जनक उनके लिए कहते हैं—

पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥
जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह विधि अड करोरी॥
गग अवनि थल तीन बड़ेरे। एहि किए साधु समाज घनेरे॥

कौशल्या—

कौशल्या राम की माता हैं। वे न्याय और धर्म का सेतु हैं। वे राम का वन-गमन सुनकर विचलित अवश्य होती हैं, किन्तु अपने पति के सत्य-धर्म की रक्षा के लिए हृदय पर पत्थर रखकर राम को वन जाने की आज्ञा प्रदान

करती हैं। उन्हें अपने हृदय की इस कठोरता का पश्चाताप सदैव रहता है। राम के समान ही उनका भरत पर स्नेह था। राम के वियोग में विह्वल और आत्म-ग्लानि से भरे भरत को वे धैर्य बँधाती है। उनके इस निर्मल व्यवहार को देखकर सभी कहते हैं—

राम मातु अस काहे न होई।

कैकेयी—

कैकेयी दशरथ की सबसे छोटी रानी थी। वह स्वभावतः मृदु और हृदय की शुद्ध थी। मथरा के भेद डालने की बात कहने पर उसे डाँट देती है—

पुनि अस कबहुँ कहसि घर फोरी। तब धरि जीभ कढावौं तोरी॥

कैकेयी में स्त्री सुलभ दुर्बलताएँ भी हैं। इन्ही के कारण वह मथरा की बातो में आ जाती है। वह कोप-भवन में जाकर पड़ जाती है। दशरथ के राम की शपथ खाने पर ही वह वरदान माँगती है। फिर कठोर से कठोरतम होती जाती है।

गोस्वामी जी ने चित्रकूट की सभा में उसके चरित्र को बड़ी कुशलता से ऊँचा उठा दिया। वह अपने कार्य पर ग्लानि में गलती देखी जाती है। देवताओं के षड्यन्त्र तथा गिरा के द्वारा मति फेरे जाने पर ही उसने यह सब कुछ किया। इस प्रकार उसके चरित्र पर पाठकों को सहानुभूति होने लगती है।

सुमन्त्र—

सुमन्त्र दशरथ के विश्वास पात्र मत्री और आदर्श सचिव थे। राम को रथ में बैठाकर गगा तक वे ही पहुँचाने जाते हैं। जिस समय वे राम को वन में छोड़कर अयोध्या की ओर चलते हैं, उस समय उनके प्रेम और कर्तव्य-पालन में तुमुल युद्ध होने लगता है। सुमन्त्र नेत्रों में जल भर कर राम से विदा लेते हैं। अयोध्या में आकर वे सबको सांत्वना देते हैं।

निषाद—

अयोध्या काण्ड के कथानक में निषाद का महत्वपूर्ण स्थान है। वह राम की गंगा-तट पर प्रेम-पूर्वक सेवा करता है। वह राम को नाव पर चढाने से

पहले उनके चरणो को पखारने का आग्रह करता है। राम उसके प्रेम के वशीभूत हो जाते हैं। भरत के आने पर वह दल-बल सहित राम के लिए मर-मिटने को तैयार हो जाता है। चित्रकूट मे वह राम और भरत दोनो ही के साथ जाता है। निषाद राम का अभिन्न मित्र और सखा है।

अयोध्या काण्ड मे और भी कई पात्र हैं। जिनमे सुमित्रा, गुरु वशिष्ठ, भरद्वाज और बाल्मीकि आदि प्रमुख हैं। वशिष्ठ रघुकुल के परम पूज्य है। प्रत्येक कार्य उनका आशीर्वाद प्राप्त होकर ही होता है। भरद्वाज और बाल्मीकि राम के अनन्य भक्त के रूप मे आते है। राम इन दोनो महर्षियो का यथोचित सम्मान करते है।

दशरथ की रानी सुमित्रा का चरित्र सर्वथा आदर्शपूर्ण है। लक्ष्मण राम के साथ जाने के लिए उनसे विदा माँगने जाते है। वे लक्ष्मण से कहती हैं—

तात तुम्हारि मातु वैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू॥
जो पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाही॥

कथोपकथन—

कथोपकथन की दृष्टि मे अयोध्या काण्ड बहुत सफल है। गुरु वशिष्ठ और दशरथ के सवाद, कैकेयी-मथरा सवाद, दशरथ-कैकेयी सवाद, राम-कैकेयी सवाद, राम-कौशल्या सवाद, सीता-राम सवाद बहुत ही उत्तम हैं। ये सवाद जहाँ पात्रो के चरित्र का विकास करते है, वह कथा को भी आगे बढाते हैं। इनमे वात्सल्य, शृङ्गार, वीर और शान्त-रस का सुन्दर परिपाक हुआ है।

अलकार-योजना—

अलकारो का सुन्दर विधान 'अयोध्य काण्ड' में है। मध्य भाग मे 'अयोध्या काण्ड' प्रौढता को प्राप्त होता है। अलकारो से भाषा सज जाती है। यह प्रौढता अन्त तक चलती रहती है। 'चित्रकूट' का रूपक बहुत सुन्दर है। कुछ अन्य अलकारो के उदाहरण लीजिए—

विपति बीजु बरषा रितु चेरी। भुइँ भइ कुमति कैकई केरी॥

भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहि सुख बारी ॥
—सम अभेद रूपक

सुतहि राजु रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू ॥
—परिवृत्त अलकार

भूप मनोरथ सुभग बनु, सुख सुविहंग समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाडन चहति, वचनु भयकरु बाजु ॥

—रूपक

राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राम मातु भलि सब पहिचाने ॥
—वक्रोक्ति

रामु चले बन प्रान न जाहीं। केहि सुख लागि रहत तन माहीं ॥
—विशेषोक्ति

गयउ सहमि नहिं कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेहु लावा ॥
—उत्प्रेक्षा

करि कुरूप विधि परवस कीन्हा। बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा ॥
—लोकोक्ति

रूपकों से 'अयोध्या काण्ड' भरा पड़ा है। उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की भी भरमार है।

भाव और अनुभावों की मनोहारी व्यंजना—

अयोध्या काण्ड की प्रत्येक पंक्ति मे कवि-कौशल की स्पष्ट झलकें मिलती है। कैकेयी स्पष्ट कड़वी, कर्कश और कठोर वाणी मे राजा दशरथ से कहती है कि प्रतिज्ञा के पुतले बने रहो या राम का मोह छोड़ दो। यदि कल दिन निकलते-निकलते तापस वेश धारण कर राम बन को न चले गये तो मेरी मृत्यु और ससार में तुम्हारा अयश निश्चित है—

होत प्रातु मुनिवेष धरि, जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं ॥

कैकेयी के क्रोध का ठिकाना नहीं रहता। वह रौद्र-रस की साकार प्रतिमा बन जाती है—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढी। मानहुँ रोष तरंगिनि बाढी।।
पाप पहार प्रकट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई।।
दोउ वर कूल कठिन हठ धारा। भवँर कूबरी वचन प्रचारा।।
ढाहत भूपरूप तरु मूला। चली विपति वारिधि अनुकूला।।

कवि ने यहाँ पर क्रोध का विचित्र चित्र खीच दिया है।

कैकेयी के शब्दो को सुनकर राजा दशरथ विवश और व्याकुल हो जाते है। उनका सारा शरीर शिथिल हो जाता है। बेवशी और व्याकुलता की अवस्था निम्न प्रसंग मे द्रष्टव्य है—

व्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता।।
कठु सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीनु दीन बिनु पानी।।
राम राम रट विकल भुआलू। जनु बिनु पंख विहंग बेहालू।।
विवरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू।।
माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन।।

राम के चरित्र मे गम्भीरता और धीरज की पराकाष्ठा है। उनकी शान्तिप्रियता कैकेयी के क्रोधानल पर ठण्डा पानी छिडक देती है। गम्भीरता और धैर्य का चित्रण निम्न उदाहरण मे द्रष्टव्य है—

सुनु जननी सोइ सुतु बडा भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी।।
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल ससारा।।
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। विधि सब विधि मोहि सनमुख आजू।।
जौं न जाउँ वन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ समाजा।।

अयोध्या काण्ड मे कौशल्या-राम और कौशल्या भरत के प्रसग मे वात्सल्य का सुन्दर चित्रण हुआ है। निम्न उदाहरण मे देखिए—

बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता।।
गोद राखि पुनि हृदयँ लगाए। स्रवत प्रेमरस पयद सुहाए।।
प्रेम प्रमोदु न कछु कहि जाई। रंक धनद पदवी जनु पाई।।
तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू।।
पितु समीप तब जाएहु भैआ। भइ बडि बार जाइ बलि मैआ।।

यहाँ पर पुत्र के प्रति माता का वात्सल्य अलग-अलग में प्रवाहित हो उठा है। 'मैया', 'मैया' शब्द वात्सल्य की सामग्री उपस्थित कर देते हैं। पुत्र का चुम्बन लेकर गोद में बैठा लेना कितना स्वाभाविक है।

परमार्थ तत्व का विवेचन—

गोस्वामी तुलसीदास ने अयोध्या काण्ड में 'अगवँर पुर में एक' के प्रसंग में परमार्थ तत्व का सुन्दर विवेचन किया है। राम-सीता शयन कर रहे हैं। आधी रात्रि से अधिक समय व्यतीत हो चुका है। लक्ष्मण निषाद पहरा दे रहे हैं। लक्ष्मण निषाद से परमार्थ तत्व का विवेचन करते हैं। निम्न कथन में मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य सार-तत्व सामने उपस्थित हो जाता है।

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता॥
जोग बियोग भोग भल मदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥
जनमु मरनु जँह लगि जग जालू। सम्पति बिपति करमु अरु कालू॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥
जानिअ तबहि जीव जग जागा। जग सब विषय विलास बिरागा॥
होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥

वर्णन-वैचित्र्य—

गोस्वामी जी ने अयोध्या काण्ड में स्थान-स्थान पर ऐसे सुन्दर चित्र प्रस्तुत कर दिये, जिनमे उनके कवि-कौशल को देखकर पाठक आश्चर्य से डूब जाता है। दो एक प्रसंग उदाहरण के लिए लीजिए—

नाव में बैठाकर उतारने से पहले केवल राम के चरण-कमलों को पखारना चाहता है। अपनी इस अभिलाषा को सीधे न कहकर बड़ी विदग्धता पूर्ण रीति से कहता है। वह चरणों को धोने का सटीक कारण प्रस्तुत करता है। चरण-रज से जब पत्थर की शिला स्त्री हो गई तो नाव का तो कहना ही क्या है? वह तो पाहन से भी बहुत कोमल है—

मांगी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मै जाना॥
चरन कमल रज कहुँ सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उडाई॥

केवट की रसमयी विनोद वार्ता सुनकर श्रीरामचन्द्र हँस पडते है और कहते है—

"सोइ करिअ जेहि नाव न जाई"

वन मार्ग मे ग्राम वधुओ का प्रसंग अत्यन्त मार्मिक है। वे सीताजी से—"कोटि मनोज लजावनि हारे सुमुखि कहहु को अहइ तुम्हारे" कहकर पूछ-ताछ करती हैं। यहाँ बडी सुरुचि पूर्ण मर्यादा के अन्दर गोस्वामी तुलसीदास सीता जी से उत्तर दिलवाते है। यहाँ आर्य नारी का पावन आदर्श ही उपस्थित हो जाता है। सीता देवर लक्ष्मण का नाम लेकर परिचय देती है और भाव-भंगी से अपने पति का परिचय बडी कुशलता से दे देती हैं। यहाँ तुलसी की कला और कल्पना चर्मोत्कर्ष पर पहुँची हुई है—

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सिय मन महुँ मुसुकानी॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी।
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखन लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पियतन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि॥

राम के वियोग से अयोध्या मे किस प्रकार भयकरता और करुणा फैली हुई है, इसका स्पष्ट चित्र निम्न कथन मे सामने आ जाता है—

खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत मन सूला॥
श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगरु बिसेषि भयावनु लागा॥
खग मृग हय गय जाहिं न जोए। राम बियोग कुरोग बिगोए॥
नगर नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब सम्पति हारी॥
हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहुँ दिसि लागि दबारी॥

निम्न प्रसंग में मुनियों के आश्रम का चित्र नेत्रों के सामने अंकित हो जाता है। प्राणिमात्र के अभेद और ऐक्य का वर्णन द्रष्टव्य है—

बन प्रदेस मुनिबास घनेरे। जनु पुर नगर गाउँ गन खेरे॥
बिपुल बिचित्र बिहग मृग नाना। प्रजा समाज न जाइ बखाना॥
खगहा करि हरि बाघ बराहा। देखि महिष बृष साज सराहा॥
बयरु बिहाइ चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहु सेन चतुरंगा॥
झरना झरहिं मत्त गज गाजहिं। मनहुँ निसान बिबिध बिधि बाजहिं॥
चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंद मराल मुदित मन॥
बेलि बिटप तृन सफल सफूला। सब समाजु मुद मंगल मूला॥

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अयोध्या काण्ड 'रामचरित मानस' की मुकुट मणि है। भाव, कल्पना, पात्र योजना, दृश्य-चित्रण आदि की दृष्टि से अयोध्या काण्ड काव्य का भंडार है।

अयोध्या काण्ड

मूल और व्याख्या

यस्याङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके,
भाले बालविधुर्गले च गरलं यस्योरसि व्यालराट्।
सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा,
शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्रीशङ्करः पातु माम् ॥१॥

शब्दार्थ—यस्याङ्के=जिनकी गोद मे। भूधर सुता=पार्वती जी। देवापगा=गगा। भाले=ललाट पर। बाल विधुर्गले=द्वितीय का चन्द्रमा। व्यालराट्=सर्पराज शेष नाग। भूति-विभूषणः=भस्म से विभूषित। सुरवरः=देवताओ मे श्रेष्ठ। सर्वाधिपः=सर्वेश्वर। शर्वः=भक्तो के पाप नाशक। सर्वगतः=सर्व व्यापक। शिवः=कल्याण रूप। शशिनिभः=चन्द्रमा के समान शुभ्र वर्ण। पातु माम्=मेरी रक्षा करें।

संदर्भ—अयोध्या काण्ड के इस प्रथम श्लोक मे मंगलाचरण के रूप मे गोस्वामी तुलसीदास शंकर की वन्दना कर रहे हैं—

व्याख्या—जिनकी गोद मे हिमाचल पुत्री पार्वती, मस्तक पर गगा जी, ललाट पर द्वितीया का चन्द्रमा, कंठ मे हलाहल विष और वक्षःस्थल पर सर्पराज शेष जी सुशोभित है, भस्म से विभूषित, देवताओ मे श्रेष्ठ, सर्वेश्वर, भक्तो के पाप नाश करने वाले सर्व व्यापक, कल्याण रूप, चन्द्रमा के समान शुभ्र वर्ण श्री शंकर जी सदा मेरी रक्षा करें।

अलंकार—वृत्यनुप्रास।

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥२॥

प्रसन्नता या [illegible]था=राज्याभिषेक की बात सुनकर न तो प्रसन्नता को प्राप्त हुई। मम्ले=म्लान। वनवास दुःखतः=वनवास के दुःख से।

सदर्भ—प्रस्तुत श्लोक में गोस्वामी तुलसीदास सुख-दुःख में निलिप्त रहने वाली रामचन्द्र की मुखश्री का वर्णन कर रहे हैं।

व्याख्या—रघुकुल को आनन्द देने वाले श्री रामचन्द्र के मुखारविन्द की शोभा राज्याभिषेक की बात सुनकर न तो प्रसन्न हुई और न वनवास की आज्ञा सुनकर मलीन ही हुई। उनके मुखकमल की वह छवि मेरे लिए सदा सुन्दर मंगलों को देने वाली हो।

> नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम्।
> पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम्॥३॥

शब्दार्थ—नीलाम्बुज=नील कमल। श्यामल=श्याम। कोमलाङ्ग=जिनके अंग कोमल हैं। सीता [illegible] भागम्=सीता जी जिनके वाम भाग में विराजमान हैं। पाणौ=हाथ में। महासायक=अमोघ बाण। चापं=धनुष। नमामि=नमस्कार करते हैं।

सदर्भ—मंगलाचरण के इस तीसरे श्लोक में सीता-सहित श्री राम की वन्दना कर रहे हैं—

व्याख्या—नीले कमल के समान श्याम और कोमल जिनके अंग हैं श्री सीता जी जिनके वाम भाग में विराजमान हैं और जिनके हाथों में अमोघ बाण और सुन्दर धनुष है, उन रघुवंश के स्वामी श्री रामचन्द्र जी को मैं नमस्कार करता हूँ।

अलंकार—राम के शरीर की समता 'नील कमल' से होने में उपमा।

> श्रीगुरु चरन सरोज रज निज मनु मुकुरु सुधारि।
> बरनउँ रघुबर बिमल जसु, जो दायकु फल चारि॥

शब्दार्थ—मन मुकुर=मन रूपी दर्पण।

सदर्भ—राम के विमल यश वर्णन के लिए गोस्वामी तुलसीदास गुरु, चरण-रज से अपने मन रूपी दर्पण को साफ करने की बात कह रहे हैं—

व्याख्या—श्री गुरु जी के चरणकमलों की रज से अपने मन रूपी दर्पण को साफ करके मैं श्री रघुनाथ जी के उस निर्मल यश का वर्णन करता हूँ, जो चारों फलों को देने वाला है।

काव्य-सौन्दर्य—

१—अलंकार—'चरन' में 'सरोज' का 'आरोप' तथा 'मन' में 'मुकुरु' का आरोप होने से रूपक।

२—चार फल—धर्म, अर्थ काम, मोक्ष।

जब तें रामु ब्याही घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए॥
भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी॥
रिधि सिधि सम्पति नदीं सुहाई। उमँगि अवध अंबुधि कहुँ आई॥
मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुन्दर सब भाँती॥
कहि न जाइ कछु नगर बिभूती। जनु एतनिअ बिरंचि करतूती॥
सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचन्द मुख चन्दु निहारी॥
मुदित मातु सब सखी सहेली। फलित बिलोकि मनोरथ बेली॥
राम रूपु गुन सील सुभाऊ। प्रमुदित होइ देखि सुनि राऊ॥

सब कें उर अभिलाषु अस कहहिं मनाइ महेसु।
आप अछत जुबराज पद रामहि देउ नरेसु॥१॥

शब्दार्थ—भूधर=पर्वत। सुकृत=पुण्य। अंबुधि=समुद्र। करतूती=कारीगरी। अछत=जीते जी।

संदर्भ—राम के विवाहोपरान्त अयोध्या में वैभव, मंगल और मोद बढ़ता ही गया। राम सभी को अत्यन्त प्रिय है। प्रत्येक की यही अभिलाषा है कि राजा दशरथ जीते जी राम को युवराज बना दें। प्रस्तुत पंक्तियों में इसी प्रसंग का पल्लवन है।

व्याख्या—जब से राम ब्याह करके घर आये, तब से अयोध्या में नित्य नये मंगल हो रहे हैं और आनन्द के बधावे बज रहे हैं। चौदहों लोक रूपी बड़े भारी पर्वतों पर पुण्य रूपी मेघ सुख रूपी जल बरसा रहे है। ऋद्धि-सिद्धि और सम्पत्ति रूपी सुहावनी नदियाँ उमड़-उमड़ कर अयोध्या रूपी समुद्र में आकर मिल गई हैं। अयोध्यापुरी के स्त्री-पुरुष अच्छी जाति के मणियों के समूह हैं, जो सब प्रकार से पवित्र, अमूल्य और सुन्दर है। नगर के ऐश्वर्य

का कुछ वर्णन नहीं हो सकता। ऐसा लगता है, मानो विधाता ने अपनी सारी कारीगारी समाप्त कर दी है। रामचन्द के मुखरूपी चन्द्रमा को देखकर समस्त नगर-निवासी सब प्रकार सुखी रहते हैं। सब माताएँ और सखी सहेलियाँ अपनी मनोरथ रूपी बेल को फली हुई देखकर आनन्दित हैं। श्रीराम चन्द्रजी के रूप, गुण, शील और स्वभाव को देख-सुनकर राजा दशरथ बहुत आनन्दित होते हैं।

सबके हृदय मे यही अभिलाषा है कि राम शीघ्र युवराज बनें। वे महादेव जी की प्रार्थना करके कहते हैं कि राजा अपने जीते जी राम को युवराज बनादें।

काव्य-सौन्दर्य—

१—अभिलाषा भाव का सुन्दर चित्रण है।

२—अलकार—'सुकृत' मे 'मेघ', 'सुख' मे 'वारि' 'रिधि सम्पति' मे 'नदी' 'अवध' मे 'अबुधि', 'मुख' मे 'चन्द्र', मनोरथ मे 'वेली' का आरोप होने मे रूपक, 'मगल मोद' मे म भूदर भारी' भ 'नर नारि' मे न 'सखी'-सहेली' मे स 'सील सुभाऊ' में स 'मनाइ महेसु' में म वर्णं की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास, 'जनु—करतूती' मे उत्प्रेक्षा।

एक समय सब सहित समाजा। राजसभाँ रघुराजु बिराजा॥
सकल सुकृत मूरति नरनाहू। राम सुजसु सुनि अतिहि उछाहू॥
नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषें। लोकप करहिं प्रीति रुख राखें॥
तिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरिभाग दसरथ सम नाहीं॥
मगलमूल रामु सुत जासू। जो कछु कहिअ थोर सबु तासू॥
रायँ सुभायँ मकुरु कर लीन्हा। बदनु बिलोकि मुकुटु सम कीन्हा॥
श्रवन समीप भए सित केसा। मनहुँ जरठपनु अस उपदेसा॥
नृप जुबराजु राम कहुँ देहू। जीवन जनम लाहु किन लेहू॥
यह बिचारु उर आनि नृप, सुदिनु सुअवसरु पाइ।
प्रेम पुलकि तन मुदित मन, गुरहि सुनायउ जाइ॥२॥

शब्दार्थ—रघुराजु=रघुकुल के राजा। उछाहू=आनन्द। लोकप=लोकपाल। भूरि भाग=बड भागी। मुकुरु=दर्पण।

सदर्भ—राजा दशरथ अपना जरठपन देखकर राम को युवराज पद देने का विचार करते है। वे अपने इस विचार को गुरू को आकर सुनाते हैं। प्रस्तुत प्रसग मे इमी तथ्य का पल्लवन है।

व्याख्या—एक समय रघुकुल के राजा दशरथजी अपने सारे समाज-सहित राजसभा मे विराजमान थे। वे समाज पुण्यों की मूर्ति हैं। श्रीराम चन्द्र जी का यश-वर्णन सुनकर वे अत्यन्त आनन्दित होते हैं।

समस्त राजा महाराज दशरथ की कृपा की अभिलाषा करते है और लोक-पाल गण उनके रुख को देखकर प्रीति करते है। पृथ्वी आकाश और पाताल तीनो भुवनो मे और भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनो कालो मे दशरथ के समान बड-भागी और कोई नही है। मगलो के मूल श्रीरामचन्द्र जी जिनके पुत्र हैं, उनके लिए जो कुछ भी कहा जाये सब थोडा है। राजा ने स्वाभाव से ही एक दिन हाथ मे दर्पण ले लिया और उसमे अपना मुख देखकर मुकुट को सीधा किया। इसी समय कानो के समीप सफेद केश देखकर उन्हे ऐसा लगा, मानो वृढापा उपदेश दे रहा हो, कि हे राजन् श्रीरामचन्द्र को युवराज पद देकर अपने जीवन और जन्म को सफल क्यो नही कर लते ?

हृदय मे राम को युवराज पद देने का निश्चय करके राजा दशरथ शुभ दिन मे सुन्दर समय पाकर प्रेम-पुलकित और आनन्द-निमग्न होकर गुरू वशिष्ठ के पास गये और उन्हें अपना विचार सुनाया।

काव्य-सौन्दर्य—

१—अलकार—"श्रवन समीप भये सित केसा' मे 'मनहुँ जरठपन अस उपदेशा" की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा, 'समय समाजा' मे स वर्ण की एक से अधिक बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास, यत्र-तत्र छेकानुप्रास है।

कहइ भुआलु सुनिअ मुनिनायक। भए राम सब विधि सब लायक ॥
सेवक सचिव सकल पुरवासी। जे हमार अरि मित्र उदासी ॥
सबहि रामु प्रिय जेहि विधि मोही। प्रभु असीस जनु तनु धरि सोही ॥
विप्र सहित परिवार गोसाई। करहि छोहु सब रौरहि नाई ॥
जे गुर चरन रेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं ॥

मोहि सम यहु अनुभयउ न दूजें। सबु पायउँ रज पावनि पूजें ॥
अब अभिलाषु एकु मन मोरें। पूजिहि नाथ अनुग्रह तोरें ॥
मुनि प्रसन्न लखि सहज सनेहू। कहेउ नरेस रजायसु देहू ॥
राजन राउर नामु जसु, सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिप मनि, मन अभिलाषु तुम्हार ॥३॥

शब्दार्थ—भुआलु=राजा। छोहु=स्नेह। रौरहिं=आपके। अनुभयउ=अनुभव हुआ। अनुग्रह=कृपा। रहँसि=हर्षित होकर। उछाहू=उत्सव। लाहू=लाभ।

सन्दर्भ—राजा दशरथ गुरु वशिष्ठ के गृह जाकर राम को युवराज बनाने की अभिलाषा अभिव्यक्त करते हैं—

व्याख्या—राजा ने कहा कि हे मुनिराज अब राम सब योग्य हो गये हैं। सेवक, मंत्री, समस्त नगर निवासी और हमारे शत्रु या उदासीन सभी को मेरे समान राम प्रिय हैं, उनके रूप में मानो आपका आशीर्वाद ही वाणी धारण करके शोभित हो रहा हो। हे स्वामी! ब्राह्मण भी परिवार सहित आपके ही समान उनपर स्नेह करते हैं। जो लोग गुरु के चरणों की रज को मस्तक पर धारण करते हैं, वह मानो समस्त ऐश्वर्य को अपने वश में कर लेते हैं। इसका अनुभव मेरे समान किसी दूसरे ने नहीं किया। आपके पवित्र चरण-रज को पूज कर मैंने सब कुछ पा लिया। अब मेरे मन में एक ही अभिलाषा है, हे नाथ! यह भी आपके अनुग्रह से पूरी होगी।

राजा का सहज प्रेम देखकर मुनि ने प्रसन्न होकर कहा—नरेश! आज्ञा दीजिए, कहिए क्या अभिलाषा है?

हे राजन्! आपका नाम और यश ही सम्पूर्ण मनचाही वस्तुओं को देने वाला है। हे राजाओं के मुकुटमणि! आपके मन की अभिलाषा फल का अनुगमन करती है। फल की इच्छा करने से पहले ही फल उत्पन्न हो जाता है।

१—अलंकार—'सेवक सकल' स वर्ण की एक से अधिक बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास, यश-मन अनुप्रास और छेकानुप्रास, 'प्रभु' सोही' में उपमा

...ि जनु "करही' 'फल ' तुम्हा... ...को सुन्दर वाणी सुनकर राजा को है
होने से 'अत्यन्तातिशयोक्ति । ...ली का आश्रय पा गई हो।

सब विधि गुरु प्रसन्न जियँ... ...ए मुनिराज वशिष्ठ जी
नाथ रामु करिअहि जुबरा...
मोहि अछत यहु होइ उछा... ...वरण को एक
प्रभु प्रसाद सिव सबइ निबाहे... ...होने मे
पुनि न सोच तनु रहउ कि जा... ...ना
सुनि मुनि दसरथ बचन सुहा...
सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं । ... न जाहीं ॥
भयउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी । रामु पुनीत प्रेम अनुगामी ॥

बेगि बिलंबु न करिअ नृप, साजिअ सबुइ समाजु ।
सुदिन सुमंगलु तबहिं, जब रामु होहिं जुबराजु ॥४॥

शब्दार्थ—रहँसि = पसन्न होना,

संदर्भ—राजा दशरथ की अभिलाषा सुनकर गुरु वशिष्ठ जी प्रसन्न होते है और कहते है कि राम के राजतिलक मे विलम्ब नही होना चाहिए।

व्याख्या—गुरु वशिष्ठ को सब प्रकार से प्रसन्न जानकर राजा बहुत प्रसन्न हुए और कोमल वाणी मे बोले—'हे नाथ श्रीरामचन्द्र को युवराज बनाने की तैयारी करने की आज्ञा दीजिए, मेरे जीते जी यह आनन्दोत्सव हो जाये और सभी अपने नेत्रो का लाभ प्राप्त करले। आपके प्रताप से शिवजी ने सारी इच्छाएँ पूर्ण कर दी, केवल एक यही लालसा शेप रह गई है। इसके पूरा हो जाने पर फिर सोच नही है। फिर शरीर चाहे रहे, चाहे चला जाय मुझे इसका पछतावा नही होगा। दशरथ के मंगल और आनन्द के मूल वचनो को सुनकर मुनि मन मे बहुत प्रसन्न हुए।

वशिष्ठ जी ने कहा, हे राजन् सुनिये जिससे विमुख होकर लोग पछताते हैं और जिनके भजन के बिना हृदय की जलन नही जाती वही सर्वलोको के स्वामी राम आपके पुत्र हुए है, जो पवित्र प्रेम के अनुगामी है। प्रेम के वश होकर ही वे तुम्हारे पुत्र हुए है।

मोहि सम यहु अनुभयउ न दूजें।
अब अभिलाषु एकु मन -ाजिए। राम-राज्याभिषेक की शीघ्र तैयारी
मुनि प्रसन्न लखि स- ल लगी है, जबकि राम युवराज हो जायें।
राजन रा- जानी' मे ज, 'लहहि लोग' तथा 'लोचन लाहु' मे ल,
फल म, 'मन माही' म म, 'पाछे पछिताउ' मे प 'सुदिन सुमंगल' मे
शब्दार्थ- एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास, 'कहिअ करिअ' मे क,
अनुभव । मन' मे म, 'साजिअ समाजु' मे स वर्ण की एक से अधिक बार
ला-आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास, भजन बिन मे विनोक्ति।

मुदित महीपति मंदिर आए। सेवक सचिव सुमंत्रु बोलाए॥
कहि जयजीव सीस तिन्ह नाए। भूप सुमंगल बचन सुनाए॥
जौं पाँचहि मत लागै नीका। करहु हरषि हियँ रामहि टीका॥
मंत्री मुदित सुनत प्रिय बानी। अभिमत बिरवँ परेउ जनु पानी॥
बिनती सचिव करहिं कर जोरी। जिअहु जगतपति बरिस करोरी॥
जग मंगल भल काजु बिचारा। बेगिअ नाथ न लाइअ बारा॥
नृपहि मोदु सुनि सचिव सुभाषा। बढ़त बौंड जनु लही सुसाखा॥

कहेउ भूप मुनिराज कर, जोइ जोइ आयसु होइ।
राम राज अभिषेक हित, बेगि करहु सोइ सोइ॥५॥

शब्दार्थ—पाँचहि=पंचो को। अभिमत=मनोरथ। बिरवँ=पौधा। करोरी=करोड़ वर्ष। बौंड=बेलि। सुसाखा=सुन्दर डाली।

संदर्भ—राम के राज्याभिषेक करने की गुरु की आज्ञा पाकर राजा दशरथ अपने सचिवों को आनन्दित होकर तैयारी करने का आदेश देते हैं—

व्याख्या—राजा दशरथ अत्यन्त प्रसन्न होकर घर आते हैं और सेवकों तथा मंत्री सुमंत्र को बुलाते हैं। वे आकर 'जयजीव' कहकर शीश झुकाते हैं। राजा उनसे मंगलमय वचन कहते हैं, कि यदि आप सबको अच्छा लगे तो हृदय से हर्षित होकर राम को राजतिलक करो। इस प्रिय वाणी को सुनकर मंत्री लोग इतने प्रसन्न हुए, मानो उनके मनोरथ रूपी पौधे मे पानी पड़ गया हो। मंत्री हाथ जोड़ कर विनती करते हुए कहते हैं कि हे जगतपति! आप करोड़ो वर्ष जीवित रहिए। आपने जगत भर के मंगल करने का कार्य सोचा है।

नाथ ! इस कार्य मे देर न लगाइये। मन्त्रियो की सुन्दर वाणी सुनकर राजा को ऐसा आनन्द हुआ, मानो बढती हुई बेल सुन्दर डाली का आश्रय पा गई हो।

राजा ने कहा—श्रीरामचन्द्र के राजतिलक के लिए मुनिराज वशिष्ठ जी जो, जो आज्ञा दें आप लोग वही सब तुरन्त करें।

अलकार—'मुदित' 'मदिर' मे म, 'सेवक सुमंत्र' मे स, वर्णों की एक से अधिक बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास, मन्त्रियो के मुदित होने मे 'अभिमत' 'पानी की सम्भावना, 'नृपहि मोद' मे बढत सुसाखा की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा, 'जोइ-जोइ', सोइ-सोई' मे पुनरुक्ति प्रकाश।

हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी। आनहु सकल सुतीरथ पानी॥
औषध मूल फूल फल पाना। कहे नाम गनि मगल नाना॥
चामर चरम बसन बहु भांती। रोम पाट पट अगनित जाती॥
मनिगन मंगल वस्तु अनेका। जो जग जोगु भूप अभिषेका॥
वेद विदित कहि सकल विधाना। कहेउ रचहु पुर विविध बिताना॥
सफल रसाल पुंगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर चहुँ फेरा॥
रचहु मजु मनि चौकें चारू। कहहु बनावन बेगि बजारू॥
पूजहु गनपति गुर कुलदेवा। सब विधि करहु भूमिसुर सेवा॥
ध्वज पताक तोरन कलस सजहु तुरग रथ नाग।
सिर धरि मुनिवर बचन सबु निज निज काजहि लाग॥६॥

शब्दार्थ—चामर=चँवर। चरम=मृगचर्म। रोम-पाट=रेशमी कपडे। सुफल=फलो सहित। रसाल=आम। पुगफल=सुपारी।

व्याख्या—गुरु वशिष्ठ मत्री, सचिवो और सेवको को प्रसन्न होकर कोमल वाणी में आदेश देते हैं कि राम के राज्याभिषेक के लिए समस्त श्रेष्ठ तीर्थों का जल, औषधि, मूल, फूल, फल और पत्र आदि अनेको मागलिक वस्तुए लाने को कहा। चँवर मृगचर्म, बहुत प्रकार के वस्त्र, असख्यो जातियो के ऊनी और रेशमी, सूती कपडे, नाना प्रकार की मणियाँ और बहुत सी मगल वस्तुए जो राज्याभिषेक के लिए आवश्यक थी, लाने की आज्ञा दी।

उन्होने वेदो मे कहा हुआ सब विधान बताकर कहा—नगर मे बहुत से मडप सजाओ। फलो समेत आम, सुपारी और केले के वृक्ष नगर की गलियो

चारों ओर रोप दो। सुन्दर मणियों के मनोहर चौक पुरवाओ और बाजारों को शीघ्र ही सजाने को कह दो। श्री गणेश, गुरु और कुल देवता की पूजा करो और ब्राह्मणों की सब प्रकार से सेवा करो।

ध्वजा, पताका तोरण, कलश घोड़, रथ और हाथी सजा दो। मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठ के वचनों को सुनकर सभी अपने-अपने कामों में लग गये।

अलंकार—अनुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास।

जो मुनीस जेहि आयसु दीन्हा। सो तेहिं काजु प्रथम जनु कीन्हा॥
बिप्र साधु सुर पूजत राजा। करत राम हित मंगल काजा॥
सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥
राम सीय तन सगुन जनाए। फरकहिं मंगल अंग सुहाए॥
पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत आगमनु सूचक अहहीं॥
भए बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥
भरत सरिस प्रिय को जग माहीं। इहइ सगुन फलु दूसर नाहीं॥
रामहिं बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदउ जेहि भाँती॥

एहि अवसर मंगलु परम, सुनि रहँसेउ रनिवासु।
सोभत लखि बिधु बढ़त जनु, बारिधि बीचि बिलासु॥७॥

शब्दार्थ—बाज बधावा=बड़ी धूम से बधाए बजने लगे। कमठ कछुवा। अंडहि=अंडों का।

संदर्भ—राम के राज्याभिषेक के समाचार से अयोध्या में छाये आनन्द और उल्लास का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास प्रस्तुत प्रसंग में कर रहे हैं—

व्याख्या—राम-राज्याभिषेक की तैयारी के लिए मुनि ने जिनको जो आज्ञा दी, उनने वह कार्य इतनी शीघ्रता से कर दिया, मानो पहले ही से कर रखा हो। राजा, ब्राह्मण, साधु और देवताओं को पूजते हुए श्रीरामचन्द्र जी के लिए मंगल कार्य करते हैं। राम-राज्याभिषेक का मंगल-समाचार सुनकर अवध में धूम-धाम से बधावने बजने लगे। श्रीराम और सीता को भी मंगल शकुन हुए। उनके सुन्दर अंग फड़कने लगे। वे दोनों पुलकित होकर एक दूसरे से कहते हैं कि ये सारे सगुन भरत के आने की सूचना देने वाले हैं। उनको मामा के घर गये बहुत दिन हो गये। बार-बार उनसे मिलने की मन में आती है। इन शकुनों से

भरत मे मिलने का विश्वास हो रहा है। और भरत के समान संसार मे हमे कौन प्यारा है। इस शकुन का बस यही फल है, दूसरा नही। राम को अपने भाई भरत का दिन-रात ऐसा सोच रहता है, जैसे कछुए का हृदय अडो मे रहता है।

राम राज्याभिषेक का समाचार सुनकर सारा रनिवास हर्षित हो उठा, मानो चन्द्रमा को बढते देखकर समुद्र मे लहरो का विलास शोभा दे रहा हो।

अलकार—उत्प्रेक्षा, उदाहरण अनुप्रास छेकानुप्रास वृत्यनुप्रास।

प्रथम जाइ जिन्ह बचन सुनाए। भूषन बसन भूरि तिन्ह पाए॥
प्रेम पुलकि तन मन अनुरागीं। मगल कलस सजन सब लागीं॥
चौकें चारु सुमित्राँ पूरी। मनिमय विविध भाँति अति रूरी॥
आनँद मगन राम महतारी। दिए दान बहु विप्र हँकारी॥
पूजीं ग्रामदेबि सुर नागा। कहेउ बहोरि देन बलिभागा॥
जेहि विधि होइ राम कल्यानू। देहु दया करि सो बरदानू।
गावहिं मगल कोकिलबयनीं। बिधुबदनीं मृगसावकनयनी
राम राज अभिषेकु सुनि, हियँ हरषे नर नारि।
लगे सुमगल सजन सब, बिधि अनुकूल विचारि॥८॥

शब्दार्थ—भूरि=बहुत से। चौकें=चौक। रूरी=सुन्दर। बलि=भेंट। मृग सावक नयनी=हिरण के बच्चे के से नेत्रो वाली स्त्रियाँ।

संदर्भ—प्रस्तुत प्रसंग मे गोस्वामी तुलसीदास राज्याभिषेक के समाचार रनवास मे छाये आनन्द और उल्लास का वर्णन कर रहे है।

व्याख्या—सबसे पहले रनिवास मे जाकर जिन्होने राम-राज्याभिषेक का समाचार सुनाया, उन्हें रानियो ने बहुत से वस्त्राभूषण दिये। रानियो का शरीर प्रेम मे पुलकित हो गया और मन प्रेम मे निमग्न हो गया। वे सब मगल कलश सजाने लगी। सुमित्रा ने मणियो के बहुत प्रकार के अत्यन्त सुन्दर और मनोहर चौक पूरे आनन्द मे मग्न हुई श्री राम चन्द्र जी की माता

कौसल्या ने ब्राह्मणों को बुलाकर बहुत दान दिया। उन्होंने ग्राम-देवियों, देवताओं और नागों की पूजा की और फिर उन्हें बलि-भेंट देने की मनौती की। वे प्रार्थना करती हुई कहती हैं कि जिस प्रकार श्री रामचन्द्र जी का कल्याण हो, वही वरदान दीजिए। कोकिल के समान मधुर कंठवाली, चन्द्रमुखी और हिरन के बच्चे के से नेत्रों वाली स्त्रियाँ मंगल गान गाती हैं।

श्री रामचन्द्र का राज्याभिषेक सुनकर सभी स्त्री पुरुष हृदय में हर्षित हो उठे और विधाता को अपने अनुकूल समझकर सब सुन्दर मंगल साज सजाने लगे।

अलंकार—'जाइ-जिन्ह' में ज, 'प्रेम पुलकि' में प, 'सजन सब' में स, 'कोकि बानि' में ब' दिए दान' में द, 'देहु दया' में द, 'नर-नारी' में न वर्णों की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास, 'गावहिं . . . नयनी' में उपमा।

तब नरनाहँ बसिष्ठ बोलाए। रामधाम सिख देन पठाए॥
गुर आगमनु सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायउ माथा॥
सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥
गहे चरन सिय सहित बहोरी। बोले रामु कमल कर जोरी॥
सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगल मूल अमंगल दमनू॥
तदपि उचित जनु बोलि सप्रीती। पठइअ काज नाथ असि नीती॥
प्रभुता तजि प्रभु कीन्ह सनेहू। भयउ पुनीत आजु यहु गेहू॥
आयसु होइ सो करौं गोसाईं। सेवकु लहइ स्वामि सेवकाईं॥

सुनि सनेह साने बचन, मुनि रघुबरहि प्रसंस।
राम कस न तुम्ह कहहु अस, हंस बंस अवतंस॥९॥

शब्दार्थ—नरनाहँ=राजा। दमनू=नाश करने वाला। हंस बंस अवतंस—सूर्य वंश के भूषण।

संदर्भ—गुरु वसिष्ठ राम को समयोचित उपदेश देने आते हैं। राम उनका यथोचित सम्मान करते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में इसी तथ्य का पल्लवन है।

व्याख्या—राजा दशरथ ने गुरु वसिष्ठ को राम के महल में समयोचित उपदेश देने के लिए भेजा। गुरु का आगमन सुनकर राम ने द्वार पर आकर

शीश झुका कर उनका स्वागत किया। राम आदर पूर्वक अर्घ्य देकर उन्हें घर ले आये और षोडशोपचार से पूजा करके उनका सम्मान किया। इसके पश्चात् सीता-सहित उनके चरण स्पर्श किये और दोनो कमल करो को जोड कर कहा—यद्यपि सेवक के घर स्वामि का पधारना मंगलो का मूल और अमगलो का नाश करने वाला होता है। तथापि उचित तो यह था कि प्रेम-पूर्वक दास ही को कार्य के लिए बुला भेजते ऐसी ही नीति है किन्तु आपने यहाँ स्वय पधार कर जो स्नेह किया, उससे आज यह घर पवित्र हो गया। हे गोसाईं! अब जो आज्ञा दो। मैं वही करूँ। स्वामी की सेवा मे ही सेवक का धर्म है।

श्री रामचन्द्र के प्रेम मे सने वचनो को सुनकर मुनि वशिष्ठ ने प्रशसा करते हुए कहा कि हे राम! भला। भला ऐसा क्यो न कहे। आप सूर्य वश के महाराजा है।

१—अलंकार—अनुप्रास, उपमा
२—'मगल . .. अमगल दमनू' मे अनुप्रास और ध्वन्यात्मकता।

बरनि राम गुन सीलु सुभाऊ। बोले प्रेम पुलकि मुनिराऊ॥
भूप सजेउ अभिषेक समाजू। चाहत देन तुम्हहि जुवराजू॥
राम करहु सब सजम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहै काजू॥
गुरु सिख देइ राय पहिं गयऊ। राम हृदयँ अस बिसमउ भयऊ॥
जनमे एक सग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥
करनबेध उपबीत बिआहा। सग संग सब भए उछाहा॥
बिमल बस यहु अनुचित एकू। बधु बिहाइ बडेहि अभिषेकू॥
प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई। हरउ भगत मन कै कुटिलाई॥

तेहि अवसर आए लखन, मगन प्रेम आनन्द।
सनमाने प्रिय वचन कहि रघुकुल कैरव चन्द॥१०॥

शब्दार्थ—संजम=हवन, उपवास आदि। रघुकुल कैरवचन्द्र=रघुकुल रूपी कुमुद के लिए चन्द्रमा।

गाजहिं बाजने बिबिध बिधाना। पुर प्रमोदु नहिं जाइ बखाना॥
भरत आगमनु सकल मनावहिं। आवहिं बेगि नयन फलु पावहिं॥
हाट बाट घर गली अथाईं। कहहिं परसपर लोग लोगाईं॥
कालि लगन भलि केतिक बारा। पूजिहि बिधि अभिलाषु हमारा॥
कनक सिंघासन सीय समेता। बैठहिं रामु होइ चित चेता॥
सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन मनावहिं देव कुचाली॥
तिन्हहि सोहाइ न अवध बधावा। चोरहि चंदिनि राति न भावा॥
सारद बोलि बिनय सुर करहीं। बारहिं बार पाय लै परहीं॥

बिपति हमारि बिलोकि बड़ि, मातु करिअ सोइ आजु।
रामु जाहिं बन राजु तजि, होइ सकल सुरकाजु॥११॥

शब्दार्थ—कुचाली=कुचक्री।

संदर्भ—देवताओं को राम का राज्याभिषेक अच्छा नही लगता। वे विघ्न उपस्थित करने के लिए शारदा से विनय करते है—

व्याख्या—समस्त अयोध्या मंगलमय बधावो से गूँज रही है। नाना प्रकार के बाजे बज रहे है। नगर मे आनन्द अतिशयता का वर्णन नही किया जा सकता। सभी भरत के आगमन ही प्रतीक्षा करते हुए कहते हैं कि वे आकर राज्याभिषेक देखकर नेत्रो का फल प्राप्त करे। बाजार, रास्ता, घर, गली और चबूतरो पर जहाँ तहाँ पुरुष और स्त्री आपस मे यही कहते हैं कि कल वह शुभ मुहूर्त किस समय होगा जब विधाता हमारी अभिलाषा पूर्ण करेगा। हमारी मनोकामना तभी पूर्ण होगी जब स्वर्ण के सिंहासन पर राम सीता समेत विराजमान होगे। इधर तो सारे अयोध्या वासी यह कह रहे थे कि कल कब होगा। और उधर देवता विघ्न मना रहे थे। उनको अयोध्या के मंगल गान उसी प्रकार अच्छे नही लगते जिस प्रकार चोर को चाँदनी रात अच्छी नही लगती। सरस्वती को बुलाकर और विनय करके तथा बारम्बार पैरों पड़ कर देवता कहते हैं कि—

हे माता हमारी बड़ी विपत्ति को देख कर काज वही कीजिए, जिससे श्री रामचन्द्र जी राज्य त्याग कर बन को चले जाँय व और देवताओं का काज सिद्ध हो।

१—अलंकार—अनुप्रास तथा "तिन्हहिं. .. . . भावा" दृष्टान्त।

२—अभिलाषा भाव का सुन्दर निरूपण है।

सुनि सुर विनय ठाढ़ि पछिताती। भइउँ सरोज बिपिन हिमराती॥
देखि देव पुनि कहहिं निहोरी। मातु तोहि नहिं थोरिउ खोरी॥
बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ॥
जीव करम बस सुख दुख भागी। जाइअ अवध देव हित लागी॥
बार-बार गहि चरन सँकोची। चली बिचारि बिबुध मति पोची॥
ऊँच निवासु नीचि करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥
आगिल काजु बिचारि बहोरी। करिहहिं चाह कुसल कबि मोरी॥
हरषि हृदयँ दसरथ पुर आई। जनु ग्रह दसा दुसह दुखदाई॥

नामु मंथरा मन्दमति, चेरी कैकइ केरि।
अजस पेटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि ॥१२॥

शब्दार्थ—हिमराती = हेमन्त ऋतु की रात। पोची = शोच। पोचौ=
आगिल = आगे का।

सदर्भ—देवताओ के विनय करने पर सरस्वती कैकेयी की दासी मंथरा की बुद्धि फेर जाती है।

व्याख्या—देवताओ की विनती सुनकर सरस्वती खडी खडी पछता रही है कि हाय मैं कमल वन के लिए हेमन्त ऋतु की रात हुई। अर्थात् जिस प्रकार हेमन्त की घोर रात्रि मे कमलवन नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार मेरे कार्य से अवध का सुख और आनन्द नष्ट हो जायगा। सरस्वती को इस प्रकार पछताते देखकर देवताओं ने कहा कि हे माता! इसमे आपको किंचित भी दोष नही लगेगा। श्रीरामचन्द्र जी विषाद और हर्ष से रहित हैं। तुम उनके प्रभाव को जानती हो। जीव अपने कर्म वश ही सुख-दुःख का भागी होता है अतः देवताओ के हित के लिए आप अयोध्या जाइये। देवताओं ने बारम्बार चरण पकड़कर सरस्वती को सकोच मे डाल दिया, तब वह यह विचार करके चलदी कि देवताओं की बुद्धि बड़ी ओछी है। इनका निवास तो ऊँचा है, किन्तु करनी बहुत नीची है। ये दूसरे का वैभव नही देख सकते। परन्तु आगे मगल होगा और चतुर कवि मेरी सराहना करेंगे, यह सोचकर हृदय मे प्रसन्न होती हुई सरस्वती दशरथ की पुरी अयोध्या मे आई, मानो दुःसह दुःख देने वाली कोई ग्रह-दशा आ गई हो।

कैकयी के मंथरा नाम की एक मन्द बुद्धि दासी थी, उसे अपयश की पिटारी बनाकर सरस्वती उसकी बुद्धि को फेर कर चली गई।

विशेष—"आगिल सोची" श्रीराम के वन जाने से राक्षसो का वध होगा, जिससे समस्त जग का मगल और कल्याण होगा और श्रीराम के वनवास के चरित्र का वर्णन करने के लिए कुशल कवि मेरी सराहना करेंगे।

अलंकार—सरस्वती अपने में 'हिमराती' का आरोप कर रही है, इसलिए रूपक, 'हरषि   दुखदाई' मे 'उत्प्रेक्षा' तथा यत्र-तत्र अनुप्रास है।

दीख मंथरा नगरु बनावा। मंजुल मंगल बाज बधावा॥
पूछेसि लोगन्ह काह उछाहू। राम तिलकु सुनि भा उर दाहू॥
करइ विचारु कुबुद्धि कुजाती। होइ अकाजु कवनि विधि राती॥
देखि लागि मधु कुटिल किराती। जिमि गवँ तकइ लेउँ केहि भाँती॥
भरत मातु पहिं गइ बिलखानी। का अनमनि हसि कह हँसि रानी॥
ऊतरु देइ न लेइ उसासू। नारि चरित करि ढारइ आँसू॥
हँसि कह रानि गालु बड तोरें। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरें॥
तबहुँ न बोल चेरि बड़ि पापिनि। छाडइ स्वास कारि जनु साँपिनि॥

सभय रानि कह कहसि किन, कुसल रामु महिपालु।
लखनु भरतु रिपुदमनु सुनि, भा कुबरी उर सालु॥१३॥

शब्दार्थ—उरदाहू=हृदय जल उठा। मधु=शहद का छत्ता। किराती=भिल्लनी। गवँ तकइ=घात लगाती है। अनमनि=उदास। नारि चरित=त्रिया-चरित्र। गालु बड तोरे=तू बहुत बढ-बढ कर बोलने वाली है। सिख=शिक्षा। दडा सभय=डर कर। साल=पीडा।

व्याख्या—मंथरा ने नगर को सजा हुआ और मंगल मय बधावें बजते देखकर लोगो से पूछा कि कौन सा उत्सव हो रहा है। उनसे रामके राजतिलक की वात सुनते ही उसका हृदय जल उठा। वह दुर्बुद्धि नीच जाति वाली दासी विचार करने लगी कि किस प्रकार से यह काम रात ही रात मे बिगड़ जाय। जैसे कोई कुटिल भलिनी शहद का छत्ता लगा देखकर घात लगाती है कि उसको किस तरह उखाड लूँ।

मथरा भरत की माता कैकेयी के पास उदास होकर गई। रानी कैकेयी ने पूछा कि तू उदास क्यो है। मंथरा कुछ उत्तर नही देती। कुवरी लम्बी सांस लेती है और त्रिया-चरित्र करके आंसू गिराने लगती है। रानी हँसकर कहने लगी कि तू बहुत बढ-बढकर बोलने वाली हो गई है। मेरा मन कहता है कि लक्ष्मण जी ने तुझको शिक्षा दी है। तब भी वह महा पापिनी दासी कुछ भी नही वोली और ऐसी लम्बी सास ली, मानो काली नागिन की फुसकार छोड रही हो।

तुम्हारा पुत्र परदेश मे है, उसका तुम्हे किंचित सोच नही है। तुम जानती हो कि राजा वश में है। तुम्हे तो तोशक पलँग पर पडे-पडे नीद लेना ही बहुत प्यारा लगता है। राजा की कपट भरी चतुराई तुम नही देखती। मथरा के प्रिय वचन सुनकर, किन्तु उनको मन की मैली जानकर रानी डाँटकर बोली—बस चुप रहे, घरफोडी कही की। फिर कभी ऐसी बात कही तो मे तेरी जीभ निकाल लूँगी।

कानो, लगडो और कुबडो को कुटिल और कुचाली जानना चाहिए। उनमे भी स्त्री और फिर दासी का तो कहना ही क्या। इतना कहकर भरत की माता कैकेयी मुस्कुरादी।

१—अलकार—"कल.   आज' काकुवक्रोक्ति।

२—मुहावरे और लोकोक्ति का सुन्दर प्रयोग हैं—

प्रियबादिनि सिख दीन्हिउँ तोही। सपनेहुँ तो पर कोपु न मोही॥
सुदिनु सुमंगल दायकु सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥
राम तिलकु जौं सांचेहुँ काली। देउँ मांगु मन भावत आली॥
कौसल्या सम सब महतारी। रामहि सहज सुभायँ पिआरी॥
मो पर करहिं सनेहु विसेषी। मै करि प्रीति परीक्षा देखी॥
जौं विधि जनमु देइ करि छोहू। होहुँ राम सिय पूत पुतोहू॥
प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें। तिन्ह कें तिलक छोभु कस तोरें॥

भरत सपथ तोहि सत्य कहु, परिहरि कपट दुराउ।
हरष समय विसमउ करसि, कारन मोहि सुनाउ॥१५॥

शब्दार्थ—प्रिय वादिनि=प्रिय वचन कहने वाली। पतोहू=पुत्र वधू। फुर=सत्य।

सदर्भ—यहाँ कैकेयी के चरित्र का उदात्त रूप मे चित्रण है। वह राम, कौशल्या आदि के लिए स्नेह प्रकट करती हुई कहती है।

व्याख्या—हे प्रिय वचन कहने वाली मथरा! मै न तुमको शिक्षा देने के लिए इतनी बात कही है। मुझे तुम पर किंचित भी क्रोध नही है। सुन्दर मगलदायक शुभ दिन वही हो, जिस दिन तेरा कहना सत्य होगा अर्थात श्री

रामचन्द्र जी का राजतिलक होगा। बड़ा भाई स्वामी और छोटा भाई सेवक होता है, यह सूर्य वंश की सुहानी रीति है। यदि सचमुच कल ही श्रीराम का तिलक है, तो हे सखी ! जो तेरे मन को अच्छा लगे माँग ले, मैं वही दूँगी। राम को सहज स्वभाव से सब माताएँ कौशल्या के समान प्यारी हैं, मुझ पर तो वे विशेष प्रेम करते हैं। मैंने उनकी प्रीति की परीक्षा करके देखली है।

जो विधाता कृपा करके जन्म दे, तो यह भी दें कि राम पुत्र और सीता पुत्र वधू हों। श्रीराम मुझे प्राणों से अधिक प्रिय हैं, उनके तिलक की बात सुनकर तुझे सोच क्यों हो रहा है ?

हे मथरा ! तुझे भरत की शपथ है। तू छल कपट छोड़कर सच-सच कह। तू हर्ष के समय विषाद कर रही है। मुझे इसका कारण सुना।

१—अलंकार—अनुप्रास।

२—अभिलाषा का विवरण है।

एकहि बार आस सब पूजी। अब कछु कहब जीभ करि दूजी॥
फोरै जोगु कपारु अभागा। भलेउ कहत दुख रउरेहि लागा॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहि करुइ मैं माई॥
हमहुँ कहबि अब ठकुर सोहाती। नाहि त मौन रहब दिनु राती॥
करि कुरूप बिधि परबस कीन्हा। बवा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा॥
कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाडि अब होब कि रानी।
जारै जोगु सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥
तातें कछुक बात अनुसारी। छमिअ देवि बड़ि चूक हमारी॥

गूढ़ कपट प्रिय बचन सुनि, तीय अधर बुधि रानि।
सुरमाया बस बैरिनिहि, सुहृद जानि पतिआनि॥१६॥

शब्दार्थ—कपारु=कपाल। रउरेहि=आपको। झूठि-फुरि=सच्ची। ठकुर सोहाती=मुँह देखी। बवा=बोया। लुनिअ=काटती है। करु=मूल। अधर बुद्धि=अस्थिर बुद्धि।

संदर्भ—मथरा के उदासीन पूर्ण वचनों को सुनकर कैकेयी को विश्वास हो जाता है।

व्याख्या—मंथरा ने कहा, मारी आशाएँ तो एक ही बार कहने मे पूरी हो गयी। अब तो दूसरी जीभ लगाकर कहूँगी। मेरा अभागा कपाल तो फोडने ही योग्य है, जो अच्छी बात करने पर भी आपको दुःख होता है। जो झूँठी-सच्ची बातें बनाकर कहते है। हे माई! वे ही तुम्हे प्रिय है और मैं कडवी लगती हूँ। अब मैं भी मुँह देखी कहा करूँगी। नहीं तो दिन-रात चुप रहूँगी।

विधाता ने कुरूप बनाकर मुझे परवश कर दिया। दूसरे का क्या दोष है, जो बोया सो काटती हूँ, दिया सो पाती हूँ। कोई भी राजा हो। हमारी क्या हानि है! दासी छोडकर क्या अब मैं रानी होऊंगी अर्थात रानी तो होने से रही।

हमारा स्वभाव तो जलाने ही योग्य है। क्योंकि तुम्हारा अनहित मुझसे देखा नहीं जाता। इसलिए कुछ बात चलायी थी, किन्तु हे देवि! हमारी बडी भूल हुई, क्षमा करो।

कैकेयी एक तो अस्थिर बुद्धि की, दूसरे देवताओं की माया के वश में थी। अतः मथरा के रहस्ययुक्त, कपट भरे वचनो को सुनकर उसने विश्वास कर लिया। मथरा उसकी शत्रु है, इसको वह न समझ सकी और उसे अपने अत्यन्त हितु जानकर उसका विश्वास कर लिया।

१—अलकार—काकुवक्रोक्ति, अनुप्रास

२—'काउ . रानी' मे उदासीन भाव की सुन्दर व्यजना है।

सादर पुनि पुनि पूँछति ओही। सबरी गान मृगी जनु मोही॥
तसि मति फिरी अहइ जस भावी। रहसी चेरि घात जनु फाबी॥
तुम्ह पूँछहु मैं कहत डराउँ। धरेहु मोर घरफोरी नाऊँ॥
सजि प्रतीति बहुबिधि गढि छोली। अवध साढसाती तब बोली॥
प्रिय सिय रामु कहा तुम्ह रानी। रामहि तुम्ह प्रिय सो फुरि बानी॥
रहा प्रथम अब ते दिन बीते। समउ फिरें रिपु होंहि पिरीते॥
भानु कमल कुल पोसनिहारा। बिनु जल जारि करइ सोइ छारा॥
जरि तुम्हारि चह सवति उखारी। रूँधहु करि उपाउ बर बारी॥

तुम्हहि न सोचु सोहाग बल, निज बस जानहु राउ।
मन मलीन मुँह मीठ नृपु, राउर सरल सुभाउ ॥१७॥

शब्दार्थ—मोही =इससे। सबरी=भीलनी। गान जनु कायी=दाँव लगा जान कर हर्षित हुई। गढ़ि छोली=गढ़कर और बनाकर। साढ़ साती=शनि साढ़े सात वर्ष की दशा रूपी मथरा। फुरि=सत्य। रिपीते=मित्र।

सदर्भ—प्रस्तुत प्रसंग में मथरा ऊँच-नीच समझाकर कैकेयी की बुद्धि हर लेती है।

व्याख्या—कैकेयी मथरा से बारम्बार इस प्रकार पूँछती है मानो भीलनी के गान से हिरनी मोहित हो गई हो। होनहार के वशीभूत होकर उसकी बुद्धि फिर गई। मथरा ने देखा कि उसका दाँव लग गया, इससे वह बहुत प्रसन्न हुई।

मथरा कहती है कि तुम्हारे पूँछने पर मैं कुछ कहते हुए डरती हूँ। क्योंकि तुमने पहले ही मेरा नाम 'घरफोड़ी' रख दिया है। इसके पश्चात् बहुत प्रकार से गढ़ कर बनाकर और दृढ़ विश्वास दिलाकर तब वह अयोध्या की शनि की साढ़ेसात वर्ष की दशा की तरह मथरा बोली।

हे रानी ! तुम्हारा यह कहना सत्य है कि "मुझे सीताराम प्रिय हैं और राम को तुम प्रिय हो। परन्तु यह बात पहले थी, अब तो दिन बीत गये। तुम्हें मालूम हो कि समय फिर जाने पर मित्र भी शत्रु हो जाता है। सूर्य कमल के कुल का पालन करने वाला है। परन्तु बिना जल के सूर्य उसको जलाकर भस्म कर देता है। सौत कौशल्या तुम्हारी जड़ उखाड़ना चाहती है। अतः उपाय रूपी श्रेष्ठ बाढ़ लगातार उसे सुरक्षित कर दो।

तुमको अपने झूठे सुहाग के बल पर कुछ भी सोच नहीं है। तुम राजा को अपने वश में जानती हो' किन्तु राजा मन के मैले और मुँह के मीठे हैं। और तुम्हारा कपट और चतुराई रहित सीधा स्वभाव है।

अलंकार—'सबरी . . . मोही' में उत्प्रेक्षा, मथरा में अवध में साढ़ साती का आरोप होने से रूपक, उपाय में बाढ़ी का आरोप होने से रूपक—दृष्टान्त तथा अनुप्रास।

चतुर गंभीर राम महतारी । बीचु पाइ निज बात सँवारी ॥
पठए भरतु भूप ननिअउरें । राम मातु मत जानव रउरें ॥
सेवहिं सकल सवति मोहि नीकें । गरबित भरत मातु बल पी कें ॥
सालु तुम्हार कौसिलहि माई । कपट चतुर नहिं होइ जनाई ॥
राजहि तुम्ह पर प्रेमु विसेषी । सवति सुभाउ सकइ नहिं देखी ॥
रचि प्रपंचु भूपहि अपनाई । तिलक राम हित लगन धराई ॥
यह कुल उचित राम कहुँ टीका । सबहि सोहाइ मोहि सुठि नीका ॥
आगिलि बात समुझि डरु मोही । देउ दैउ फिरि सो फलु ओही ॥

रचि पचि कोटिक कुटिलपन, कीन्हेसि कपट प्रबोधु ।
कहिसि कथा सत सवति कै, जेहि बिधि बाढ़ बिरोधु ॥१८॥

शब्दार्थ—ननिअउरें=ननिहाल । रउरें=आप ।

संदर्भ—मन्थरा सौतों की कहानियाँ कहकर कैकेयी के मन को फेर देती है ।

व्याख्या—मन्थरा कहती है कि राम की माता बडी चतुर और गम्भीर है । उनकी कोई थाह नहीं पा सकता । उन्होंने अवसर पाकर अपनी बात बना ली है । राम की माता के सलाह से ही राजा ने भरत को ननिहाल भेज दिया है ।

कौशल्या समझाती है कि और सब सौतें तो हमारी भली प्रकार से सेवा करती हैं, किन्तु भरत की माता पति के गर्व से गर्वित होने के कारण ऐसा नहीं करती इसलिए तुम कौशल्या को बहुत खटक रही हो । किन्तु वे कपट करने में बहुत चतुर हैं । अपने भाव को हृदय में छिपाए रहती है ।

राजा का तुम पर विशेष प्रेम है । कौशल्या सौत के स्वभाव के कारण उसे नहीं देख सकती । इसलिए उसने जाल रचकर राजा को अपने वश में करके भरत की अनुपस्थिति में राम के राजतिलक की लग्न का निश्चय करा लिया है ।

यह रघुकुल के लिए उचित ही है कि राम को राजतिलक हो । यह बात सभी को सुहाती है और मुझे भी अच्छी लगती है, परन्तु आगे की चाल सोचकर डर लगता है । देव उलटकर इसका फल कौशल्या ही को दे ।

मे पुत्र-सहित कौशल्या की चाकरी बजाने पर ही रह सकोगी अन्यथा घर मे रहने का दूसरा उपाय नही है।

कद्रु ने विनता को दु.ख दिया था, तुम्हे भी कौशल्या देगी। भरत कारागार की हवा खायेंगे और लक्ष्मण राम के नायब होंगे।

विशेष—

'कद्रु विनतहि ... .. "

पुराणो के अनुसार कश्यप मुनि की कद्रु और विनता नाम की दो स्त्रियाँ थी। इनम से कद्रु के पुत्र सर्प और विनता के गरुड हुए। एक दिन इन दोनो स्त्रियो मे सूर्य के घोडा की पूँछ के रग पर झगडा उठ खडा हुआ। कद्रु कहती थी पूँछ काली है, परन्तु विनता कहती थी कि सफेद है। अन्त मे निर्णय यह हुआ कि दोनो स्त्रियाँ रात मे जाकर घोडे की पूँछ देखें और जिसकी बात गलत हो वही दासी बनकर रहे। कद्रु के बेटे सर्पो ने इस समय बडी चालाकी से काम किया, वे इन दोनो के आने से पहले घोडे की पूँछ से लिपट गये। जिससे वह काली दिखाई देने लगी। फिर क्या था। विनता हार गई, और उसे कद्रु की दासी बनकर रहना पडा। इसी कथा की ओर मन्थरा का सकेत है।

काव्य-सौन्दर्य—

१—अलकार—अनुप्रास, दृष्टान्त, मुहावरो और लोकोक्तियो का काव्यात्मक प्रयोग है।

> कैकयसुता सुनत कटु बानी। कहि न सकइ कछु सहमि सुखानी॥
> तन पसेउ कदली जिमि काँपी। कुबरी दसन जीभ तब चाँपी॥
> कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरजु धरहु प्रबोधिसि रानी॥
> फिरा करमु प्रिय लागि कुचाली। बकहि सराहइ मानि मराली॥
> सुनु मथरा बात फुरि तोरी। दहिनि आँख नित फरकइ मोरी
> दिन प्रति देखउँ राति कुसपने। कहउँ न तोहि मोह बस अपने॥
> काह करौं सखि सूध सुभाऊ। दाहिन बाम न जानउँ काऊ॥
>
> अपने चलत न आजु लगि, अनभल काहुक कीन्ह।
> येहि अघ एकहि बार मोहि, दैह दुसह दुखु दीन्ह॥२०॥

शब्दार्थ—चांपी=दबाली। अवावनि=सच्चा घर। बकहि=बगुली=मराली=हंसिनी। फुरि=सत्य। दैअँ=विधाता।

सन्दर्भ—मन्थरा की बातों को सुनकर कैकेयी को विश्वास हो गया। वह मन्थरा से कहती है—

व्याख्या—कैकेयी मन्थरा की कटवी वाणी सुनते हुए डरकर सूख गई। कुछ बोल नहीं सकी। उसके शरीर में पसीना आ गया और वह केले की तरह काँपने लगी। तब मन्थरा ने अपनी जीभ दांतों के नीचे दबाली। उसे भय हुआ कि कहीं भविष्य का अत्यन्त डरावना चित्र सुनकर कैकेयी के हृदय की गति रुक न जाय, जिससे सारा काम ही बिगड़ जाय। फिर कपट की करोड़ों कहानियाँ कहकर मन्थरा ने रानी को बहुत समझाया और कहा कि धीरज रक्खो।

कैकेयी का भाग्य पलट गया। उसे कुचाल प्यारी लगी। वह बगुली को हंसिनी मानकर अर्थात् वैरिन को हित मानकर उसकी सराहना करने लगी।

कैकेयी ने कहा कि हे मन्थरा तेरी बात सत्य है। मेरी दाहिनी आँख नित्य फड़का करती है। मैं रात दिन बुरे सपने देखती हूं। परन्तु अपने अज्ञानवश तुमसे कुछ नहीं कहती। सखी क्या करूँ। मेरा तो स्वभाव सीधा है। मैं दायाँ-बायाँ कुछ नहीं जानती।

जहाँ तक मेरा बस चला, मैंने आजन्म किसी का बुरा नहीं किया। फिर न जाने किस पाप से दैव ने मुझे एक साथ ही यह दुःसह दुःख दिया।

१—अलंकार—अनुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश, काकुवक्रोक्ति।

२—कंप, वैवर्ण्य आदि सात्विकी भाव है।

नैहर जनमु भरब बरु जाई। जियत न करबि सवति सेवकाई॥
अरि बस दैउ जिआवत जाही। मरनु नीक तेहि जीवन चाही॥
दीन बचन कह बहु विधि रानी। सुनि कुबरीं तियमाया ठानी॥
अस कस कहहु मानि मन ऊना। सुखु सोहागु तुम्ह कहुँ दिन दूना॥
जेहिं राउर अति अनभल ताका। सोइ पाइहि यहु फलु परिपाका॥
जब तें कुमत सुना मैं स्वामिनि। भूख न बासर नींद न जामिनि॥

छेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची॥
भामिनि करहु तो कहौं उपाऊ। है तुम्हारी सेवा बस राऊ॥
परउँ कूप तुअ बचन पर, सकउँ पूत पति त्यागि।
कहसि मोर दुखु देखि बड़, कस न करब हित लागि॥२१॥

शब्दार्थ—ग्लानि=लाचि। परिपाका=परिणाम मे।

संदर्भ—मंथरा प्रस्तुत प्रसंग मे कैकेयी को धैर्य देती हुई उसे कोप-भवन मे जाने की मन्त्रणा देती है।

व्याख्या—कैकेयी कहती है कि मुझे भले ही नैहर जाकर जीवन व्यतीत करना पड़े किन्तु जीते जी मैं सौत की चाकरी नहीं करूँगी। दैव जिसको शत्रु के वश मे रखकर जिलाता है, उसको तो जीने की इच्छा करने से मरना ही अच्छा है। इस प्रकार रानी ने बहुत से दीन वचन कहे। उन्हें सुनकर मथरा ने त्रिया-चरित्र फैलाया, और बोली कि तुम मन मे ग्लानि मानकर ऐसा क्यो कह रही हो। तुम्हारा सुख-सुहाग दिन पर दिन दूना होगा। जिसने तुम्हारी बुराई चाही है, परिणाम मे वही बुरा फल पायेगी।

हे स्वामिनी! मैंने जब से यह कुमन्त्रणा सुनी है। तब से मुझे न तो दिन मे भूख लगती है न रात मे नींद ही आती है। मैंने ज्योतिषियो से पूछा, उन्होंने निश्चय-पूर्वक कहा कि भरत राजा होंगे, यह बात सत्य है। यदि तुम करो तो मैं तुम्हें उपाय बताऊँ। राजा तुम्हारी सेवा के वश मे हैं।

कैकेयी कहती है कि मैं तेरे कहने से कुँए मे गिर सकती हूँ तथा पुत्र और पति को भी छोड़ सकती हूँ। जब तू मेरा बड़ा भारी दुःख देखकर कहती है, तो भला मैं अपने हित के लिए उसे क्यो न करूँगी।

अलंकार—अनुप्रास, छेकानुप्रास, काकुवक्रोक्ति।

कुबरी करि कबुली कैकेई। कपट छुरी उर पाहन टेई॥
लखइ न रानि निकट दुखु कैसें। चरइ हरित तिन बलि पसु जैसे॥
सुनत बात मृदु अंत कठोरी। देति मनहुँ मधु माहुर घोरी॥
कहइ चेरि सुधि अहइ कि नाही। स्वामिनि कहिहु कथा मोहि पाहीं॥
दुइ बरदान भूप सन थाती। मागहु आजु जुड़ावहु छाती॥
सुतहि राजु रामहि बनबासू। देहु लेहु सब सवति हुलासू॥

भूपति राम सपथ जब करई। तब मागेहु जेहिं बचनु न टरई॥
होइ अकाजु आजु निसि बीतें। बचनु मोर प्रिय मानेहु जी तें॥
बड़ कुघातु करि पातकिनि, कहेसि कोपगृहँ जाहु।
काजु सँवारेहु सजग सबु, सहसा जनि पतिआहु॥२२॥

शब्दार्थ—कठुली=बलि, पशु। माहुर=जहर। कुघातु=बुरीघात हुलासू=आनन्द।

संदर्भ—मंथरा कैकेयी को राम की शपथ खाने पर राजा से भरत को राज्य और राम को वनवास माँगने की मंत्रणा देती है और कोप-भवन में जाने को प्रेरित करती है।

व्याख्या—कुबरी मंथरा ने कैकेयी को सब प्रकार से बलि-पशु बनाकर कपट रूपी छुरी को अपने कठोर हृदय रूपी पत्थर पर तेज किया। मानो कैकेयी अपने निकट के दुःख को उसी प्रकार नहीं देखती, जैसे बलि का पशु हरी-हरी घास चरता है, किन्तु वह नहीं जानता कि मृत्यु उसके सिर पर नृत्य कर रही है।

मंथरा की बातें सुनने में तो कोमल हैं, किन्तु उनका परिणाम भयानक है। मानो वह शहद में घोलकर जहर पिला रही हो।

मंथरा कहती है कि हे स्वामिनी! तुमने मुझसे एक कथा कही थी वह तुमको याद है कि नहीं! तुम्हारे दो वरदान राजा के पास धरोहर हैं। आप उन्हें राजा से माँगकर अपना हृदय शीतल करें। भरत को राज्य और राम को वनवास माँगकर सौत का सारा आनन्द छीन लें। जब राजा राम की शपथ खा लें तभी वर माँगना। जिससे वे अपने वचन से पीछे न हटें। आज की रात बीत गई तो सब काम बिगड़ जायगा। मेरी बात प्राणों से भी अधिक प्रिय समझना।

पापिनी मंथरा ने बड़ी बुरी घात लगा कर कहा—कोप-भवन जाओ। सब काम बड़ी सावधानी से बनाना। राजा पर सहसा विश्वास करके उनकी बातों में न आजाना।

अलंकार—'कैकेयी' में 'बलि पशु' 'कपट' में 'छुरी' 'उर' में 'पाहन' का आरोप होने से रूपक। 'लखहूं' जैसे में उदाहरण, 'सुनत कठोरी' में मधु में

माहुर घोलकर देने की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा, '
माहुर' में म वर्ण की एक से अधिक बार आवृत्ति
अनुप्रास और छेकानुप्रास ।

कुवरिहि रानि प्रानप्रिय जानी । बार बार ...
तोहि सम हित न मोर ससारा । बहे जात ...
जौं विधि पुरब मनोरथु काली । करौं तोहि चख ...
बहुविधि चेरिहि आदरु देई । कोपभवन गवनी कैकेई ।।
बिपति बीजु बरषा रितु चेरी । भुइँ भइ कुमति कैकेई केरी ।।
पाइ कपट जलु अकुर जामा । बर दोउ दल दुख फल परिनामा ।
कोप समाजु साजि सबु सोई । राजु करत निज कुमति बिगोई ।।
राउर नगर कोलाहलु होई । यह कुचालि कछु जान न कोई ।।

प्रमुदित पुर नर नारि सब, सजहिं सुमगलचार ।
एक प्रबिसहिं एक निगमहिं, भीर भूप दरबार ।।२३।।

शब्दार्थ—अधार=अवलम्ब । चेरिहि=दासी मथरा ।

सन्दर्भ—इधर अयोध्या पुरी मगल चारों से पूरित हो रही है ...
उधर कैकेयी कोप-भवन में जाती है । प्रस्तुत प्रसग में इस तथ्य का
पल्लवन है ।

व्याख्या—कैकेयी ने मथरा को प्राण प्रिय समझ कर बार-बार उसकी
बुद्धि का बखान करते हुए कहा कि तेरे समान ससार में मेरा अन्य कोई हि[तैषी]
नहीं है । तू मुझ बही जाती को सहारा बन गई । यदि विधाता कल मेर[ा]
मनोरथ पूरा करदे, तो हे सखी, मैं तुझे अपनी आँखों की पुतली बन[ा]
लूँ । इस प्रकार मथरा का बहुत प्रकार से आदर करके कैकेयी कोप-भवन [में]
चली गई ।

कैकेयी की कुबुद्धि भूमि है, और विपत्ति बीज है । उस बी[ज]
को उगाने के लिए दासी मथरा वर्षाऋतु में उसमें कपट रूपी जल पाक[र]
अकुर फूट निकला । कैकेयी द्वारा माँगे जाने वाले दोनो वरदान उस अकुर के
दल हैं और अन्त में इससे दु ख रूपी फल होगा । कैकेयी कोप का सारा स[माज]
बनाकर कोप-भवन में जाकर सो गई । राज्य करती हुई वह अपनी दुष्ट बु[द्धि]

भूपति रा राजमहल और नगर में धूमधाम मच रही थी। परन्तु उस होइ अ कुछ न जानता था।

या पुरी के समस्त स्त्री-पुरुष आनन्दित होकर मंगलाचार में लगे हुए थे। राज द्वार पर बड़ी भीड़ हो रही थी। कोई अन्दर प्रवेश करता और कोई बाहर आता था।

अलंकार—'बार-बार पुनरुक्ति प्रकाश, 'बार तरंगनी। में 'ब' वर्ण, कुमति कली म क, 'दारु दुख' में द, 'समाजु सारु' म म, 'सजहिं सुमंगलचार' में स वर्ण की एक से अधिक बार आवृत्ति होने में वृत्यनुप्रास, 'मुद मई' में न, 'कुचालि कछु' में क, 'नर नारि' में न, 'भीर भूप' में भ, वर्णों की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास। 'नृपति' में 'चौत्रु', 'चैन' म 'वर्षाऋतु', कैकेयी की कुमति में 'भूट', 'कपट' म 'जल' 'दारु दुख' में 'दल' 'दुःख' में 'फल' का आरोप होने से रूपक। कैकयी और म ा ा पश्चात् में वर्षा का अंगो सहित आरोप होने से सांगरूपक।

बाल सखा सुनि हियँ हरषाहीं। मिलि दस पाँच राम पहिं जाहीं॥
प्रभु आदरहिं प्रेम पहिचानी। पूँछहिं कुशल खेम मृदु बानी॥
फिरहिं भवन प्रिय आयसु पाई। करत परसपर राम बड़ाई॥
को रघुबीर सरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा॥
जेहिं जेहिं जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईसु देउ यहु हमहीं॥
सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू॥
अस अभिलाषु नगर सब काहू। कैकयसुता हृदयँ अति दाहू॥
को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई॥
साँझ समय सानंद नृपु, गयउ कैकई गेहँ॥
गवनु निठुरता निकट किय, जनु धरि देह सनेहँ॥ २४॥

शब्दार्थ—ईस=भगवान।

व्याख्या—राम के बाल सखा-वृन्द अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। वे दस-दस पाँच पाँच मिलकर उनके पास आते हैं। राम उनके प्रेम को देखकर उनका सम्मान करते हैं और मृदुल वाणी में कुशल-क्षेम पूछते हैं। वे राम की आज्ञा पाकर और उनकी बड़ाई करते हुए घर को लौटते हैं। वे कहते हैं कि राम के समान

इस संसार में शील और स्नेह का निर्वाह करने वाला दूसरा कौन था। भगवान हमें यही वर दें कि कर्म वश होकर जिस-जिस योनि में जन्म लें, हम सेवक हों, राम हमारे स्वामी हों और वह नाता अन्त तक निभ जाय। नगर वासी सभी ऐसी ही अभिलाषा कर रहे हैं, किन्तु कैकेयी का हृदय जल रहा है। सत्य यह है कि कुसंगति पाकर कौन नष्ट नहीं होता। नीच के मत के अनुसार चलने से चतुराई नहीं रह जाती।

सन्ध्या के समय राजा दशरथ कैकेयी के महल में गये। ऐसा लगता था, मानो साक्षात स्नेह ही शरीर धारण करके निष्ठुरता के समीप गया हो।

१—अलकार—'कैकय चतुराई' में विशेष का सामान्य कथन से समर्थन होने के कारण अर्थान्तरन्यास, 'को नसाई, में काकुवक्रोक्ति साँझ' मनेहुँ में उत्प्रेक्षा।

कोपभवन सुनि सकुचेउ राऊ। भय बस अगहुड परइ न पाऊ॥
सुरपति बसइ बाहुबल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥
सो सुनि तिय रिस गयउ सुखाई। देखहु काम प्रताप बड़ाई॥
सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे॥
सभय नरेसु प्रिया पहिं गयऊ। देखि दसा दुखु दारुन भयऊ॥
भूमि सयन पटु मोट पुराना। दिए डारि तन भूषन नाना।
कुमतहि कसि कुबेषता फाबी। अन अहिवातु सूच जनु भावी।
जाइ निकट नृपु कह मृदु बानी। प्रानप्रिया केहि हेतु रिसानी।
छं०—केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहि नेवारई।
मानहुँ सरोष भुअग भामिनि बिषम भाँति निहारई॥
दोउ बासना रसना दसन बर मरम ठाहरु देखई।
तुलसी नृपति भवतब्यता बस काम कौतुक लेखई॥
सो०—बार बार कह राउ, सुमुखि सुलोचनि पिकबचनि।
कारन मोहि सुनाउ, गजगामिनि निज कोप कर॥ २५॥

शब्दार्थ—अगहुड=आगे को। रतिनाथ=कामदेव। मोट=मोटा कुबेसता=बुरा वेष। फाबी=फब रही है। अन अहिवात=विधवा पन।

संदर्भ—संध्या के समय राजा दशरथ कैकेयी के महल में आते हैं वे उसे कोपभवन में सुनकर सहम जाते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में इसी तथ्य का पल्लवन है।

व्याख्या—कैकेयी को कोपभवन में सुनकर राजा सहम गये। डर के मारे उनके पाँव आगे को नहीं पड़ते थे। स्वयं देवराज इन्द्र जिनकी भुजाओं के बल से निर्भय होकर रहते हैं और सम्पूर्ण राजा लोग जिनका रुख देखते हैं। वही राजा दशरथ स्त्री का क्रोध सुनकर सूख गये। देखो काम का प्रताप, और महिमा कितनी प्रबल है। जो त्रिशूल वज्र आदि के कष्ट अपने अंगों पर सहन वाले हैं। उनको कामदेव के बाणों ने घायल सा कर दिया। राजा डरते-डरते अपनी प्यारी कैकयी के पास गये। उसकी दशा देखकर उन्हें दारुण दुःख हुआ। वह भूमि पर पड़ी हुई है। पुराना मोटा कपड़ा पहने हुए है और शरीर के नाना आभूषण उतार कर फेंक दिये है। इस दुर्बुद्धि कैकयी का वेश ऐसा लग रहा है, मानो उसके भावी विधवापन की सूचना दे रहा है। राजा उसके पास जाकर बोले कि प्राणप्रिये! किसलिए रूठी हुई हो।

अलंकार—'दीन' 'दारुन' में द वर्ण की एक से अधिक बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास, 'कुमतिहि ... भावी' में उत्प्रेक्षा।

केहि हेतु .... कोप कर।

शब्दार्थ—रिसाई=रूठ रही है। सरोष=क्रोध पूर्ण। भुजग-भामिनि=नागिन। बिलो..ति=क्रूर दृष्टि। परम ठाहर=मर्म स्थान। भावनस्वना=होनहार। प्रिय बचनि=कोमिल वचनी।

संदर्भ—राजा दशरथ अनुनय करते हुए कैकेयी से कोप करने का कारण पूछ रहे हैं।

व्याख्या—हे रानी! किस लिए रूठी हो? यह कहकर राजा कैकेयी के हाथ का स्पर्श करते हैं। वह उनके हाथ को झटक कर हटा देती है और इस प्रकार देखती है, मानो नागिन क्रूर दृष्टि से देख रही हो। दोनों वरदानों की कामनाएँ उस नागिन की दो जीभें हैं और दोनों वरदान दाँत हैं। वह काटने के लिए मर्मस्थल देख रही है। तुलसीदास कहते हैं कि राजा दशरथ होनहार

के वश मे होकर इस प्रकार हाथ झटकने और नागिन की भाँति देखने को भी कामदेव की क्रीडा ही समझ रहे हैं।

राजा बारम्बार कह रहे हैं—हे सुमुखि! हे सुलोचनी! हे कोकिल वचनी! हे गज गामिनी! मुझे अपने क्रोध का कारण तो बताओ।

अलंकार—परमत ' पतिहि मे प वर्ण। 'बामना रसना' मे न वर्ण की एक से अधिक बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास 'रानि रिसानि' म र 'भुजग ''भामिनि' भ, 'काम कौतुक' मे क, 'सुमुखि ' सुलोचनि' स वर्ण की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास, कैकेयी के कोप से देखने मे क्रोध भरी नागिन के देखने की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा। 'बार-बार' मे 'पुनरुक्ति' प्रकाश कैकेयी का कई विशेषणो से युक्त वर्णन मे उल्लेख।

अनहित तोर प्रिया केइँ कीन्हा। केहि दुइ सिर केहि जमु चह लीन्हा
कहु केहि रकहि करौं नरेसू। कहु केहि नृपहि निकासौं देसू॥
सकउँ तोर अरि अमरउ मारी। काह कीट बपुरे नर नारी।
जानसि मोर सुभाउ बरोरू। मनु तव आनन चद चकोरू॥
प्रिया प्रान सुत सरवसु मोरें। परिजन प्रजा सकल बस तोरें॥
जौं कछु कहौं कपटु करि तोही। भामिनि राम सपथ सत मोही॥
बिहसि मागु मनभावति बाता। भूषन सजहि मनोहर गाता॥
घरी कुघरी समुझि जियँ देखू। बेगि प्रिया परिहरहि कुबेषू॥
दो०–यह सुनि मन गुनि सपथ बडि, बिहसि उठी मतिमद।
भूषन सजति बिलोकि मृगु, मनहुँ किरातिनि फद॥२६॥

शब्दार्थ—केहि दुइ सिर=कौन ऐसा प्रबल है। केहि जम चह लीन्हा= किसी की मृत्यु आ गई। अमरउ=देवता। बपुरे=बेचारे। किरातनि= भीलनी।

सदर्भ—राजा दशरथ राम की शपथ खाकर कैकेयी को वरदान देने को कहते है—

व्याख्या—हे प्रिय! तुम्हारा अनिष्ट किसने किया है? कौन ऐसा प्रबल है जिसकी मृत्यु समीप आ गई है। बताओ मैं किस कंगाल को राजा कर दूँ! और किस राजा को देश से निकाल दूँ। यदि तेरा शत्रु देवता भी हो तो भी

, मार सकता हूँ। वे सारे कीड़े-मकोड़े के समान नर-नारी तो चीज ही है। हे सुन्दरि ! तुम मेरा स्वभाव जानती ही हो कि मेरा हृदय तुम्हारे मुखचन्द्र का चकोर है।

हे प्रिय ! मेरी प्रजा, कुटुम्बीजन, सम्पत्ति, पुत्र यहाँ तक कि मेरे प्राण सब तुम्हारे अधीन हैं ! यदि मैं तुमसे कुछ कपट करके कहता होऊँ तो हे भामिनी ! मुझे सौ बार राम की शपथ है। इसलिए तुम प्रसन्नता-पूर्वक मन चाही बात माँग लो और अपने मनोहर अंगों को आभूषणों से सजाओ। देखो, यह अवसर इस प्रकार दुःख करने और रूठने का नहीं है। अतः समय-असमय को देखकर अपने मलीन वेष को छोड़ दो।

यह सुनकर और रामचन्द्र जी की बड़ी सौगन्ध का विचार कर मन्दबुद्धि कैकेयी हँसती हुई उठी और आभूषण पहनने लगी मानो भीलनी मृग को देखकर फन्दा तैयार कर रही हो।

१—अलंकार—काकुवक्रोक्ति, छेकानुप्रास। "मन ! चकोर" में रूपक, "यह मानि फंद" में उत्प्रेक्षा।

२—विशेष—स्त्री के वशीभूत वृद्ध पुरुष की दशा का मनोवैज्ञानिक निरूपण है।

पुनि कह राउ सुहृद जियँ जानी। प्रेम पुलकि मृदु मंजुल बानी॥
भामिनि भयउ तोर मनभावा। घर घर नगर अनंद बधावा॥
रामहि देउँ कालि जुबराजू। सजहि सुलोचनि मंगल साजू॥
दलकि उठेउ सुनि हृदउ कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू॥
ऐसिउ पीर बिहसि तेहिं गोई। चोर नारि जिमि प्रगटि न रोई॥
लखहिं न भूप कपट चतुराई। कोटि कुटिल मनि गुरुइ पढ़ाई॥
जद्यपि नीति निपुन नरनाहू। नारि चरित जलनिधि अवगाहू॥
कपट सनेहु बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन मुहु मोरी॥
दो०—मागु मागु पै कहहु पिय कबहुँ न देहु न लेहु।
देन कहेहु बरदान दुइ तेउ पावत संदेहु॥२७॥

शब्दार्थ—दलकि उठेउ=फटने लगा। पाक बरतोर=पका बाल तोड़ फोड़ा)। मनि=शिरोमणि।

व्याख्या—अपने मन मे कैकेयी को सुहृदय जानकर राजा दशरथ प्रेम मे पुलकित होकर कोमल और सुन्दर वाणी मे बोले कि हे भामिनि तेरा मनचाहा हो गया। आज नगर मे घर-घर आनन्द-बधावे बज रहे हैं। मैं कल ही राम को युवराज पद दे रहा हूँ। इसलिए हे सुनयनी ! तू मगला साज। यह सुनते ही उसका कठोर हृदय इस प्रकार फटने लगा, मानो पका हुआ बालतोड फोडा छू गया हो। ऐसी भारी पीडा को भी उसने हँसकर छिपा लिया जैसे भेद खुल जाने के भय से चोर की स्त्री प्रकट होकर नही रोती। राजा उसकी कपट-चतुराई को नही समझ रहे थे। क्योंकि वह करोडो कुटिलो की शिरोमणि मथरा की पढाई हुई थी।

यद्यपि राजा नीति मे निपुण हैं, परन्तु त्रिया-चरित्र तो अथाह समुद्र है। कैकेयी कपटमय होकर और ऊपर से प्रेम दिखाकर नेत्र और मुँह मोडकर हँसती हुई बोली।

हे प्रियतम ! आप माँगो-माँगो तो कहते हो, परन्तु देते-लेते कुछ नही हो। आपने दो वरदान देने को कहा था, उनके भी तो पाने मे सन्देह है।

अलकार—छेकानुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश 'पलकि बरतोस' मे उत्प्रेक्षा, "ऐसिउ 'रोई' मे दृष्टान्त, 'नारिचरित्र' मे 'जलनिधि अवगाहू' का आरोप होने से रूपक

जानेउँ मरमु राउ हँसि कहई। तुम्हहि कोहाब परम प्रिय अहई॥
थाती राखि न माँगिहु काऊ। बिसरि गयउ मोहि भोर सुभाऊ॥
झूठेउ हमहि दोसु जनि देहू। दुइ कै चारि मागि मकु लेहू॥
रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई॥
नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥
सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाए।
तेहु पर राम सपथ करि आई। सुकृत सनेह अवधि रघुराई॥
बात दृढाइ कुमति हँसि बोली। कुमति कुबिहग कुलह जनु खोली॥

भूप मनोरथ सुभग बनु, सुख सुबिहग समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाडन चहति, बचनु भयकर बाजु॥२८॥

इस चौपाई का प्रयोग भारतीय समाज मे वेद वाक्य की तरह सूक्ति के रूप मे होता है।

सुनहु प्रानप्रिय भावत जी का। देहु एक बार भरतहि टीका॥
मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी॥
तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस रामु बनबासी॥
सुनि मृदु बचन भूप हियँ सोकू। ससि कर छुअत बिकल जिमि कोकू॥
गयउ सहमि नहि कछु कहि आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा॥
बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥
माथें हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन॥
मोर मनोरथु सुरतरु फूला। फरत करिनि जिमि हतेउ समूला॥
अवध उजारि कान्हि कैकेई। दीन्हिसि अचल बिपति कै नेई॥
दो०-कवनें अवसर का भयउ, गयउँ नारि बिस्वास।
जोग सिद्धि फल समय जिमि, जतिहि अविद्या नास॥ २९॥

शब्दार्थ—भावत=भाने वाला। ससिकर=चन्द्रमा की किरणे। छुअत=स्पर्श करते ही। कोकू=चकवा। सचान=बाज। बिबरन भएउ=रंग पीला पड गया। निपट=बिल्कुल। तालू=ताड। दामिनी=बिजली। फरत=फलते समय। नेई=नीव।

सदर्भ—प्रस्तुत प्रसग मे गोस्वामी तुलसीदास कैकयी के द्वारा राम को वन गमन और भरत को राजतिलक माँगने पर राजा दशरथ की दयनीय दशा का वर्णन कर रहे हैं—

व्याख्या—कैकेयी कहती है कि हे प्राण प्यारे मन को भाने वाले ये वरदान दीजिए। पहले वर से मेरे पुत्र भरत को राजतिलक दीजिए और दूसरे मैं हाथ जोडकर यह मांगती हू कि तपसियो के वेश मे विशेष उदासीन भाव से राम चौदह वर्ष तक वन मे निवास करे। आप मेरा यह मनोरथ पूरा कीजिए। कैकेयी के कोमल वचनो को सुनकर राजा के हृदय मे ऐसा शोक हुआ, जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणो के स्पर्श से ही चकवा विकल हो जाता है।

राजा सहम गये, उनसे कुछ कहते न बना, मानो बाज वन मे बटेर पर झपटा हो। राजा का रंग बिल्कुल उड गया, मानो ताड के पेड को बिजली

मार गई हो। जैसे ताड के पेड पर बिजली गिरने से झुलस कर उनका रंग बदरंग हो जाता है, उसी प्रकार राजा की दयनीय दशा हो गई।

राजा माथे पर हाथ रखकर और दोनों नेत्र मूँदकर इस प्रकार सोच करने लगे, मानो साक्षात् सोच ही शरीर धारण करके सोच रहा हो। वे सोचते हैं, हाय! मेरा मनोरथ रूपी कल्पवृक्ष फूल चुका था। परन्तु फरेब से कैकेयी ने हथिनी की तरह उसे जड समेत उखाड करके नष्ट कर डाला है, कैकेयी ने अयोध्या को उजाड दिया और विपत्ति की अचल नींव डाल दी।

किस अवसर पर क्या हो गया। स्त्री का विश्वास करने से वैसे ही हो गया जैसे योग के सिद्धि रूपी फल मिलने के समय योगी की अविद्या नष्ट हो जाती है।

१—अलंकार—भूप के हृदय के शोक की समानता चन्द्रकिरण के स्पर्श से दुखी चकवा से होने से उपमा। राजा के 'सहमनें' मे 'लावा' 'बाज' के झपटने की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा 'विवरन नरपालू' मे 'दामिनि तालू' की सम्भावना होने से उपमा। राजा के सोचने मे साक्षात सोच ही के सोचने की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा 'मनोरथ मे सुरतरु फूला' का आरोप होने से रूपक 'कबने नासं' मे दृष्टान्त यत्र तत्र अनुप्रास है।

२— शान, वप, वैवर्ण्य की दशा का चित्रण है।

विशेष—"सुनहु वनवासी" मे कैकेयी की राजनीतिक सूझ है। राम के अयोध्या मे रहने से उसे विद्रोह की शंका रही होगी, क्योंकि राम प्रजा मे बहुत प्रिय थे। नीति मे भी कहा गया —

"जाकी धन धरती हरी, ताहि न रखिये संग।"

ऐहि बिधि राउ मनहि मन झाँखा। देखि कुभाँति कुमति मन माखा॥
भरतु कि राउर पूत न होही। आनेहु मोल बेसाहि कि मोही॥
जो सुनि सरु अस लाग तुम्हारें। काहे न बोलहु बचनु सँभारें॥
देहु उतरु अनु करहु कि नाहीं। सत्यसंध तुम्ह रघुकुल माहीं॥
देन कहेहु अब जनि बरु देहू। तजहु सत्य जग अपजसु लेहू॥
सत्य सराहि कहेहु बरु देना। जानेहु लेइहि माँगि चबेना॥

सिवि दधीचि बलि जो कछु भाषा। तनु धनु तजेउ बचन पनु राखा ॥
अति कटु बचन कहति कैकई। मानहुँ लोन जरे पर देई ॥
दो०-धरम धुरंधर धीर धरि, नयन उघारे रायँ।
सिरु धुनि लीन्ह उसास असि, मारेसि मोहि कुठायँ ॥३०॥

शब्दार्थ—झाँखा=झीख रहे। कुभाँति=बुरा हाल। कुमति=दुर्बुद्धि, कैकेयी। माखा=क्रोधित हुई। मोल=दाम देकर। वेसाहि=खरीद कर। आनहु · · ·मोहि=क्या मुझे दाम देकर खरीदकर लाये हो, क्या मैं तुम्हारी विवाहिता नही हूं। सरु=वाण।

व्याख्या—राजा मन ही मन मे झीख रहे थे और राजा की बुरी दशा देखकर कैकेयी मन मे बुरी तरह क्रोधित हो रही थी। वह कहती है कि क्या भरत आपके पुत्र नही हैं, क्या आप मुझे खरीदकर लाये हैं, क्या मैं आपकी विवाहिता नही हूँ ? जो मेरे वचन तुम्हे वाण के समान लगते हैं। आपको सोच समझ कर बात करनी चाहिए थी। उत्तर दीजिए—हाँ कीजिए अथवा ना ही कर दीजिए। आप रघुकुल मे सत्य प्रतिज्ञा वाले प्रसिद्ध हैं। आपने ही वरदान देने को कहा था। अब मत दीजिए। इस प्रकार सत्य को छोडकर अपयश के भागी बनिए। आपने सत्य की सरहना करके वरदान देने को कहा था। समझा होगा कि यह चबेना माँग लेगी।

राजा शिवि, दधीचि और वलि ने जो कुछ कहा, शरीर और धन को त्याग कर भी उन्होने अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा की। कैकेयी अत्यन्त कटु शब्द कहती हुई मानो जले पर नमक छिटक रही थी।

धरम की धुरी धारण करने वाले राजा दशरथ ने धीरज धरकर नेत्र खोले और सिर पीटकर तथा लम्बी साँस लेकर कहा कि इसने मुझे कुठौर मारा। मेरे लिए ऐसी कठिन परिस्थित उत्पन्न करदी, जिससे निकल सकना असम्भव है।

अलंकार—काकुवक्रोक्ति, उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, छेकानुप्रास।

आगें दीखि जरत रिस भारी। मनहुँ रोष तरवारि उघारी ॥
मूठि कुबुद्धि धार निठुराई। धरी कूबरीं सान बनाई ॥

लखी महीप कराल कठोरा। सत्य कि जीवनु लेइहि मोरा।
बोले राउ कठिन करि छाती। बानी सबिनय तासु सोहाती।
प्रिया बचन कस कहसि कुभाँती। भीर प्रतीति प्रीति करि हाँती।
मोरें भरतु राम दुइ आँखी। सत्य कहउँ करि संकरु साखी।
अवसि दूत मैं पठइब प्राता। ऐहहिं बेगि सुनत दोउ भ्राता।
सुदिन सोधि सबु साज सजाई। देउँ भरत कहुँ राजु बजाई।
दो०—लोभु न रामहि राजु कर बहुत भरत पर प्रीति।
मैं बड़ छोट बिचारि जियँ करत रहेउँ नृपनीति ॥३१॥

शब्दार्थ—कुभाँती=बेढंग। हाँती=नष्ट करके।

व्याख्या—राजा दशरथ को प्रचण्ड क्रोध से जलती हुई कैकेयी इस प्रकार लगी मानो क्रोध रूपी तलवार म्यान से निकलकर नंगी होकर खड़ी हो। कुबुद्धि उस तलवार की मूठ है। निष्ठुरता धार है और वह मंथरा रूपी सान पर रखकर तेज हुई है। राजा को वह तलवार रूपी कैकेयी बड़ी भयानक दिखाई दी। वे सोचने लगे कि क्या यह सत्य ही मेरा जीवन लेगी। राजा कठोर हृदय करके अच्छी लगने वाली वाणी में बोले कि हे प्रिये! विश्वास और प्रीति को नष्ट कर ऐसे बुरी तरह के वचन क्यों कह रही हो। मैं शंकर की सत्य शपथ खाकर कहता हूँ कि राम भरत तो मेरे नेत्र हैं। मैं अवश्य ही सवेरे भरत की ननिहाल को दूत भेजूँगा। मेरा बुलावा सुनकर भरत और शत्रुघ्न दोनों बन्धु शीघ्र ही आ जायेंगे। मैं अच्छा दिन शोधवाकर तथा सब तैयारी करके डंका बजाकर भरत को राज्य दूँगा।

राम को राज्य का कोई लोभ नहीं है, उन्हें भरत बहुत प्रिय है। मैं ही अपने मन में बड़े-छोटे का विचार करके राजनीति का पालन करता रहा।

अलंकार—वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, उत्प्रेक्षा, रूपक।

राम सपथ सत कहउँ सुभाऊ। राममातु कछु कहेउ न काऊ॥
मैं सबु कीन्ह तोहि बिनु पूँछें। तेहि तें परेउ मनोरथु छूछें॥
रिस परिहरु अब मंगल साजू। कछु दिन गएँ भरत जुबराजू॥
एकहि बात मोहि दुखु लागा। बर दूसर असमंजस मागा॥

सोहीं ॥
अजहूँ हृदय जरत तेहि आँचा। रिस परिहास कि साँचेहु साँचा॥
कहु तजि रोषु राम अपराधू। सबु कोउ कहइ रामु सुठि साधू॥
तुहूँ सराहसि करसि सनेहू। अब सुनि मोहि भयउ संदेहू॥
जासु सुभाउ अरिहि अनुकूला। सो किमि करिहि मातु प्रतिकूला॥
दो०—प्रिया हास रिस परिहरि, मागु विचारि विवेकु।
जेहि देखौं अब नयन भरि, भरत राज अभिषेकु ॥३२॥

शब्दार्थ—छूछें=खाली। असमंजस=अड़चन।

व्याख्या—राजा दशरथ कैकेयी से अनुनय-विनय करते हुए कहते है कि मुझे राम की शपथ है, यदि राम की माता ने मुझसे कुछ कहा हो। मेरा मनोरथ इसलिए खाली गया है कि मैंने सब कुछ तुमसे बिना पूछे किया है। क्रोध को छोड-कर अब मगल सजाओ। कुछ दिन के पश्चात् भरत को युवराज पद अवश्य दे दूँगा। मुझे एक ही बात का दुःख है कि दूसरा वर बडी अड़चन का है। उसकी आँच से हृदय अब भी जल रहा है। यह हँसी मे है, क्रोध मे है अथवा सचमुच ही सच्चा है। क्रोध को छोड़ कर यह बता कि राम का अपराध क्या है। राम को तो सभी साधु कहते हैं। तुम स्वय उनकी सराहना करती हुई उनपर प्रेम करती थी। जिसका स्वभाव शत्रु को भी अनुकूल है वह माता के विपरीत आचरण किस प्रकार कर सकता है।

हे प्रिये! हँसी और क्रोध छोडकर तथा उचित अनुचित विचार कर माँगो जिससे अब मे नेत्र भरकर भरत का राज्याभिषेक देख सकूँ।

अलकार—वृत्यनुप्रास, विनोक्ति, सन्देह।

जिऐ मीन बरु बारि विहीना। मनि बिनु फनिकु जिऐ दुख दीना॥
कहउँ सुभाउ न छलु मन माहीं। जीवनु मोर राम बिनु नाहीं॥
समुझि देखु जियँ प्रिया प्रबीना। जीवनु राम दरस आधीना॥
सुनि मृदु बचन कुमति अति जरई। मनहुँ अनल आहुति घृत परई॥
कहइ करहु किन कोटि उपाया। इहाँ न लागिहि राउरि माया॥
देहु कि लेहि अजसु करि नाहीं। मोहि न बहुत प्रपंच सोहाहीं॥
राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राममातु भलि सब पहिचाने॥
जस कौसिलाँ मोर भल ताका। तस फलु उन्हहि देउँ करि साका॥

दो०-होत प्रातु मुनिवेष धरि, जौं न रामु बन जाहिं ।
मोर मरनु राउर अजस नृप समुझिअ मन माहिं ॥३३॥

शब्दार्थ—माया=चालबाजी । प्रपच=बखेड़ा । साका करना=याद रखने योग्य ।

व्याख्या—राजा दशरथ कहते है कि मछली चाहे पानी के बिना जीवित भले ही रहे और मणि के बिना चाहे साँप भी दीन दुखी बनाकर जीता रहे, किन्तु निश्चय भाव से कहता हूँ कि राम के बिना मेरा जीवन नहीं है । हे चतुर प्रिये! मन में समझकर देखलो कि मेरा जीवन राम के दर्शन पर आधारित है ।

राजा के कोमल वचनों को सुनकर दुर्बुद्धि कैकेयी अत्यन्त जल रही है । मानो अग्नि में घी की आहुतियाँ पड रही हो । कैकेयी कहती है कि चाहे तुम करोडो उपाय करो किन्तु यहाँ तुम्हारी चालबाजी नहीं चलेगी । अत. या तो माँगे हुए वरदान दीजिए या मना कर दीजिए । मुझे बखेड़े नहीं सुहा रहे हैं । राम साधु हैं, आप सयाने साधु हैं और राम की माता भी भली है, मैंने सबको पहचान लिया है । कौशल्या ने जैसा मेरा भला चाहा है, मैं भी याद करके उन्हें वैसा ही फल दूँगी ।

आगे कैकेई दृढ होकर कहती है कि यदि सवेरा होते ही राम मुनि वेश धारण करके वन को नहीं जाते, तो समझ लीजिए कि निश्चय ही मेरा मरण और आपका अपयश होगा ।

अलकार—विनोक्ति, जिए नाहीं ? युक्ति द्वारा समर्थन होने से काव्यलिंग, 'मुनि · परई' में उत्प्रेक्षा, राम साधु पहिचाने मे 'काकुवक्रोक्ति' (यहाँ यह अर्थ है कि तुम सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हो)

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी । मानहुँ रोष तरंगिनि बाढ़ी ॥
पाप पहार प्रगट भइ सोई । भरी क्रोध जल जाइ न जोई ॥
दोउ वर कूल कठिन हठ धारा । भँवर कूबरी बचन प्रचारा ॥
ढाहत भूप रूप तरु मूला । चली बिपति बारिधि अनुकूला ॥
लखी नरेस बात फुरि साँची । तिय मिस मीचु सीस पर नाची ॥
गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी । जनि दिनकर कुल होसि कुठारी ॥

मागु माथ अबहीं देउँ तोही। राम विरहँ जनि मारसि मोही।
राखु राम कहुँ जेहि तेहि भाँती। नाहिं त जरिहि जनम भरि छाती।।
दो०—देखी ब्याधि असाध नृपु, परेउ धरनि धुनि माथ।।
कहत परम आरत बचन, राम राम रघुनाथ।।३४।।

शब्दार्थ—रोष तरंगिनि=क्रोध की नदी। जाइ न जोई=देखी नही जाती। फुरि=सचमुच। ब्याधि=रोग।

अस कहि ··· ·· ··· ··· ·· ·····कुठारी। (m. Ipm.)

संदर्भ—कैकेयी की दृढता और भयंकरता से राजा को निश्चय हो जात है कि वह कुछ करके ही रहेगी। प्रस्तुत प्रसग मे गोस्वामी तुलसीदास कैकेयी के इसी उग्र रूप का वर्णन रहे हैं।

व्याख्या—कैकेयी अपना दृढ निश्चय—यदि राम सवेरे ही मुनिवेश धारण करके वन को नही गये, तो वह प्राण त्यागन कर देगी—प्रकट करके खडी हो जाती है। वह कुटिल खडी हुई ऐसी लगती है मानो क्रोध की नदी ही उमड पडी हो। वह नदी पाप रूपी पहाड से प्रकट हुई है और क्रोध रूपी जल से भरी हुई है और ऐसी भयानक है कि देखी नही जाती। दोनो वरदान उस नदी के दोनो किनारे हैं। कैकयी का कठिन हठ ही उसकी धारा है और मथरा के वचनो की प्रेरणा ही भँवर है। वह क्रोध रूपी नदी राजा दशरथ रूपी वृक्ष को जड-मूल से ढहाती हुई विपत्ति रूपी समुद्र की ओर सीधी चली आ रही है।

अलंकार—क्रोध से भरी कैकेयी मे उमडती हुई नदी का अगो-सहित आरोप होने से सांग रूपक 'पाप' मे 'पहार' 'क्रोध' मे 'जल' दोनो 'वरदान मे 'कूल' 'हठ' मे 'धारा' मथरा के वचनो मे भवर, 'दशरथ' मे 'तरु' 'विपत्ति मे वारिध का आरोप है। असकहि ··· ·····ठाढी" मे "मानहुँ···· ·· 'बाढी" की संभावना होने से उत्प्रेक्षा।

लखी ' ···· ··· ··· ······ रघुनाथ।।

व्याख्या—राजा को कैकेयी की सारी बात सत्य प्रतीत हुई। उन्हे दिखाई दिया जैसे उसके रूप मे मृत्यु ही उनके शीश पर नाच रही हो। उन्होने कैकेयी को चरण पकडकर बिठा लिया और विनय करते हुए कहा कि तू सूर्यकुल-वृक्ष

के लिए कुल्हाड़ी न बनो। तुम मेरा मस्तक माँग लो, मैं अभी दे दूँगा; लेकिन राम के वियोग में तड़पाकर न मारो। जिस प्रकार हो सके राम को रख लो, नहीं तो जीवन भर मेरा हृदय जलता रहेगा। राजा ने देखा कि रोग असाध्य है, तब वे अत्यन्त आर्तवाणी से, हा राम ! हा राम ! हा रघुनाथ कहते हुए सिर पीटकर पृथ्वी पर गिर पड़े।

अलंकार—'तिय मिस' में कैतवापन्हुति, रूपक, छेकानुप्रास, वीप्सा।

ब्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता॥
कंठु सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीनु दीन बिनु पानी॥
पुनि कह कटु कठोर कैकेई। मनहुँ घाय महुँ माहुर देई॥
जौं अंतहुँ अस करतबु रहेऊ। मागु मागु तुम्ह केहिं बल कहेऊ॥
दुइ कि होइ एक समय भुआला। हँसब ठठाइ फुलाउब गाला॥
दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम कुसल रौताई॥
छाड़हु बचनु कि धीरजु धरहू। जनि अबला जिमि करुना करहू॥
तनु तिय तनय धामु धनु धरनी। सत्यसंध कहुँ तृन सम बरनी॥
दो०—मरम बचन सुनि राउ कह, कहु कछु दोषु न तोर।
लागेउ तोहि पिसाच जिमि, कालु कहावत मोर॥३५॥

शब्दार्थ—करिनि=हथिनी ने। पाठीनु=पहिना नामक मछली। माहुर=जहर। ठठाइ=ठहाका मारकर।

व्याख्या—राजा व्याकुल हो गये। उनका सारा शरीर शिथिल हो गया। मानो हथिनी ने कल्पवृक्ष को उखाड़ फेंका हो। राजा का कंठ सूख गया। उनके मुख से बात नहीं निकलती थी, उनकी दशा पानी के अभाव में तड़पती हुई मछली के समान हो रही थी।

कैकेयी फिर कटु वचन बोली, मानो वह घाव में जहर भर देती हो। वह कहती है कि यदि अन्त में ऐसा ही करना था तो माँगो-माँगो किस बल पर कहा था। हे राजा ठहाका मार कर हँसना गाल फुलाना एक साथ नहीं हो सकता। इसी प्रकार दानी कहाना और कंजूसी करना भी एक साथ नहीं निभ सकता। तथा ऐसा भी कभी नहीं हो सकता कि युद्ध में बहुत बहादुरी भी दिखावे और कहीं चोट भी न लगे। इसलिए या तो वचन ही छोड़ दीजिए या धैर्य धारण

कीजिए, अब असहाय की तरह रोने-पीटने से काम न चलेगा। सत्यवती के लिए तो शरीर, स्त्री, पुत्र, घर, धन पृथ्वी सब तिनके के समान कहे गये है।

कैकेयी के मर्म भरे वचन सुनकर राजा ने कहा कि तू चाहे जो कह, तेरा कुछ भी दोष नही है। मेरा काल तुझे मानो पिशाच होकर लग गया है, वही तुमसे यह सब कहला रहा है।

अलंकर—उत्प्रेक्षा, वृत्यनुप्रास, उपमा।

चहत न भरत भूपतहि भोरें। बिधि बस कुमति बसी जिय तोरें॥
सो सबु मोर पाप परिनामू। भयउ कुठाहर जेहिं बिधि बामू॥
सुबस बसिहि फिर अवध सुहाई। सब गुन धाम राम प्रभुताई॥
करिहहि भाइ सकल सेवकाई। होइहि तिहुँ पुर राम बडाई॥
तोर कलंकु मोर पछिताऊ। मुएहुँ न मिटिहि न जाइहि काऊ॥
अब तोहि नीक लाग करु सोई। लोचन ओट बैठु मुहु गोई॥
जब लगि जिओं कहउँ कर जोरी। तब लगि जनि कछु कहसि बहोरी॥
फिरि पछितैहसि अंत अभागी। मारसि गाइ नहारु लागी॥

परेउ राउ कहि कोटि बिधि, काहे करसि निदानु।
कपट सयानि न कहति कछु, जागति मनहुँ मसानु॥३६॥

शब्दार्थ—भोरें=भूलकर। कुठाहर=कुसमय। सुबस=भली भांति। मुएहुँ=मरने पर भी। काऊ=किसी प्रकार। नाहरू=तांत। निदानु=सर्वनाश।

व्याख्या—भरत तो भूल कर भी राज्यपद नही चाहते। होनी वश तेरे जी मे यह कुमति आ गई है। यह सब मेरे पापो का परिणाम है, जिससे कुसमय मे विधाता विपरीत हो गया। तेरी उजाडी हुई सुन्दर अयोध्या फिर भली भांति बसेगी और समस्त गुणो के धाम रामचन्द्र की प्रभुता होगी। सारे भाई राम की सेवा करेंगे और तीनो लोको मे श्री राम की बडाई होगी। केवल तेरा कलंक और मेरा पछतावा मरने पर भी न मिटेगा। अब जो तुझे अच्छा लगे कर और मेरे सामने से हट जा। मैं हाथ जोडकर कहता हूँ कि जब तक मै जीवित रहूँ तू मुझसे न बोलना। अरे अभागिनी तू अन्त मे पछतायेगी। तू तांत के लिए गाय को मार रही है।

राजा बहुत प्रकार से समझाकर कि तू क्यों सर्वनाश कर रही है, पृथ्वी पर गिर पड़े, परन्तु कपट-चतुर कैकेयी कुछ नहीं बोली, मानो मौन होकर वह मसान जगा रही हो।

अलंकार—छेकानुप्रास, उत्प्रेक्षा।

राम राम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू॥
हृदयँ मनाव भोरु जनि होई। रामहि जाइ कहै जनि कोई॥
उदय करहु जनि रबि रघुकुलगुर। अवध बिलोकि सूल होइहि उर॥
भूप प्रीति कैकइ कठिनाई। उभय अवधि बिधि रची बनाई॥
बिलपत नृपहि भयउ भिनुसारा। बीना बेनु संख धुनि द्वारा॥
पढ़हिं भाट गुन गावहिं गायक। सुनत नृपहि जनु लागहिं सायक॥
मंगल सकल सोहाहिं न कैसें। सहगामिनिहि बिभूषन जैसें॥
तेहिं निसि नीद परी नहि काहू। राम दरस लालसा उछाहू॥
दो०—द्वार भीर सेवक सचिव, कहहिं उदित रबि देखि।
जागेउ अजहुँ न अवधपति, कारनु कवनु बिसेषि॥३७॥

शब्दार्थ—सूल=पीड़ा। सहगामिनिहि=पति के साथ सती होने वाली स्त्री।

व्याख्या—राजा राम-राम रटते हुए ऐसे व्याकुल है जैसे कोई पक्षी पंख के बिना बेहाल हो। वे अपने हृदय में मनाते हैं कि सवेरा न हो, और कोई जाकर श्रीरामचन्द्र जी से यह बात न कहे। हे रघुकुल के गुरु सूर्य भगवान्! आप अपना उदय न करें। अयोध्या को बेहाल देखकर आपके हृदय में बड़ी पीड़ा होगी। राजा की प्रीति और कैकेयी की निष्ठुरता दोनों को ब्रह्मा ने सीमातक रचकर बनाया है अर्थात राजा प्रेम की सीमा है और कैकेयी निष्ठुरता की। विलाप करते-करते ही राजा को सवेरा हो गया। राज द्वार पर वीणा, बाँसुरी और शङ्ख की ध्वनि होने लगी। भाट लोग विरदावली पढ़ रहे हैं और गवैये गुणों का गान कर रहे हैं। जिनको सुनने पर राजा के बाण-जैसे लगते हैं राजा को वे सब मङ्गल-साज ऐसे नहीं सुहा रहे हैं जैसे पति के साथ सती होने वाली स्त्री को आभूषण नहीं सुहाते। श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन की लालसा और उन्माद के कारण उस रात्रि में किसी को भी नीद नहीं आई।

राजद्वार पर मन्त्रियो और सेवकों की भीड लगी है। वे सब सूर्य को उदय हुआ देखकर कहते हैं कि ऐसा कौन-सा विशेष कारण है कि अवधपति दशरथ जी अभी तक नही जगे ?

अलकार—पुनरुक्ति प्रकाश, उत्प्रेक्षा, उदाहरण।

पहले पहर भूपु नित जागा। आजु हमहि बड़ अचरजु लागा ॥
जाहु सुमन्त्र जगावहु जाई। कीजिअ काजु रजायसु पाई ॥
गए सुमंत्र तब राउर माहीं। देखि भयावन जात डेराहीं ॥
धाइ खाइ जनु जाइ न हेरा। मानहुँ बिपति बिषाद बसेरा ॥
पूछें कोउ न ऊतरु देई। गए जेहिं भवन भूप कैकेई ॥
कहि जयजीव बैठ सिरु नाई। देखि भूप गति गयउ सुखाई ॥
सोच बिकल बिबरन महि परेऊ। मानहुँ कमल मूलु परिहरेऊ ॥
सचिव सभीत सकइ नहि पूँछी। बोली असुभ भरी सुभ छूछी ॥
दो०—परी न राजहि नीद निसि, हेतु जान जगदीसु।
रामु रामु रटि भोरु किय, कहइ न मरमु महीसु ॥३८॥

व्याख्या—राजा नित्य ही रात के पिछले पहर जाग जाया करते है, किन्तु आज हमे बडा आश्चर्य हो रहा है। हे सुमन्त्र ! जाओ जाकर राजा को जगाओ। उनकी आज्ञा पाकर हम सब काम करे। तब सुमन्त्र राजमहल मे गये, पर महलो को भयानक देखकर वे जाते हुए डर रहे हैं। ऐसा लगता है मानो दौडकर काट खायगा, उसकी ओर देखा भी नही जाता। मानो विपत्ति और विषाद ने वहाँ डेरा डाल रक्खा हो। पूछने पर कोई जवाब नही देता; वे उस महल मे गये जहाँ राजा और कैकेयी थे। 'जय-जीव कहकर, और सिर नवाकर बैठे और राजा की दशा देखकर तो वे सूख ही गये। उन्होने देखा कि राजा सोच मे व्याकुल हैं, उनके चेहरे का रग उड़ गया है। जमीन पर ऐसे पडे हैं मानो कमल जडसे उखड कर मुर्झाया पडा हो। मन्त्री मारे डर के कुछ नहीं पूछ सकते। तब अशुभ से भरी हुई और शुभ से विहीन कैकेयी बोली। राजा को रात भर नीद नही आयी, इसका कारण जगदीश्वर ही जाने। इन्होंने 'राम-राम' रटकर सवेरा कर किया, परन्तु इसका भेद राजा कुछ भी नहीं बतलाते है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

आनहु रामहि बेगि बोलाई। समाचार तब पूँछेहु आई ॥
चलेउ सुमन्त्र राय रुख जानी। लखी कुचालि कीन्हि कछु रानी ॥
सोच विकल मग परइ न पाऊ। रामहि बोलि कहिहि का राऊ ॥
उर धरि धीरजु गयउ दुआरें। पूँछहि सकल देखि मनु मारें ॥
समाधानु करि सो सबही का। गयउ जहाँ दिनकर कुल टीका ॥
राम सुमन्त्रहि आवत देखा। आदरु कीन्ह पिता सम लेखा ॥
निरखि बदनु कहि भूप रजाई। रघुकुल दीपहि चलेउ लेवाई ॥
रामु कुभाँति सचिव सँग जाहीं। देखि लोग जहँ तहँ बिलखाहीं ॥
दो०—जाइ दीख रघुबसमनि, नरपति निपट कुसाजु।
सहमि परेउ लखि सिंघिनिहि, मनहुँ वृद्ध गजराजु ॥३६॥

व्याख्या—तुम जल्दी राम को बुला लाओ। तब आकर समाचार पूछना। [रा]जा का रुख जानकर सुमन्त्रजी चले। वे समझ गये कि रानी ने कुछ कुचाल की [है]। सुमन्त्र सोचसे व्याकुल हैं, रास्ते पर पैर नहीं पड़ता। वे सोचते हैं, कि रामजी [को] बुलाकर राजा क्या कहेंगे? किसी तरह हृदय में धीरज धरकर वे द्वारपर [ग]ये। सब लोग उनको उदास देखकर पूछने लगे।

सब लोगों को किसी तरह समझा-बुझाकर सुमन्त्र वहाँ गये जहाँ सूर्य कुल के तिलक श्रीरामचन्द्र जी थे। श्रीरामचन्द्रजी ने सुमन्त्र को आते देखा, तो पिता के समान समझ कर आदर किया। श्रीरामचन्द्रजी के मुख को देखकर और राजा की आज्ञा सुनकर वे रघुकुल के दीपक श्रीरामचन्द्रजी को अपने साथ लिवा चले। श्रीरामचन्द्र जी मन्त्री के साथ बुरी तरह से जा रहे हैं, यह देखकर लोग जहाँ तहाँ विषाद कर रहे हैं।

रघुवंशमणि श्रीरामचन्द्रजी ने जाकर देखा कि राजा अत्यन्त ही बुरी हालत में पड़े हैं, मानो सिंहनी को देखकर कोई बूढ़ा गजराज गिर पड़ा हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

सूखहिं अधर जरइ सबु अंगू। मनहुँ दीन मनिहीन भुअंगू ॥
सरुष समीप दीखि कैकेई। मानहुँ मीचु घरी गनि लेई ॥
करुनामय मृदु राम सुभाऊ। प्रथम दीख दुखु सुना न काऊ ॥
तदपि धीर धरि समउ बिचारी। पूँछी मधुर बचन महतारी ॥

मोहि कहु मातु तात दुखु कारन । करिअ जतन जेहिं होइ निवारन ।।
सुनहु राम सबु कारनु एहू । राजहि तुम्ह पर बहुत सनेहू ।।
देन कहेन्हि मोहि दुइ बरदाना । मागेउँ जो कछु मोहि सोहाना ।।
सो सुनि भयउ भूप उर सोचू । छाँडि न सकहिं तुम्हार सकोचू ।।
दो०-सुत सनेहु इत बचनु उत, संकट परेउ नरेसु ।
सकहु तो आयसु धरहु सिर, मेटहु कठिन कलेसु ।।४०।।

व्याख्या—राजा के ओठ सूख रहे हैं और सारा शरीर जल रहा है । मानो मणि के बिना सांप दुःखी हो रहा हो । पास ही क्रोध से भरी कैकेयी को देखा, मानो साक्षात् मृत्यु ही बैठी राजा के जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रही हो । श्रीरामचन्द्र जी का स्वभाव कोमल और करुणामय है । उन्होने अपने जीवन मे पहली बार यह दुःख देखा , इससे पहले कभी उन्होने दु ख सुना भी न था । तो भी समय का विचार करके हृदय मे धीरज धरकर उन्होने मीठे वचनों से माता कैकेयी से पूछा, हे माता ! मुझे पिताजी के दु.ख का कारण कहो, ताकि जिससे उसका निवारण हो, वह यत्न किया जाय । कैकेयी ने कहा—हे राम ! सुनो, सारा कारण यही है कि राजा का तुमपर बहुत स्नेह है ।

इन्होने मुझे दो वरदान देने को कहा था । मुझे जो कुछ अच्छा लगा, वही मैंने माँगा । उसे सुनकर राजा के हृदय मे सोच हो गया ; क्योंकि ये तुम्हारा संकोच नही छोड सकते ।

इधर तो पुत्र का स्नेह है और उधर वचन (प्रतिज्ञा) ; राजा इसी धर्म संकट मे पड गये है । यदि तुम कर सकते हो, तो राजा की आज्ञा शिरोधार्य करो और इनके कठिन क्लेश को मिटाओ ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा—

निधरक बैठि कहइ कटु बानी । सुनत कठिनता अति अकुलानी ।।
जीभ कमान बचन सर नाना । मनहुँ महिप मृदु लच्छ समाना ।।
जनु कठोरपनु धरें सरीरू । सिखइ धनुष बिद्या बर बीरू ।।
सबु प्रसंगु रघुपतिहि सुनाई । बैठि मनहुँ तनु धरि निठुराई ।।

मन मुसकाइ भानुकुल भानू। रामु सहज आनंद निधानू॥
बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बाग विभूषन॥
सुनु जननी सोइ सुतु बडभागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
दो–मुनिगन मिलनु बिसेषि बन, सबहि भाँति हित मोर।
तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, संमत जननी तोर॥४१॥

शब्दार्थ—निधरक=बेधड़क। बाग-विभूषण=वाणी के भूषण। तोषनिहारा=सन्तुष्ट करने वाला। सम्मति=राय।

सदर्भ—कैकेयी के वचन सुनकर राम हर्षित होकर कह रहे हैं कि माता-पिता की आज्ञा से वन जाने मे मुझे लाभ ही लाभ है।

व्याख्या—कैकेयी बेधड़क बैठी ऐसी कड़वी वाणी कह रही है, जिसे सुनकर स्वयं कठोरता भी अत्यन्त व्याकुल हो उठी। इसकी जीभ धनुष है, वचन बहुतसे तीर हैं और मानो राजा ही कोमल निशाने के समान हैं, इस सारे साज-सामान के साथ मानो स्वयं कठोरपन श्रेष्ठ वीर का शरीर धारण करके धनुष विद्या सीख रहा है। श्री रघुनाथजी को सब हाल सुनाकर वह ऐसी बैठी है मानो निष्ठुरता ही शरीर धारण किये हुए हो। सूर्यकुल के सूर्य, स्वाभाविक ही आनन्दनिधान श्री रामचन्द्रजी मनमें मुस्कराकर सब दूषणों से रहित ऐसे कोमल और सुन्दर वचन बोले, जो मानो वाणी के भूषण ही थे। हे माता! सुनो, वही पुत्र बड़भागी है, जो पिता-माता के वचनो का पालन करनेवाला है। आज्ञा-पालन के द्वारा माता-पिता को सन्तुष्ट करने वाला पुत्र, हे जननी! सारे संसार में दुर्लभ है।

वन में विशेष रूप से मुनियों का मिलाप होगा, जिसमें मेरा सभी प्रकार से कल्याण है। उसमें भी, फिर पिताजी की आज्ञा और हे जननी! तुम्हारी सम्मति है।

अलंकार—'सुनत अकुलानी, मे प्रतीप 'जीभ कमान' चौरू मे रूपक से पुष्ट उत्प्रेक्षा।

भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

सेवहिं अरँडु कलपतरु त्यागी। परिहरि अमृत लेहिं बिषु मागी॥
तेउ न पाइ अस समउ चुकाहीं। देखु बिचारि मातु मन माहीं॥
अंब एक दुखु मोहि बिसेषी। निपट बिकल नरनायकु देखी।
थोरिहिं बात पितहि दुख भारी। होति प्रतीति न मोहि महतारी॥
राउ धीर गुन उदधि अगाधू। भा मोहि तें कछु बड़ अपराधू॥
जातें मोहि न कहत कछु राऊ। मोरि सपथ तोहि कहु सतिभाऊ॥

सहज सरल रघुबर बचन, कुमति कुटिल करि जान॥
चलइ जोंक जल बक्रगति, जद्यपि सलिलु समान॥४२॥

व्याख्या—राम कैकेयी से कहते हैं कि प्राणप्रिय भरत राज्य पावेंगे। इन सभी बातों को देखकर यह प्रतीत होता है कि आज विधाता सब प्रकार से मेरे अनुकूल है। यदि ऐसे काम के लिये भी मैं वनको न जाऊँ तो मूर्खों के समाज में सबसे पहले मेरी गिनती करनी चाहिये; जो कल्पवृक्ष को छोड़कर रेंडकी सेवा करते हैं और अमृत त्यागकर विष माँग लेते हैं। हे माता ! तुम मनमें विचार कर देखो, वे महामूर्ख भी ऐसा मौका पाकर कभी न चूकेंगे। हे माता ! मुझे एक ही दुःख विशेषरूप से हो रहा है, वह महाराज को अत्यन्त व्याकुल देखकर। इस थोड़ी-सी बात के लिये ही पिताजी को इतना भारी दुःख हो। हे माता ! मुझे इस बात पर विश्वास नहीं होता। क्योंकि महाराज तो बड़े ही धीर और गुणों के अथाह समुद्र हैं। अवश्य ही मुझसे कोई बड़ा अपराध हो गया है, जिसके कारण महाराज मुझसे कुछ नहीं कहते। तुम्हें मेरी सौगंध है, माता ! तुम सच-सच कहो।

रघुकुल में श्रेष्ठ श्री रामचन्द्रजी के स्वभाव से ही सीधे वचनों को दुर्बुद्धि कैकेयी टेढ़ा ही करके जान रही है, जैसे यद्यपि जल समान ही होता है, परन्तु जोंक उसमें टेढ़ी चालसे ही चलती है।

अलंकार—दोहे में दृष्टान्त, अन्यत्र अनुप्रास।

रहसी रानि राम रुख पाई। बोली कपट सनेहु जनाई॥
सपथ तुम्हार भरत कै आना। हेतु न दूसर मैं कछु जाना॥
तुम्ह अपराध जोगु नहिं ताता। जननी जनक बंधु सुखदाता॥
राम सत्य सबु जो कछु कहहू। तुम्ह पितु मातु बचन रत अहहू॥

पितहि बुझाइ कहहु बलि सोई। चौथेंपन जेहिं अजसु न होई ॥
तुम्ह सम सुअन सुकृत जेहिं दीन्हे। उचित न तासु निरादरु कीन्हे ॥
लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगहँ गयादिक तीरथ जैसे ॥
रामहि मातु बचन सब भाए। जिमि सुरसरि गत सलिल सुहाए ॥
गइ मुरुछा रामहि सुमिरि, नृप फिरि करवट लीन्ह।
सचिव राम आगमन कहि, बिनय समय सम कीन्ह ॥४३॥

व्याख्या—कैकेयी श्री रामचन्द्रजी का रुख पाकर हर्षित हो गयी और कपटपूर्ण स्नेह दिखाकर बोली—तुम्हारी शपथ और भरत की सौगंध है, मुझे राजा के दुःख का दूसरा कुछ भी कारण विदित नहीं है। हे तात ! तुम अपराध के योग्य नहीं हो। तुमसे माता-पिता का अपराध बन पड़े, यह सम्भव नहीं। तुम तो माता-पिता और भाइयों को सुख देने वाले हो। हे राम ! तुम जो कुछ कह रहे हो, सब सत्य है। तुम पिता-माता के वचनों के पालन में तत्पर हो। मैं तुम्हारी बलिहारी जाती हूँ, तुम पिता को समझाकर वही बात कहो जिससे बुढ़ापे में इनका अपयश न हो। जिस पुण्य ने इनको तुम-जैसे पुत्र दिये हैं उसका निरादर करना उचित नहीं। कैकेयी के बुरे मुख में ये शुभ वचन कैसे लगते हैं जैसे मगध देश में गया आदिक तीर्थ। श्रीरामचन्द्रजी को माता कैकेयी के सब वचन ऐसे अच्छे लगे जैसे गङ्गाजी में जाकर अच्छे-बुरे सभी प्रकार के जल शुभ और सुन्दर हो जाते हैं।

इतने में राजा की मूर्छा दूर हुई, उन्होंने राम का स्मरण करके ("राम ! राम !" कहकर) फिरकर करवट ली। मन्त्री ने श्रीरामचन्द्रजी का आना कहकर समयानुकूल विनती की।

अलंकार—लागहिं ... में उदाहरण।

अवनिप अकनि रामु पगु धारे। धरि धीरजु तब नयन उघारे ॥
सचिवँ सँभारि राउ बैठारे। चरन परत नृप रामु निहारे ॥
लिए सनेह बिकल उर लाई। गै मनि मनहुँ फनिक फिरि पाई ॥
रामहि चितइ रहेउ नरनाहू। चला बिलोचन बारि प्रबाहू ॥
सोक बिबस कछु कहै न पारा। हृदयँ लगावत बारहिं बारा ॥
बिधिहि मनाव राउ मन माहीं। जेहिं रघुनाथ न कानन जाहीं ॥

सुमिरि महेसहि कहइ निहोरी । बिनती सुनहु हदासिव मोरी ।
आसुतोष तुम्ह अवढर दानी । आरति हरहु दीन जनु जानी ।।
तुम्ह प्रेरक सब के हृदय, सो मति रामहि देहु ।
बचनु मोर तजि रहहि घर, परिहरि सीलु सनेहु ।।४४।।

व्याख्या—जब राजा ने सुना कि श्रीरामचन्द्र पधारे हैं, तो उन्होंने धीरज धरकर नेत्र खोले। मन्त्री ने सँभालकर राजा को बैठाया। राजा ने श्रीरामचन्द्रजी को अपने चरणो मे पडते देखा, स्नेह से विकल राजा ने उनको हृदय से लगा लिया। मानो साँप ने अपनी खोयी हुई मणि फिर से पा ली हो। राजा दशरथजी श्रीरामजी को देखते ही रह गये। उनके नेत्रो से आँसुओ की धारा बह चली। शोक के विशेष वश मे होने के कारण राजा कुछ कह नही सकते। वे बार-बार श्रीरामचन्द्रजी को हृदय से लगाते हैं और मनमे ब्रह्माजी को मानते हैं कि जिससे श्रीरघुनाथजी वन को न जायँ। फिर महादेवजी का स्मरण करके उनसे निहोरा करते हुए कहते है—हे सदाशिव! आप मेरी विनती सुनिये। आप शीघ्र प्रसन्न होने वाले और अवढरदानी (मुँहमाँगा दे डालने वाले) हैं। अतः मुझे अपना दीन सेवक जानकर मेरे दुःख को दूर कीजिये।

आप प्रेरक रूप से सबके हृदय मे है। आप श्रीरामचन्द्र को ऐसी बुद्धि दीजिये जिससे वे मेरे वचन को त्यागकर और शील-स्नेह को छोडकर घर ही मे रह जायँ।

अलकार—अनुप्रास, उत्पेक्षा।

अजसु होउ जग सुजसु नसाऊ । नरक परौं बरु सुरपुरु जाऊ ।।
सब दुख दुसह सहावहु मोही । लोचन ओट रामु जनि होही ।।
अस मन गुनइ राउ नहि बोला । पीपर पात सरिस मनु डोला ।।
रघुपति पितहि प्रेम बस जानी । पुनि कछु कहिहि मातु अनुमानी ।।
देस काल अवसर अनुसारी । बोले बचन विनीत बिचारी ।।
तात कहउँ कछु करउँ ढिठाई । अनुचितु छमब जानि लरिकाई ।।
अति लघु बात लागि दुखु पावा । काहुँ न मोहि कहि प्रथम जनावा ।।
देखि गोसाइँहि पूँछिउँ माता । सुनि प्रसगु भए सीतल गाता ।।

मंगल समय सनेह बस, सोच परिहरिअ तात।
आयसु देइअ हरषि हियँ, कहि पुलके प्रभु गात ॥४५॥

व्याख्या—जगत् में चाहे अपयश हो और सुयश नष्ट हो जाय, चाहे नया पाप होने से मैं नरक में गिरूँ, अथवा स्वर्ग चला जाय। पूर्व पुण्यों के फलस्वरूप मिलनेवाला स्वर्ग चाहे मुझे न मिले और भी सब प्रकार के दुःसह दुःख आप मुझसे सहन करा लें, पर श्रीरामचन्द्र मेरी आँखों की ओट न हों। राजा मन-ही-मन इस प्रकार विचार कर रहे हैं। वे बोलते नहीं हैं। उनका मन पीपल के पत्ते की तरह डोल रहा है। श्रीरघुनाथजी ने पिता को प्रेम के वश जानकर और यह अनुमान करके कि माता अगर कुछ कहेंगी तो पिताजी को दुःख होगा, देश-काल और अवसर के अनुकूल विचारकर विनीत वचन कहे—हे तात! मैं कुछ कहता हूँ यह ढिठाई करता हूँ। इस अनौचित्य को मेरी बाल्यावस्था समझकर क्षमा कीजियेगा। इस अत्यन्त तुच्छ बात के लिये आपने इतना दुःख पाया। मुझे किसीने पहले कहकर यह बात नहीं जनायी। आपको इस दशा में देखकर मैंने माता से पूछा। उनसे सारा प्रसंग सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

हे पिताजी! इस मङ्गल के समय स्नेहवश होकर सोच करना छोड़ दीजिये और हृदय में प्रसन्न होकर मुझे आज्ञा दीजिये। यह कहते हुए प्रभु श्रीरामचन्द्रजी सर्वाङ्ग पुलकित हो गये।

अलंकार—पीपर पात ... में उपमा।

धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू॥
चारि पदारथ करतल ताकें। प्रिय पितु मातु प्रान सम जाकें॥
आयसु पालि जनम फलु पाई। ऐहउँ बेगिहिं होउ रजाई॥
बिदा मातु सन आवउँ मागी। चलिहउँ बनहि बहुरि पग लागी॥
अस कहि राम गवनु तब कीन्हा। भूप सोक बस उतरु न दीन्हा॥
नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥
सुनि भए बिकल सकल नर नारी। बेलि बिटप जिमि देखि दवारी॥
जो जहँ सुनइ धुनइ सिरु सोई। बड़ बिषादु नहिं धीरजु होई॥

मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं, सोकु न हृदयँ समाइ।
मनहुँ करुन रस कटकई उतरी, अवध बजाइ ॥४६॥

व्याख्या—श्रीरामचन्द्रजी पिता का समाधान करते हुए कहते है कि इस पृथ्वीतल पर उसका जन्म धन्य है, जिसके चरित्र सुनकर पिता को परम आनन्द हो। जिसको माता-पिता प्राणो के समान प्रिय है, चारो पदार्थ अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष उसकी मुट्ठी मे रहते है। आपकी आज्ञा पालन करके और जन्म का फल पाकर मैं जल्दी ही लौट आऊँगा, अतः कृपया आज्ञा दीजिये। माता से विदा माँगे आता हूँ। फिर आपको प्रणाम करके वनको चलूँगा। ऐसा कहकर तब श्रीरामचन्द्रजी वहाँ मे चल दिये। राजा ने शोकवस कोई उत्तर नही दिया। वह वहुत ही अप्रिय वात नगर भर मे इतनी जल्दी फैल गयी, मानो डंक मारते ही विच्छू का विष सारे शरीर मे चढ गया हो। इस वातको सुनकर सब स्त्री-पुरुष ऐसे व्याकुल हो गये जैसे दावानल वन मे आग लगी देखकर वेल और वृक्ष मुरझा जाते हैं। जो जहाँ सुनता है, वह वही सिर पीटने लगता है। वडा विषाद है, किसी को धीरज नही बंधता।

सबके मुख सूखे जाते हैं, आँखो से आँसू वहते है, शोक हृदय मे नही समाता। मानो करुणारस की सेना अवध पर डका बजाकर उतर आयी हो।

१. अलकार—उत्प्रेक्षा, उपमा।

२. रस—करुण।

मिलेहि माँझ विधि वात वेगारी। जहँ तहँ देहि कैकइहि गारी॥
एहि पापिनिहि वूझि का परेऊ। छाइ भवन पर पावकु धरेऊ॥
निज कर नयन काढि चह दीखा। डारि सुधा विषु चाहत चीखा॥
कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी। भई रघुवस वेनु वन आगी॥
पालव वठि पेड़ एहि काटा। सुख महुँ सोक ठाटु धरि ठाटा॥
सदा रामु एहि प्रान समाना। कारन कवन कुटिलपनु ठाना॥
सत्य कहहिं कवि नारि सुभाऊ। सब विधि अगहु अगाध दुराऊ॥
निज प्रतिबिंबु वरुकु गहि जाई। जानि न जाइ नारि गति भाई॥

काह न पावकु जारि सक, का न समुद्र समाइ।
का न करै अवला प्रवल, केहि जग कालु न खाइ॥४७॥

व्याख्या—सभी अयोध्यावासी दुखी होकर कैकेयी को गालियाँ दे रहे है कि सब संयोग ठीक हो गये थे-इतनेमे ही विधाता ने वात विगाड दी। इस

का सुनाइ बिधि काह सुनावा। का देखाइ चह काह देखावा॥
एक कहहिं भल भूप न कीन्हा। बरु बिचारि नहिं कुमतिहि दीन्हा॥
जो हठि भयउ सकल दुख भाजनु। अबला बिबस ग्यानु गुनु गा जनु॥
एक धरम परमिति पहिचाने। नृपहि दोसु नहिं देहिं सयाने॥
सिबि दधीचि हरिचंद कहानी। एक एक सन कहहिं बखानी॥
एक भरत कर संमत कहहीं। एक उदास भायँ सुनि रहहीं॥
कान मूँदि कर रद गहि जीहा। एक कहहिं यह बात अलीका॥
सुकृत जाहिं अस कहत तुम्हारे। रामु भरत कहुँ प्रान पिआरे॥

चंदु चवै बरु अनल कन सुधा होइ बिषतूल।
सपनेहुँ कबहुँ न करहिं किछु भरतु राम प्रतिकूल॥४८॥

व्याख्या—विधाता ने क्या सुनाकर क्या सुना दिया और क्या दिखाकर अब वह क्या दिखाना चाहता है? एक कहते हैं कि राजा ने अच्छा नहीं किया। दुर्बुद्धि कैकेयी को विचारकर वर नहीं दिया जो कैकेयी की बात को पूरा करने में अड़े रहकर स्वयं सब दुखों के पात्र हो गये। स्त्री के विशेष वश होने के कारण मानो उनका ज्ञान और गुण जाता रहा। जो धर्म की मर्यादा

को जानते है और सयाने है, वे राजा को दोष नही देते। वे शिवि, दधीचि और हरिश्चन्द्र की कथा एक दूसरे से बखानकर कहते है। कोई एक इसम भरत जी की सम्मति बताते है। कोई एक सुनकर उदासीनभाव से रह जाते है, कुछ बोलते नही, कोई हाथो से कान मूँदकर और जीभ को दाँतो तले दबाकर कहते है कि यह बात झूठ है, ऐसी बात कहने से तुम्हारे पुण्य नष्ट हो जायँगे। भरतजी को तो श्रीरामचन्द्रजी प्राणो के समान प्यारे है।

चन्द्रमा चाहे शीतल किरणो की जगह आगकी चिनगारियाँ बरसाने लगे और अमृत चाहे विष के समान हो जाय, परन्तु भरतजी स्वप्न मे भी कभी श्रीरामचन्द्रजी के विरुद्ध कुछ नही करेगे।

अलकार—वृत्यनुप्रास, दृष्टान्त।

एक विधातहि दूषनु देही। सुधा देखाइ दीन्ह बिषु जेही॥
खरभरु नगर सोचु सब काहू। दुसह दाहु उर मिटा उछाहू॥
बिप्रबधू कुल मान्य जठेरी। जे प्रिय परम कैकेई केरी॥
लगीं देन सिख सीलु सराही। बचन बानसम लागहिं ताही॥
भरतु न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यहु सबु जगु जाना॥
करहु राम पर सहज सनेहू। केहि अपराध आजु बनु देहू॥
कबहुँ न कियहु सवति आरेसू। प्रीति प्रतीति जान सबु देसू॥
कौसल्याँ अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर पारा॥
सीय कि पिय सँगु परिहरिहि, लखनु कि रहिहहि धाम।
राजु कि भूँजब भरत पुर, नृपु कि जिइहि बिनु राम॥४६॥

व्याख्या—कोइ एक विधाता को दोष देते है, जिसने अमृत दिखाकर विष दे दिया। नगर भर मे खलबली मच गयी, सब किसीको सोच हो गया। हृदय मे दुःसह जलन हो गयी, आनन्द-उत्साह मिट गया। ब्राह्मणो की स्त्रियाँ, कुलकी माननीय बडी बूढी और जो कैकेयी की परम प्रिय थी, वे उसके शील की सराहना करके उसे सीख देने लगी। पर उसको उनके वचन बाण के समान लगते है। वे कहती है, तुम तो सदा कहा करती थी कि श्रीरामचन्द्र के समान मुझको भरत भी प्यारे नही है, इस बात को सारा जगत् जानता है। श्रीरामचन्द्रजी पर तो तुम स्वाभाविक ही स्नेह करती रही हो। आज किस

अपराध में उन्हें वन देती हो। तुमने कभी सौतियाडाह नहीं किया। सारा देश तुम्हारे प्रेम और विश्वास को जानता है। अब कौसल्या ने तुम्हारा कौन-सा बिगाड़ कर दिया, जिसके कारण तुमने सारे नगर पर वज्र गिरा दिया।

क्या सीताजी अपने पति श्रीरामचन्द्रजी का साथ छोड़ देंगी? क्या लक्ष्मणजी श्रीरामचन्द्रजी के बिना घर रह सकेंगे? क्या भरतजी श्रीरामचन्द्रजी के बिना अयोध्यापुरी का राज्य भोग सकेंगे? और क्या राजा श्रीरामचन्द्रजी के बिना जीवित रह सकेंगे? अर्थात् न सीताजी यहाँ रहेंगी, न लक्ष्मणजी रहेंगे, न भरतजी राज्य करेंगे और न राजा ही जीवित रहेंगे; सब उजाड़ हो जायगा)।

अलंकार—मालोपमा।

अस विचारि उर छाड़हु कोहू। सोक कलंक कोठि जनि होहू॥
भरतहि अवसि देहु जुवराजू। कानन काह राम कर काजू॥
नाहिन रामु राज के भूखे। धरम धुरीन विषय रस रूखे॥
गुर गृह बसहुँ रामु तजि गेहू। नृप सन अस बर दूसर लेहू॥
जौं नहिं लगिहहु कहें हमारे। नहिं लागिहि कछु हाथ तुम्हारे॥
जौं परिहास कीन्हि कछु होई। तौ कहि प्रगट जनावहु सोई॥
राम सरिस सुत कानन जोगू। काह कहहि सुनि तुम्ह कहुँ लोगू॥
उठहु बेगि सोइ करहु उपाई। जेहि बिधि सोकु कलंकु नसाई॥
छं०—जेहि भाँति सोकु कलंकु जाइ उपाइ करि कुल पालही।
हठि फेरु रामहि जात बन जनि बात दूसरि चालही॥
जिमि भानु बिनु दिनु प्रान बिनु तनु चंद बिनु जिमि जामिनी।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जियँ भामिनी॥
सो०—सखिन्ह सिखावनु दीन्ह, सुनत मधुर परिनाम हित।
तेइँ कछु कान न कीन्ह, कुटिल प्रबोधी कूबरी॥५०॥

व्याख्या—हृदय में ऐसा विचार कर क्रोध छोड़ दो, शोक और कलङ्क की कोठी मत बनो। भरत को अवश्य युवराजपद दो, पर श्रीरामचन्द्रजी का वन में क्या काम है? श्रीरामचन्द्रजी राज्य के भूखे नहीं हैं। वे धर्म की धुरि को धारण करनेवाले और विषय-रस से रूखे हैं अर्थात् उनमें विषयासक्ति है ही नहीं। इसलिये तुम यह शङ्का न करो कि श्रीरामजी वन न गये तो भरत के

राज्य मे विघ्न करेंगे। इतने पर भी मन न माने तो राजा से दूसरा ऐसा यह वर ले लो कि श्रीराम घर छोडकर गुरु के घर रहे। जो तुम हमारे कहने पर न चलोगी तो तुम्हारे हाथ कुछ भी न लगेगा। यदि तुमने कुछ हँसी की हो तो उसे प्रकट मे कहकर जना दो कि मैंने दिल्लगी की है। राम-सरीखा पुत्र क्या वन के योग्य है? यह सुनकर लोग तुम्हें क्या कहेंगे! जल्दी उठो और वही उपाय करो जिस उपाय से इस शोक और कलङ्क का नाश हो।

जिस तरह नगर भर का शोक और तुम्हारा कलङ्क मिटे, वही उपाय करके कुलकी रक्षा करो। वन जाते हुए श्रीरामजी को हठ करके लौटा लो, दूसरी कोई बात न चलाओ। तुलसीदासजी कहते है—जैसे सूर्य के बिना दिन, प्राण के बिना शरीर और चन्द्रमा के बिना रात निर्जीव तथा शोभाहीन हो जाती है वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी के बिना अयोध्या हो जायगी, हे भामिनी! तू अपने हृदय में इस बात को समझ देख तो सही।

इस प्रकार सखियो ने ऐसी सीख दी जो सुनने मे मीठी और परिणाम मे हितकारी थी। पर कुटिला कुबरी की सिखायी-पढायी हुई कैकेयी ने इसपर जरा भी कान नही दिया।

अलंकार—मालोपमा।

उतरु न देइ दुसह रिस रूखी। मृगिन्ह चितव जनु बाघिनि भूखी॥
ब्याधि असाधि जानि तिन्ह त्यागी। चलीं कहत मतिमंद अभागी॥
राजु करत यह दैअँ बिगोई। कीन्हेसि अस जस करइ न कोई॥
एहि बिधि बिलपहिं पुर नर नारी। देहिं कुचालिहि कोटिक गारीं॥
जरहिं बिषम जुर लेहिं उसासा। कवनि राम बिनु जीवन आसा॥
बिपुल बियोग प्रजा अकुलानी। जनु जलचर गन सूखत पानी॥
अति बिषाद बस लोग लोगाईं। गए मातु पहिं राम गोसाईं॥
मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ। मिटा सोचु जनि राखै राऊ॥

नव गयंदु रघुबीर मनु, राजु अलान समान।
छूट जानि बन गवनु सुनि, उर आनंदु अधिकान॥५१॥

व्याख्या—कैकेयी कोई उत्तर नही देती, वह दुःसह क्रोध के मारे रूखी हो रही है। ऐसे देखती है मानो भूखी बाघिन हरिनियो को देख रही हो।

तब सखियों ने रोग को असाध्य समझकर उसे छोड़ दिया। सब उसको मन्दबुद्धि, अभागिनी कहती हुई चल दीं। राज्य करते हुए इस कैकेयी को दैव ने नष्ट कर दिया। इसने जैसा कुछ किया, वैसा कोई भी न करेगा! नगर के सब स्त्री-पुरुष इस प्रकार विलाप कर रहे हैं और उस कुचाली कैकेयी को करोड़ों गालियाँ दे रहे हैं। लोग भयानक दुःखकी आग में जल रहे हैं। लम्बी साँसें लेते हुए वे कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी के बिना जीने की कौन आशा है। महान् वियोग की आशंका से प्रजा ऐसी व्याकुल हो गयी है मानो पानी सूखने के समय जलचर जीवों का समुदाय व्याकुल हो। सभी पुरुष और स्त्रियाँ अत्यन्त विषाद के वश हो रहे हैं। स्वामी श्रीरामचन्द्रजी माता कौसल्या के पास गये। उनका मुख प्रसन्न है और चित्त में चौगुना चाव (उत्साह) है। यह सोच मिट गया है कि राजा कहीं रख न लें। श्रीरामजी को राजतिलक की बात सुनकर विषाद हुआ था कि सब भाइयों को छोड़कर बड़े भाई मुझको ही राजतिलक क्यों होना है। अब माता कैकेयी की आज्ञा और पिता की मौन सम्मति पाकर वह सोच मिट गया।

श्रीरामचन्द्रजी का मन नये पकड़े हुए हाथी के समान और राजतिलक उस हाथी के बाँधने की काँटेदार लोहे की बेड़ी के समान है। 'वन जाना है' यह सुनकर, अपने को बन्धन से छूटा जानकर, उनके हृदय में आनन्द बढ़ गया है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक।

रस=करुणा।

रघुकुल तिलक जोरि दोउ हाथा। मुदित मातु पद नायउ माथा॥
दीन्हि असीस लाइ उर लीन्हे। भूषन बसन निछावरि कीन्हे॥
बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥
गोद राखि पुनि हृदयँ लगाए। स्रवत प्रेमरस पयद सुहाए॥
प्रेमु प्रमोदु न कछु कहि जाई। रंक धनद पदवी जनु पाई॥
सादर सुन्दर बदनु निहारी। बोली मधुर बचन महतारी॥
कहहु तात जननी बलिहारी। कबहिं लगन मुद मंगलकारी॥
सुकृत सील सुख सीवँ सुहाई। जनम लाभ कइ अवधि अघाई॥

जेहि चाहत नर नारि सब, अति आरत एहि भाँति।
जिमि चातक चातकि तृषित, वृष्टि सरद रितु स्वाति ॥५२॥

व्याख्या—रघुकुलतिलक श्रीरामचन्द्रजी ने दोनो हाथ जोडकर आनन्द के साथ माता के चरणो मे सिर नवाया। माता ने आशीर्वाद दिया अपने हृदय से लगा लिया और उनपर गहने तथा कपडे न्योछावर किये। माता बार-बार श्रीरामचन्द्रजी का मुख चूम रही है। नेत्रो मे प्रेम का जल भर आया है और सब अङ्ग पुलकित हो गये हैं। श्रीराम को अपनी गोद मे बैठाकर फिर हृदय से लगा लिया। सुन्दर स्तन प्रेमरस (दूध) बहाने लगे। उनका प्रेम और महान् आनन्द कुछ कहा नही जाता। मानो कगाल ने कुबेर का पद पा लिया हो। बडे आदर के साथ सुन्दर मुख देखकर माता मधुर वचन बोली। हे तात! माता बलिहारी जाती है, वह आनन्द-मङ्गलकारी लग्न कब है, जो मेरे पुण्य, शील और सुख की सुन्दर सीमा है और जन्म लेने के लाभ की पूर्णतम अवधि है।

तथा जिस (लग्न) को सभी स्त्री-पुरुष अत्यन्त व्याकुलता से इस प्रकार चाहते है जिस प्रकार प्यास से चातक और चातकी शरद्-ऋतु के स्वाति नक्षत्र की वर्षा चाहते है।

अलंकार—उपमा, दृष्टान्त।

तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥
पितु समीप तब जाएहु भैआ। भइ बडि बार जाइ बलि मैआ॥
मातु बचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतरु के फूला॥
सुख मकरंद भरे श्रियमूला। निरखि राम मनु भवँरु न भूला॥
धरम धुरीन धरम गति जानी। कहेउ मातु सन अति मृदु बानी॥
पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड काजू॥
आयसु देहि मुदित मन माता। जेहि मुद मगल कानन जाता॥
जनि सनेह बस डरपसि भोरें। आनँद अब अनुग्रह तोरें॥

बरष चारि दस बिपिन बसि, करि पितु बचन प्रमान।
आइ पाय पुनि देखिहउँ मनु, जनि करसि मलान ॥५३॥

बचन बिनीत मधुर रघुबर के। सर सम लगे मातु उर करके॥
सहमि सूखि सुनि सीतल बानी। जिमि जवास परें पावस पानी॥
कहि न जाइ कछु हृदय बिषादू। मनहुँ मृगी सुनि केहरि नादू॥
नयन सजल तन थर थर काँपी। माजहि खाइ मीन जनु मापी॥
धरि धीरजु सुत बदन निहारी। गदगद बचन कहति महतारी॥
तात पितहि तुम्ह प्रान पिआरे। देखि मुदित नित चरित तुम्हारे॥
राजु देन कहुँ सुभ दिन साधा। कहेउ जान बन केहिं अपराधा॥
तात सुनावहु मोहि निदानू। को दिनकर कुल भयउ कृसानू॥

निरखि राम रुख सचिवसुत, कारनु कहेउ बुझाइ।
सुनि प्रसंगु रहि मूक जिमि, दसा बरनि नहिं जाइ॥५४॥

शब्दार्थ—करके=कसकने लगे। केहरि नादू=सिंह की गर्जना। माजहि=पहली वर्षा का फेन। मापी=बदहवास हो गई। निदानू=कारण।

व्याख्या—रघुकुल में श्रेष्ठ श्री रामजी के बहुत ही नम्र और मीठे वचन माता के हृदय में बाण के समान लगे और कसकने लगे। उस शीतल

वाणी को सुनकर कौशल्या वैसे ही सहमकर सूख गयी जैसे बरसात का पानी पडने से जवासा सूख जाता है। हृदय का विषाद कुछ कहा नही जाता। मानो सिंह की गर्जना सुनकर हिरनी विकल हो गयी हो। नेत्रो मे जल भर आया, शरीर थर-थर कांपने लगा, मानो मछली पहली वर्षा का फेन खाकर बदहवास हो गई हो। धीरज धरकर पुत्र का मुख देखकर माता गद्गद वचन कहने लगी—हे तात ! तुम तो पिता को प्राणो के समान प्रिय हो। तुम्हारे चरित्रो को देखकर वे नित्य प्रसन्न होते थे। राज्य देने के लिए उन्होने ही शुभ दिन सोधवाया था, फिर अब किस अपराध से वन जाने को कहा ? हे तात ! मुझे इसका कारण सुनाओ। सूर्यवश रूपी वन को जलाने के लिए अग्नि कौन हो गया ?

तब श्रीरामचन्द्रजी का रुख देखकर मन्त्री के पुत्र ने सब कारण समझाकर कहा। उस प्रसग को सुनकर वे गूंगी-जैसी चुप रह गयी, उनकी दशा का वर्णन नही किया जा सकता।

अलंकार—सर सम मे उपमा, सहमि मे दृष्टान्त, मनहुँ मृगी मे उत्प्रेक्षा, माजहि " मे उत्प्रेक्षा मूक जिमि में उपमा।

राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू ॥
लिखित सुधाकर गा लिखि राहू। विधि गति बाम सदा सब काहू ॥
धरम सनेह उभयँ मति घेरी। भइ गति साँप छुछुंदर केरी ॥
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू। धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू ॥
कहउँ जान बन तौ बडि हानी। संकट सोच बिबस भइ रानी ॥
बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी। रामु भरतु दोउ सुत सम जानी ॥
सरल सुभाउ राम महतारी। बोली बचन धीर धरि भारी ॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका। पितु आयसु सब धरमक टीका ॥

राजु देन कहि दीन्ह बनु, मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहि प्रचंड कलेसु ॥५५॥

व्याख्या—कौशल्या राम को न रख ही सकती है, न यह कह सकती है कि न जाओ। दोनो ही प्रकार से हृदय मे बडा भारी संताप हो रहा है। वे मन मे सोचती हैं कि देखो—विधाता की चाल सदा सबके लिए टेढी होती

है। खिलने लगे चन्द्रमा और लिख गया राहु! धर्म और स्नेह दोनों ने कौशल्या जी की बुद्धि को घेर लिया। उनकी दशा साँप-छछूँदर की-सी हो गयी वे सोचने लगी कि यदि मैं हठ करके पुत्र को रख लेती हूं तो धर्म जाता है और भाइयों में विरोध होता है, और यदि वन जाने को कहती हूँ तो बड़ी हानि होती है। इस प्रकार के धर्म-सकटों में पड़कर रानी विशेष रूप से सोच के वश हो गयी। फिर बुद्धिमती कौशल्या जी स्त्री-धर्म को समझकर और राम तथा भरत दोनों पुत्रों को समान जानकर सरल स्वभाव से श्री रामचन्द्र जी से धीरज धरकर वचन बोली- हे तात! मैं बलिहारी जाती हूँ, तुमने अच्छा किया। पिता की आज्ञा का पालन करना ही सब धर्मों का शिरोमणि धर्म है।

राज्य देने को कहकर वन दे दिया, उसका मुझे लेशमात्र भी दुःख नहीं है। दुःख तो इस बात का है कि तुम्हारे बिना भरत को, महाराज को और प्रजा को बड़ा भारी क्लेश होगा।

अलंकार अनुप्रास, उपमा।

जौं केवल पितु आयसु ताता। तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौं पितु मातु कहेउ वन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥
पितु वन देव मातु वन देवी। खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥
अतहुँ उचित नृपहि बनबासू। बय बिलोकि हियँ होइ हराँसू॥
बड़भागी बनु अवध अभागी। जो रघुबंसतिलक तुम्ह त्यागी॥
जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू। तुम्हरे हृदय होइ संदेहू॥
पूत परम प्रिय तुम्ह सबही के। प्रान प्रान के जीवन जी के॥
ते तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ। मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥

यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।
मानि मातु कर नात बलि, सुरति बिसरि जनि जाइ॥५६॥

व्याख्या—हे तात! यदि केवल पिताजी की ही आज्ञा हो तो माता को पिता से बड़ी जानकर वन को न जाओ। यदि पिता और माता दोनों ने वन जाने को कहा है तो वन तुम्हारे लिये सैकड़ों अयोध्या के समान है। वन के देवता तुम्हारे पिता होंगे और और वन देवियाँ माता होंगी। वहाँ के पशु-पक्षी तुम्हारे चरणकमलों के सेवक होंगे। राजा के लिये अन्त में

तो वनवास करना उचित ही है। केवल तुम्हारी सुकुमार अवस्था देखकर हृदय मे दु ख होता है। हे रघुवंश के तिलक! वन बड़ा भाग्यवान् है और यह अवध अभागी है, जिसे तुमने त्याग दिया। हे पुत्र! यदि मैं कहूँ कि मुझे भी साथ ले चलो तो तुम्हारे हृदय मे सन्देह होगा कि माता इसी बहाने मुझे रोकना चाहती है। हे पुत्र! तुम सभी के परम प्रिय हो। प्राणो के प्राण और हृदय के जीवन हो। वही प्राणाधार तुम कहते हो कि माता! मैं वन को जाऊँ और मैं तुम्हारे वचनो को सुनकर बैठी पछताती हूँ।

यह सोचकर झूठा स्नेह बढ़ाकर मैं हठ नही करती। बेटा! बलैया लेती हूँ, माता का नाता मानकर मेरी सुध भूल न जाना।

देव पितर सब तुम्हहिं गोसाईं। राखहुँ पलक नयन की नाईं॥
अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना॥
अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहि जिअत जेहिं भेंटहु आई॥
जाहु सुखेन बनहि बलि जाऊँ। करि अनाथ जन परिजन गाऊँ॥
सब कर आजु सुकृत फल बीता। भयउ कराल कालु बिपरीता॥
बहु बिधि बिलपि चरन लपटानी। परम अभागिनि आपुहि जानी॥
दारुन दुसह दाहु उर ब्यापा। बरनि न जाहिं बिलाप कलापा॥
राम उठाइ मातु उर लाई। कहि मृदु वचन बहुरि समुझाई॥

समाचार तेहि समय सुनि, सीय उठी अकुलाइ।
जाइ सासु पद कमल जुग, बंदि बैठि सिरु नाइ॥५७॥

शब्दार्थ- सुखेन—सुख पूर्वक।

व्याख्या—हे पुत्र! सब देव और पितर तुम्हारी वैसेही रक्षा करे जैसे पलकें आंखो की रक्षा करती हैं। तुम्हारे वनवास की अवधि जल है प्रियजन और कुटुम्बी मछली है। तुम दया की खान और धर्म की धुरी को धारण करने वाले हो। ऐसा विचार कर वही उपाय करना, जिसमे सबके जीते-जी तुम सेवको, परिवार वालो और नगर को अनाथ करके सुखपूर्वक वन को जाओ। आज सबके पुण्यो का फल पूरा हो गया। इस प्रकार बहुत विलाप करके और अपने को परम अभागिनी जानकर माता श्री रामचन्द्र जी के चरणों मे लिपट गयी। हृदय में भयानक दु.सह संताप छा गया। उस समय

के बहुविधि विलापका वर्णन नही किया जा सकता। श्री रामचन्द्रजी ने माता को उठाकर हृदय से लगा लिया और फिर कोमल वचन कहकर उन्हें समझाया।

उसी समय यह समाचार सुनकर सीताजी अकुला उठी और सास के पास जाकर उनके दोनो चरण कमलो की वन्दना कर सिर नीचे करके बैठ गयीं।

अलकार—उपमा, रूपक, अनुप्रास।

दीन्हि असीस सासु मृदु बानी। अति सुकुमारि देख अकुलानी॥
बैठि नमित मुख सोचति सीता। रूप रासि पति प्रेम पुनीता॥
चलन चहत बन जीवन नाथू। केहि सुकृती मन सोइहि साथू॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना। विधि करतबु कछु जाइ न जाना॥
चारु चरन नख लेखनि धरनी। नूपुर मुखर मधुर कवि बरनी॥
मनहुँ प्रेम बस बिनती करहीं। हमहि सीय पद जनि परिहरहीं॥
मंजु विलोचन मोचति बारी। बोली देखि राम महतारी॥
तात सुनहु सिय अति सुकुमारी। सास ससुर परिजनहि पिआरी॥

पिता जनक भूपाल मनि, ससुर भानुकुल भानु।
पति रविकुल कैरव विपिन, विधु गुन रूप निधानु॥५८॥

व्याख्या—कौशल्या ने कोमल वाणी से आशीर्वाद दिया। वे सीताजी को अत्यन्त सकुमारी देखकर व्याकुल हो उठीं। रूपकी राशि और पति के साथ पवित्र प्रेम करने वाली सीताजी नीचा मुख किये बैठी सोच रही है। जीवन नाथ वन को चलना चाहते है। देखें किस पुण्य से उनका साथ होगा—शरीर और प्राण दोनो साथ जायँगे या केवल प्राणही से उनका साथ होगा? विधाता की करनी कुछ जानी नही जाती। सीताजी अपने सुन्दर चरणों के नखो से धरती कुरेद रही हैं। ऐसा करते समय नूपुरो का जो मधुर शब्द हो रहा है, कवि उसका इस प्रकार वर्णन करते हैं कि मानो प्रेम के वश होकर नूपुर यह विनती कर रहे हैं कि सीताजी के चरण कभी हमारा त्याग न करें। सीताजी सुन्दर नेत्रों से जल बहा रही हैं। उनकी यह दशा देखकर श्रीरामजी की माता कौसल्याजी बोली—हे तात! सुनो, सीता अत्यन्त ही सुकुमारी है तथा सास, ससुर और कुटुम्बी सभी को प्यारी हैं।

इनके पिता जनकजी राजाओं के शिरोमणि हैं, ससुर सूर्यकुल के सूर्य हैं और पति सूर्यकुलरूपी कुमुदवन को खिलानेवाले चन्द्रमा तथा गुण और रूप के भण्डार हैं।

अलंकार—वृत्यनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक।

मैं पुनि पुत्रवधू प्रिय पाई। रूप रासि गुन सील सुहाई॥
नयन पुतरि करि प्रीति बढ़ाई। राखेउँ प्रान जानकिहि लाई॥
कलपबेलि जिमि बहुबिधि लाली। सींचि सनेह सलिल प्रतिपाली॥
फूलत फलत भयउ बिधि बामा। जानि न जाइ काह परिनामा॥
पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
जिअन मूरि जिमि जोगवत रहउँ। दीप बाति नहिं टारन कहउँ॥
सोइ सिय चलन चहति बन साथा। आयसु काह होइ रघुनाथा॥
चंद किरन रस रसिक चकोरी। रबि रुख नयन सकइ किमि जोरी॥

करि केहरि निसिचर चरहिं, दुष्ट जंतु बन भूरि।
बिष बाटिकाँ कि सोह सुत, सुभग सजीवनि मूरि॥५९॥

व्याख्या—कौशल्या कहती है कि मैंने रूप की राशि, सुन्दर गुण और शीलवाली प्यारी पुत्रवधू पायी है। मैंने इस जानकी को आँखों की पुतली बनाकर इससे प्रेम बढ़ाया है और अपने प्राण इसमें लगा रक्खे हैं। इन्हें कल्पलता के समान मैंने बहुत तरह से बड़े लाड़-चाव के साथ स्नेहरूपी जल से सींचकर पाला है। अब इस लता के फूलने-फलने के समय विधाता वाम हो गये। कुछ जाना नहीं जाता कि इसका क्या परिणाम होगा। सीता ने पर्यङ्कपृष्ठ (पलंग के ऊपर), गोद और हिंडोले को छोड़कर कठोर पृथ्वी पर कभी पैर नहीं रक्खा। मैं सदा सजीवनी जड़ी के समान सावधानी से इसकी रखवाली करती रही हूँ। कभी दीपक की बत्ती हटाने को भी नहीं कहती। वही सीता अब तुम्हारे साथ वन चलना चाहती है। हे रघुनाथ! उसे क्या आज्ञा होती है? चन्द्रमा की किरणों का रस (अमृत) चाहनेवाली चकोरी सूर्य की ओर आँख किस तरह मिला सकती है। हाथी, सिंह, राक्षस आदि अनेक दुष्ट जीव-जन्तु वन में विचरते रहते हैं। हे पुत्र! क्या विषकी वाटिका में सुन्दर सजीवनी बूटी शोभा पा सकती है?

अलंकार—वृत्यनुप्रास, उपमा दृष्टान्त।

बन हित कोल किरात किसोरी। रचीं बिरंचि बिषय सुख भोरी॥
पाहन कृमि जिमि कठिन सुभाऊ। तिन्हहि कलेसु न कानन काऊ॥
कै तापस तिय कानन जोगू। जिन्ह तप हेतु तजा सब भोगू॥
सिय बन बसिहि तात केहि भाँती। चित्र लिखित कपि देखि डेराती॥
सुरसर सुभग बनज बन चारी। डाबर जोगु कि हंसकुमारी॥
अस बिचारि जस आयसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई॥
जौं सिय भवन रहै कह अंबा। मोहि कहँ होइ बहुत अवलंबा॥
सुनि रघुबीर मातु प्रिय बानी। सील सनेह सुधाँ जनु सानी॥

कहि प्रिय बचन बिबेकमय, कीन्हि मातु परितोष।
लगे प्रबोधन जानकिहि, प्रगटि बिपिन गुन दोष॥६०॥

व्याख्या—कौशल्या कहती हैं कि वन के लिये तो ब्रह्माजी ने विषय सुख को न जाननेवाली कोल और भीलों की लड़कियों को रचा है, जिनका पत्थर तथा कीड़े-जैसा कठोर स्वभाव है। उन्हें वन में कभी क्लेश नहीं होता। अथवा तपस्वियों की स्त्रियाँ वन में रहने योग्य हैं, जिन्होंने तपस्या के लिये सब भोग तज दिये हैं। हे पुत्र! जो तस्वीर के बंदर को देखकर डर जाती हैं वे सीता वन में किस तरह रह सकेंगी? देव सरोवर के कमलवन में विचरण करनेवाली हंसनी क्या गड़ैयों (तलैयों) में रहने के योग्य है? ऐसा विचार कर जैसी तुम्हारी आज्ञा हो, मैं जानकी को वैसी ही शिक्षा दूँ? माता कहती हैं—यदि सीता घर में रहे तो मुझको बहुत सहारा हो जाय। श्रीरामचन्द्रजी ने माता की प्रिय वाणी सुनकर, जो मानो शील और स्नेहरूपी अमृत से सनी हुई थी।

विवेकमय प्रिय वचन कहकर माता को संतुष्ट किया। फिर वन के गुण-दोष प्रकट करके वे जानकीजी को समझाने लगे।

अलंकार—वृत्यानुप्रास, उपमा, दृष्टान्त।

मातु समीप कहत सकुचाहीं। बोले समउ समुझि मन माहीं॥
राजकुमारि सिखावनु सुनहू। आन भाँति जियँ जनि कछु गुनहू
आपन मोर नीक जौं चहहू। बचनु हमार मानि गृह रहहू॥
आयसु मोर सासु सेवकाई। सब बिधि भामिनि भवन भलाई॥

ऐहिते अधिक धरमु नहि दूजा । सादर सासु ससुर पद पूजा।
जब जब मातु करिहि सुध मोरी । होइहि प्रेम बिकल मति मोरी ॥
तब तब तुम्ह कहि कथा पुरानी । सुन्दरि समुझाएह मृदु बानी ॥
कहउँ सुभायँ सपथ मत मोही । समुखि मातु हित राखउँ तोही ॥
गुरु श्रुति समत धरम फलु, पाइअ बिनहि कलेस ।
हठ बस, सब संकट सहे, गालव नहुषु नरेस ॥६१॥

शब्दार्थ—समउ=समय ।

संदर्भ—श्रीराम जानकीजी को उपदेश देत हुए कहते है—

व्याख्या—राम माता के सामने सीताजी स कुछ कहने मे सकुचाते हैं। पर मनमे यह समझकर कि यह समय ऐसा ही है, वे बोले—हे राजकुमारी! मेरी सिखावन सुनो। मन मे कुछ दूसरी तरह न समझ लेना। जो अपना और मेरा भला चाहती हो, तो मेरा वचन मानकर घर रहो। हे भामिनी! मेरी आज्ञा का पालन होगा, सासकी सेवा बन पडेगी। घर रहने मे सभी प्रकार से भलाई है। आदर पूर्वक सास-ससुर के चरणो की पूजा करने से बढकर दूसरा कोई धर्म नहीं है। जब-जब माता मुझे याद करेंगी और प्रेम से व्याकुल होने के कारण उनकी बुद्धि भोली हो जायगी, वे अपने आपको भूल जायँगी। हे सुन्दरी! तब-तब तुम कोमल वाणी से पुरानी कथाएँ कहकर इन्हें समझाना। हे सुमुखी! मुझे सैकडो सौगन्ध है, मैं यह स्वभाव से ही कहता हूँ कि मैं तुम्हे कवल माता के लिये ही घरपर रखता हूँ।

व्याख्या—मेरी आज्ञा मानकर घरपर रहने मे गुरु और वेद के द्वारा सम्मत धर्म के आचरण का फल तुम्हें बिना ही क्लेश क मिल जाता है, किन्तु हठ के वश होकर गालव मुनि और राजा नहुप आदि सबन सङ्कट ही सह।

अलकार—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश, दृष्टान्त।

मैं पुनि करि प्रवान पितु बानी । बेगि फिरब सुनु समुखि सयानी ॥
दिवस जात नहि लागिहि बारा । सुन्दरि सिखवनु सुनहु हमारा ॥
जौं हठ करहु प्रेम बस बामा । तौ तुम दुखु पाउब परिनामा ॥
काननु कठिन भयकर भारी । घोर घामु हिम बारि बयारी ॥

अहं'   कीकर नाना। चलब पयादेहिं बिनु पदत्राना॥
हु मंजु तुम्हारे। मारग अगम भूमिधर भारे॥
नदी नद नारे। अगम अगाध न जाहिं निहारे॥
वृक केहरि नागा। करहिं नाद सुनि धीरजु भागा॥
भूमि नयन वलकल वसन, असनु कंदफल मूल।
ते कि सदा सब दिन मिलहिं, सबुइ समय अनुकूल॥६२॥

शब्दार्थ—प्रवान=सत्य। पदत्राण= जूते। वृक=भेड़िया।

सदर्भ—प्रस्तुत प्रसग मे राम सीता को वन के कष्ट बताकर उपदेश दे रहे हैं—

व्याख्या—हे सुमुखि! हे स्यानो! सुनो, मैं भी पिता के वचन को सत्य करके शीघ्र ही लौटूंगा। दिन जाने देर नही लगेगी। हे सुन्दरी! हमारी यह सीख सुनो! हे वामा! यदि प्रेमवश हठ करोगी, तो तुम परिणाम मे दुःख पाओगी। वन बडा कठिन और भयानक है। वहाँ की धूप, जाडा, वर्षा और हवा सभी बडे भयानक हैं। रास्ते मे कुश, काँटे और बहुत-से कंकड हैं। उनपर बिना जूते के पैदल ही चलना होगा। तुम्हारे चरण-कमल कोमल और सुन्दर हैं और रास्ते मे बडे-बडे दुर्गम पर्वत हैं। पर्वतो की गुफाएँ, खोह, नदियाँ, नद और नाले ऐसे अगम्य और गहरे हैं कि उनकी ओर देखा तक नही जाता। रीछ, बाघ, भेडिये, सिंह और हाथी ऐसे भयानक शब्द करते हैं कि उन्हे सुनकर धीरज भाग जाता है।

जमीन पर सोना, पेडो की छाल के वस्त्र पहनना और कन्द, मूल, फलका भोजन करना होगा। और वे भी क्या सदा सब दिन मिलेंगे? सब कुछ अपने-अपने समय के अनुकूल ही मिल सकेगा।

अलंकार—अनुप्रास।

नर अहार रजनीचर चरहीं। कपट वेष विधि कोटिक करहीं॥
लागइ अति पहार कर पानी। विपिन विपति नहिं जाइ बखानी॥
ब्याल कराल विहग वन घोरा। निसिचर निकर नारि नर चोरा॥
डरपहिं धीर गहन सुधि आएँ। मृगलोचन तुम्ह भीरु सुभाएँ॥

हसगवनि तुम्ह नहिं बन जोगू । सुनि अपजसु मोहि देइहि लोगू ॥
मानस सलिल सुधा प्रतिपाली । जिअइ कि लवन पयोधि मराली ॥
नव रसाल बन बिहरन सीला । सोह कि कोकिल बिपिन करीला ॥
रहहु भवन अस हृदयँ बिचारी । चदवदनि दुखु कानन भारी ॥

सहज सुहृद गुर स्वामि सिख, जो न करइ सिर मानि ।
सो पछिताइ अघाइ उर, अवसि होइ हित हानि ॥६३॥

व्याख्या—मनुष्यो को खाने वाले निशाचर वन मे फिरते रहते है। वे करोडो प्रकार के कपट-रूप धारण कर लेते हैं। पहाड का पानी बहुत ही लगता है। वन की विपत्ति बखानी नही जा सकती। वन मे भीषण सर्प, भयानक पक्षी और स्त्री-पुरुषो को चुरानेवाले राक्षसो के झुंड-के-झुंड रहते है। वनकी भयङ्करता याद आने मात्र से धीर पुरुष भी डर जाते है। फिर हे मृगलोचनि! तुम तो स्वभाव से ही डरपोक हो! हे हसगमनी! तुम वन के योग्य नही हो। तुम्हारे वन जाने की बात सुनकर लोग मुझे अपयश देंगे। मानसरोवर के अमृत के समान जल मे पाली हुई हंसनी कही खारे समुद्र मे जी सकती है। नवीन आम के वन मे विहार करने वाली कोयल क्या करील के जगल मे शोभा पाती है? हे चन्द्रमुखी! हृदय मे ऐसा विचार कर तुम घरही पर रहो। वन मे बडा कष्ट है।

स्वाभाविक ही हित चाहनेवाले गुरु और स्वामी की सीख को जो सिर चढाकर नही मानता, वह हृदय मे भर पेट पछताता है और उसके हित की हानि अवश्य होती है।

अलकार—उपमा।

सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के । लोचन ललित भरे जल सिय के ॥
सीतल सिख दाहक भइ कैसे । चकइहि सरद चद निसि जैसे ॥
उतरु न आव बिकल बैदेही । तजन चहत सुचि स्वामि सनेही ॥
बरबस रोकि बिलोचन बारी । धरि धीरजु उर अवनिकुमारी ॥
लागि सासु पग कह करजोरी । छमबि देवि बड़ि अबिनय मोरी ॥
दीन्हि प्रानपति मोहि सिख सोई । जेहि बिधि मोर परम हित होई ॥
मै पुनि समुझि दीखि मन माहीं । पिय बियोग सम दुखु जग नाही ॥

प्राननाथ करुनायतन सुन्दर सुखद सुजान ।
तुम्ह बिनु रघुकुल कुमुद बिधु, सुरपुर नरक समान ॥६४॥

व्याख्या—प्रियतम के कोमल तथा मनोहर वचन सुनकर सीताजी के सुन्दर नेत्र जल से भर गये। श्रीरामजी की यह शीतल सीख उनको ऐसी जलानेवाली हुई, जैसे चकवी को शरद् ऋतु की चाँदनी रात होती है। जानकीजी से कुछ उत्तर देते नहीं बनता, वे यह सोचकर व्याकुल हो उठीं कि मेरे पवित्र और प्रेमी स्वामी मुझे छोड़ जाना चाहते हैं। नेत्रों के आँसुओं को ज़बर्दस्ती रोककर वे पृथ्वी की कन्या सीताजी हृदय में धीरज धरकर सास के पैर लगकर हाथ जोड़कर कहने लगीं—हे देवि! मेरी इस बड़ी भारी ढिठाई को क्षमा कीजिये। मुझे प्राणपति ने वही शिक्षा दी है जिससे मेरा परम हित हो, परन्तु मैंने मन में समझकर देख लिया कि पति के वियोग के समान जगत् में कोई दुःख नहीं है।

हे प्राणनाथ! हे दया के धाम! हे सुन्दर! हे सुखों के देने वाले! हे सुजान! हे रघुकुलरूपी कुमुद के खिलाने वाले चन्द्रमा! आपके बिना स्वर्ग भी मेरे लिये नरक के समान है।

अलंकार—उदाहरण, उपमा, वृत्यनुप्रास छेकानुप्रास।

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवारु सुहृद समुदाई॥
सासु ससुर गुर सजन सहाई। सुत सुन्दर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
भोग रोग सम भूषन भारू। जम जातना सरिस संसारू॥
प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं॥
जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारें। सरद बिमल बिधु बदनु निहारें॥

खग मृग परिजन नगरु बनु, बलकल बिमल दुकूल।
नाथ साथ सुर सदन सम, परनसाल सुख मूल॥६५॥

व्याख्या—माता, पिता, बहन, प्यारा भाई, प्यारा परिवार, मित्रों का

समुदाय, सास, ससुर, गुरु, स्वजन बन्धु-बान्धव, सहायक और सुन्दर, सुशील और सुख देने वाला पुत्र, हे नाथ ! जहाँतक स्नेह और नाते है, पति के बिना स्त्री को सभी सूर्य से भी बढ़कर तपाने वाले है। शरीर, धन, घर, पृथ्वी, नगर और राज्य, पति के बिना स्त्री के लिये यह सब शोक का समाज है। भोग रोग के समान हैं, गहने भाररूप है और ससार यम-यातना (नरक की पीडा) के समान है। हे प्राणनाथ ! आपके बिना जगत् मे मुझे कही कुछ भी सुखदायी नही है। जैसे बिना जीव के देह और बिना जल के नदी, वैसे ही हे नाथ ! बिना पुरुष के स्त्री है। हे नाथ ! आपके साथ रहकर आपका शरद्-पूर्णिमा के निर्मल चन्द्रमा के समान मुख देखने से मुझे समस्त सुख प्राप्त होगे।

हे नाथ ! आपके साथ पक्षी और पशु ही मेरे कुटुम्बी होंगे, वन ही नगर और वृक्षो की छाल ही निर्मल वस्त्र होगे और पर्णकुटी (पत्तो की बनी झोपडी) ही स्वर्ग के समान सुखो की मूल होगी।

अलकार—उपमा, विनोक्ति, दृष्टान्त।

शब्दार्थ—सार=सार-सभार। किसलय=पत्ते। साथरी=बिछौना। तुराई=तोशक।

वनदेवी बनदेव उदारा। करिहहि सासु ससुर सम सारा॥
कुस किसलय साथरी सुहाई। प्रभु सग मजु मनोज तुराई॥
कद मूल फल अमिअ अहारू। अवध सौध सत सरिस पहारू॥
छिनु-छिनु प्रभु पद कमल बिलोकी। रहिहउँ मुदित दिवस जिमि कोकी॥
बन दुख नाथ कहे बहुतेरे। भय बिषाद परिताप घनेरे॥
प्रभु बियोग लवलेस समाना। सब मिलि होहि न कृपा निधाना॥
अस जियँ जानि सुजान सिरोमनि। लेइअ सग मोहि छाडिअ जनि॥

राखिअ अवध जो अवधि लगि, रहत न जनिअहि प्रान।
दीनबधु सुन्दर सुखद, सील सनेह निधान॥६६॥

व्याख्या—सीताजी कहती हैं उदार हृदय के वनदेवी और वनदेवता ही सास-ससुर के समान मेरी सार-सँभार करेंगे, और कुशा और पत्तो का सुन्दर बिछौना ही प्रभु के साथ कामदेव की मनोहर तोशक के समान होगा। कन्द, मूल

और फल ही अमृत के समान आहार होंगे और वन के पहाड़ ही अयोध्या के सैकड़ों राजमहलों के समान होंगे। क्षण-क्षण में प्रभु के चरण कमलों को देख-देखकर मैं ऐसी आनन्दित रहूँगी जैसी दिन में चकवी रहती है। हे नाथ! आपने वन के बहुत-से दुःख और बहुत से भय, विषाद और सन्ताप कहे, परन्तु हे कृपानिधान! ये सब मिलकर भी प्रभु के वियोग से होने वाले दुःख के लवलेश के समान भी नहीं हो सकते, ऐसा जी में जानकर, हे सुजान-शिरोमणि! आप मुझे साथ ले लीजिये, यहाँ न छोड़िये। हे स्वामी! मैं अधिक क्या विनती करूँ? आप करुणामय हैं और सबके हृदय के अन्दर की जानने वाले हैं।

हे दीनबन्धु! हे सुन्दर! हे सुख देने वाले! हे शील और प्रेम के भण्डार! यदि अवधि (चौदह वर्ष) तक मुझे अयोध्या में रखते हैं तो जान लीजिये कि मेरे प्राण नहीं रहेंगे।

अलंकार—यमक, अनुप्रास।

मोहि मग चलत न होइहि हारी। छिनु छिनु चरन सरोज निहारी॥
सबहि भाँति पिय सेवा करिहौं। मारग जनित सकल श्रम हरिहौं॥
पाँय पखारि बैठि तरु छाहीं। करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं॥
श्रमकन सहित स्याम तनु देखें। कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें॥
सम महि तृन तरु पल्लव डासी। पाँय पलोटिहि सब निसि दासी॥
बार-बार मृदु मूरति जोही। लागिहि तात बयारि न मोही॥
को प्रभु सँग मोहि चितवनिहारा। सिंघ बधुहि जिमि ससक सिआरा॥
मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू। तुम्हहि उचित तप मो कहुँ भोगू॥
ऐसेउ बचन कठोर सुनि, जौं न हृदउ बिलगान।
तौ प्रभु बिषम बियोग दुख, सहिहहिं पावँर प्रान॥६७॥

व्याख्या—सीताजी कहती हैं कि क्षण-क्षण में आपके चरण कमलों को देखते रहने से मुझे मार्ग चलने में थकावट न होगी। हे प्रियतम! मैं सभी प्रकार से आपकी सेवा करूँगी और मार्ग चलने से होने वाली सारी थकावट को दूर कर दूँगी। आपके पैर धोकर, पेड़ों की छाया में बैठकर, मन में प्रसन्न होकर

हवा करूँगी। पसीने की बूँदों—सहित श्याम शरीर को देखकर—प्राणपति के दर्शन करते हुए दुःख के लिये मुझे अवकाश ही कहाँ रहेगा। समतल भूमि पर घास और पेड़ों के पत्ते निछावर यह दासी रात भर आपके चरण दबावेगी। बार-बार आपकी कोमल मूर्ति को देखकर मुझको गर्म हवा भी न लगेगी। प्रभुके साथ रहते मेरी ओर आँख उठाकर देखने वाला कौन है। अर्थात् कोई नहीं देख सकता) । जैसे सिंह की स्त्री को खरगोश और सियार नहीं देख सकते। मैं सुकुमारी हूँ और नाथ वन के योग्य हैं या आपको तो तपस्या उचित है और मुझको विषय-भोग ? ऐसे कठोर वचन सुनकर भी जब मेरा हृदय न फटा तो हे प्रभु ! मालूम होता है ये पामर प्राण आपके वियोग का भीषण दुःख भी सहेंगे।

अलंकार—उपमा, दृष्टान्त।

अस कहि सीय विकल भइ भारी। वचन बियोगु न सकी सँभारी॥
देखि दसा रघुपति जियँ जाना। हठि राखें नहिं राखिहि प्राना॥
कहेउ कृपाल भानुकुलनाथा। परिहरि सोचु चलहु बन साथा॥
नहिं बिषाद कर अवसरु आजू। बेगि करहु बन गवन समाजू॥
कहि प्रिय वचन प्रिया समुझाई। लगे मातु पद आसिष पाई॥
बेगि प्रजा दुख मेटब आई। जननी निठुर बिसरि जनि जाई॥
फिरिहि दसा बिधि बहुरि कि मोरी। देखिहउँ नयन मनोहर जोरी॥
सुदिन सुघरी तात कब होइहि। जननी जिअत बदन बिधु जोइहि॥

बहुरि बच्छ कहि लालु, कहि रघुपति रघुबर तात।
कबहिं बोलाइ लगाइ हियँ, हरषि निरखिहउँ गात॥६८॥

व्याख्या—ऐसा कहकर सीता जी बहुत ही व्याकुल हो गयीं। वे वचन के वियोग को भी न सम्हाल सकीं। (अर्थात् शरीर से वियोग की बात तो अलग रही, वचन से भी वियोग की बात सुनकर वे अत्यन्त विकल हो गयीं। उनकी यह दशा देखकर श्री रघुनाथजी ने अपने जी में जान लिया कि हठपूर्वक इन्हें यहाँ रखने से ये प्राणों को न रखेंगे। सीता का हठ देखकर कृपालु सूर्य कुल के स्वामी श्रीरामचन्द्रजी ने कहा कि सोच छोड़कर मेरे साथ वन को चलो। आज विषाद

करने का अवसर नहीं है, तुम्हारे वनगमन की तैयारी करो। श्रीरामचन्द्रजी ने प्रिय वचन कहकर प्रियतमा सीताजी को समझाया। फिर माता के पैरों लगकर आशीर्वाद प्राप्त किया। माता ने कहा—बेटा जल्दी लौटकर प्रजा के दुःख को मिटाना और यह निठुर माता तुम्हें भूल न जाय। हे विधाता! क्या मेरी दशा भी फिर पलटेगी? क्या अपने नेत्रों से इस मनोहर जोड़ी को फिर देख पाऊँगी? हे पुत्र! वह सुन्दर दिन और शुभ घड़ी कब आवेगी जब तुम्हारी जननी जीते-जी तुम्हारा चाँद-सा मुखड़ा फिर देखेगी।

हे तात! 'राम' कहकर, 'लाल' कहकर, 'रघुपति' कहकर, 'रघुवर' कहकर मैं फिर कब तुम्हें बुलाकर हृदय से लगाऊँगी और हर्षित होकर तुम्हीं को देखूँगी!

रस—दोहे में वात्सल्य रस है।

लखि सनेह कातरि महतारी। बचनु न आव बिकल भइ भारी॥
राम प्रबोधु कीन्ह बिधि नाना। समउ सनेहु न जाइ बखाना॥
तब जानकी सासु पग लागी। सुनिअ माय मैं परम अभागी॥
सेवा समय दैअँ बनु दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा॥
तजब छोभु जनि छाड़िअ छोहू। करमु कठिन कछु दोसु न मोहू॥
सुनि सिय बचन सासु अकुलानी। दसा कवनि बिधि कहौं बखानी॥
बारहि बार लाइ उर लीन्हीं। धरि धीरजु सिख आसिष दीन्हीं॥
अचल होउ अहिवातु तुम्हारा। जब लगि गंग जमुन जल धारा॥
सीतहि सासु असीस सिख दीन्हि अनेक प्रकार।
चली नाइ पद पदुम सिरु अति हित बारहिं बार॥६६॥

व्याख्या—यह देखकर कि माता स्नेह के मारे अधीर हो गयी हैं और इतनी अधिक व्याकुल हैं कि मुँह से वचन नहीं निकलता, श्रीरामचन्द्र जी ने अनेक प्रकार से उन्हें समझाया। उस समय का स्नेह वर्णन नहीं किया जा सकता। तब जानकी जी सास के पाँव लगीं और बोलीं—हे माता! सुनिये, मैं बड़ी ही अभागिन हूँ। आपकी सेवा करने के समय दैव ने मुझे वनवास दे दिया। मेरा मनोरथ सफल न किया। आप क्षोभ का त्याग कर दें, परन्तु कृपा न छोड़ियेगा। कर्म की गति कठिन है। उन्होंने सीताजी को बार-बार हृदय से

लगाया और धीरज धरकर शिक्षा दी और आशीर्वाद दिया कि जब तक गङ्गाजी और यमुनाजी में जल की धारा बहे, तब तक तुम्हरा सुहाग अचल रहे।

सीताजी को सास ने अनेकों प्रकार से आशीर्वाद और शिक्षाएँ दी और वे (सीता जी) बड़े ही प्रेम से बार-बार चरण कमलों में सिर नवा कर चली ।

समाचार जब लछिमन पाए। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए ॥
कंप पुलक तन नयन सनीरा। गहे चरन अति प्रेम अधीरा ॥
कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े। मीनु दीन जनु जल तें काढ़े ॥
सोचु हृदयँ बिधि का होनिहारा। सबु सुखु सुकृतु सिरान हमारा ॥
मो कहुँ काह कहब रघुनाथा। रखिहहिं भवन कि लेहहिं साथा ॥
राम बिलोकि बंधु कर जोरें। देह गेह सब सन तृनु तोरें ॥
बोले बचनु राम नय नागर। सील सनेह सरल सुख सागर ॥
तात प्रेम बस जनि कदराहू। समुझि हृदयँ परिनाम उछाहू ॥
मातु पिता गुरु स्वामिसिख, सिर धरि करहिं सुभायँ।
लहेउ लाभु तिन्ह जनम कर, नतरु जनमु जग जायँ ॥७०॥

व्याख्या—जब लक्ष्मणजी ने ये समाचार पाये, तब वे व्याकुल होकर उदास मुँह उठ दौड़े। शरीर काँप रहा है, नेत्र आँसुओं से भरे हैं। प्रेम से अत्यन्त अधीर होकर उन्होंने श्रीरामजी के चरण पकड़ लिये। वे कुछ कह नहीं सकते, खड़े खड़े देख रहे हैं। ऐसे दीन हो रहे हैं मानो जल से निकाले जाने पर मछली दीन हो रही हो। हृदय में यह सोच है कि हे विधाता! क्या होने वाला है? क्या हमारा सब सुख और पुण्य पूरा हो गया। मुझको श्रीरघुनाथजी क्या कहेंगे? घर पर रक्खेंगे या साथ ले चलेंगे? श्री रामचन्द्रजी ने भाई लक्ष्मण को हाथ जोड़े और शरीर तथा घर सभी से नाता तोड़े हुए खड़े देखा, तब नीति में निपुण और शील, स्नेह, सरलता और सुख के समुद्र श्रीरामचन्द्र वचन बोले—हे तात! परिणाम में होने वाले आनन्द को हृदय में समझकर तुम प्रेम वश अधीर मत होओ।

जिन लोगो ने माता, पिता, गुरु और स्वामी की शिक्षा को स्वाभाविक ही सिर चढाकर उसका पालन किया है, उन्होंने ही जन्म लेने का लाभ पाया है, नही तो जगत् मे जन्म व्यर्थ ही है।

अलंकार—वृत्यनुप्रास।

अस जियँ जानि सुनहु सिख भाई। करहु मातु पितु पद सेवकाई॥
भवन भरतु रिपुसूदन नाहीं। राउ वृद्ध मम दुखु मन माहीं॥
मैं बन जाउँ तुम्हहि लेइ साथा। होई सबहि बिधि अवध अनाथा॥
गुर पितु मातु प्रजा परिवारू। सब कहुँ परइ दुसह दुख भारू॥
रहहु करहु सब कर परितोषू। नतरु तात होइहि बड दोषू॥
जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृपु अवसि नरक अधिकारी॥
रहहु तात असि नीति बिचारी। सुनत लखनु भए ब्याकुल भारी॥
सिअरें बचन सूखि गए कैसें। परसत तुहिन तामरसु जैसें॥
उतरु न आवत प्रेम बस, गहे चरन अकुलाइ।
नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह, तजहु त काह बसाइ॥७१॥

व्याख्या—राम लक्ष्मण को समझाते हुए कहते हैं कि हे भाई! हृदय में ऐसा जानकर मेरी सीख सुनो और माता-पिता के चरणो की सेवा करो। भरत और शत्रुघ्न घर पर नहीं हैं, महाराज वृद्ध हैं और उनके मन में मेरा दुःख है। इस अवस्था मे मैं तुमको साथ लेकर वन जाऊँ तो अयोध्या सभी प्रकार से अनाथ हो जायगी। गुरु, पिता, माता, प्रजा और परिवार सभी पर दुःख का दुःसह भार आ पडेगा अत तुम यहीं रहो और सबका सन्तोष करते रहो। नहीं तो हे तात! बडा दोष होगा। जिसके राज्य में प्यारी प्रजा दुखी रहती है, वह राजा अवश्य ही नरक का अधिकारी होता है हे तात! ऐसी नीति विचार कर तुम घर रह जाओ। यह सुनते ही लक्ष्मणजी बहुत ही व्याकुल हो गये। इन शीतल वचनो से वे कैसे सूख गये, जैसे पाले के स्पर्श से कमल सूख जाता है।

प्रेम वश लक्ष्मण जी से कुछ उत्तर देते नहीं बनता। उन्होंने व्यकुल होकर श्री राम जी के चरण पकड़ लिये और कहा—हे नाथ! मैं दास

हूँ और आप स्वामी हैं; अतः आप मुझे छोड दें तो मेरा क्या वश है ?

अलकार—उदाहरण ।

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं । लागि अगम अपनी कदराईं ॥
नरबर धीर धरम धुर धारी । निगम नीति कहुँ ते अधिकारी ॥
मैं सिसु प्रभु सनेहँ प्रतिपाला । मदरु मेरु कि लेहिं मराला ॥
गुरु पितु मातु न जानउँ काहू ॥ कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबधु उर अंतरजामी ॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही । कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ॥
मन क्रम बचन चरन रत होई । कृपासिधु परिहरिअ कि सोई ॥

करुनासिधु सुबधु के, सुनि मृदु बचन विनीत ।
समुझाए उर लाइ प्रभु, जानि सनेहँ सभीत ॥७२॥

व्याख्या—लक्ष्मण कहते हैं कि हे स्वामी ! आपने मुझे सीख तो बडी अच्छी दी है, पर मुझे अपनी कायरता से वह मेरे लिये अगम लगी । शास्त्र और नीति के तो वे ही श्रेष्ठ पुरुष अधिकारी है जो धीर हैं और धर्म की धुरी को धारण करने वाले । हैं मैं तो प्रभु के स्नेह मे पला हुआ छोटा बच्चा हूँ । कही हस भी मन्दराचल या सुमेरु पर्वत को उठा सकते हैं ? हे नाथ ! स्वभाव से ही कहता हूँ, आप विश्वास करें, मैं आपको छोडकर गुरु, पिता, माता किसी को भी नही जानता । जगत् मे जहाँ तक स्नेह का सम्बन्ध, प्रेम और विश्वास है, जिनको स्वय वेदने गाया है—हे स्वामी ! हे दीनबन्धु ! हे सबके हृदय के अन्दर की जानने वाले ! मेरे तो वे सब कुछ केवल आप ही हैं । धर्म और नीति का उपदेश तो उसको करना चाहिये, जिसे कीर्ति, विभूति या सद्गति प्यारी हो किन्तु जो मन, वचन और कर्म से चरणो मे ही प्रेम रखता हो, हे कृपासिन्धु ! क्या वह भी त्यागने के योग्य है ।

दया के समुद्र श्रीरामचन्द्रजी ने भले भाई के कोमल और नम्रतायुक्त वचन सुनकर और उन्हे स्नेह के कारण डरे हुए जानकर, हृदय से लगा कर समझाया ।

अलंकार—दृष्टान्त।

मागहु बिदा मात, सन जाई। आवहु बेगि चलहु बन भाई॥
मुदित भए सुनि रघुबर बानी। भयउ लाभ बड़ गइ बड़ हानी॥
हरषित हृदयँ मातु पहिं आए। मनहुँ अंध फिरि लोचन पाए॥
जाइ जननि पग नायउ माथा। मनु रघुनंदन जानकि साथा॥
पूँछे मातु मलिन मन देखी। लखन कही सब कथा बिसेषी॥
गई सहमि सुनि बचन कठोरा। मृगी देखि दव जनु चहुँ ओरा॥
लखन लखेउ भा अनरथ आजू। एहिं सनेह बस करब अकाजू॥
मागत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं॥

समुझि सुमित्राँ राम सिय, रूपु सुसील सुभाउ।
नृप सनेहु लखि धुनेउ सिरु, पापिनि दीन्ह कुदाउ॥७३॥

व्याख्या—राम लक्ष्मण से कहते हैं हे भाई! जाकर माता से विदा माँग आओ और जल्दी वन को चलो। रघुकुल में श्रेष्ठ श्रीरामजी की वाणी सुनकर लक्ष्मण जी आनन्दित हो गये। बड़ी हानि दूर हो गयी और बड़ा लाभ हुआ। वे हर्षित हृदय से माता सुमित्राजी के पास आये, मानो अंधा फिर से नेत्र पा गया हो। उन्होंने जाकर माता के चरणों में मस्तक नवाया, किन्तु उनका मन रघुकुल को आनन्द देने वाले श्रीरामजी और जानकीजी के साथ था। माता ने उदास मन देखकर उनसे कारण पूछा। लक्ष्मणजी ने सब कथा विस्तार से कह सुनायी। सुमित्राजी कठोर वचनों को सुनकर ऐसी सहम गयीं जैसे हिरनी चारों ओर वन में आग लगी देखकर सहम जाती है। लक्ष्मण ने देखा कि आज अब अनर्थ हुआ। ये स्नेहवश काम बिगाड़ देंगी। इसलिए वे विदा माँगते हुए डरके मारे सकुचाते हैं और मन ही मन सोचते हैं कि हे विधाता! माता साथ जाने को कहेंगी या नहीं।

सुमित्राजी ने श्रीरामजी और श्रीसीताजी के रूप, सुन्दर शील और स्वभाव को समझकर और उन पर राजा का प्रेम देखकर अपना सिर धुना (पीटा) और कहा कि पापिन कैकेयी ने बुरी तरह घात लगाया।

अलंकार—वृत्यनुप्रास, उत्प्रेक्षा।

धीरज धरेउ कुअवसर जानी। सहज, सहृद बोली मृदु बानी ॥
तात तुम्हारी मातु वैदेही। पिता रामु सब भाँति सनेही ॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइँ दिवसु जहँ भानु प्रकासू ॥
जौं पै सीय रामु बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं ॥
गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं ॥
रामु प्रान प्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के ॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें ॥
अस जियँ जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू ॥

भूरिभाग भाजनु भयहु, मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हारें मन छाडि छलु, कीन्ह राम पद ठाउँ ॥७४॥

व्याख्या—परन्तु कुसमय जानकर धैर्य धारण किया और स्वाभव से ही हित चाहने वाली सुमित्राजी कोमल वाणी में बोली, हे तात ! जानकीजी तुम्हारी माता है और सब प्रकार से स्नेह करने वाले श्री रामचन्द्रजी तुम्हारे पिता हैं। जहाँ श्रीरामजी का निवास हो वही अयोध्या है। जहाँ सूर्य का प्रकाश हो वही दिन है यदि निश्चय ही सीता-राम वन को जाते हैं तो अयोध्या मे तुम्हारा कुछ भी काम नहीं है। गुरु, पिता, माता, देवता और स्वामी—इन सबकी सेवा प्राण के समान करनी चाहिये। फिर श्रीरामचन्द्रजी तो प्राणों के भी प्रिय है, हृदय के भी जीवन है और सभी के स्वार्थरहित सखा है। जगत् मे जहाँ तक पूजनीय और परम प्रिय लोग हैं, वे सब रामजी के नाते से ही पूजनीय और परम प्रिय मानने योग्य हैं। हृदय मे ऐसा जानकर, हे तात ! उनके साथ वन जाओ और जगत् मे जीने का लाभ उठाओ। मैं बलिहारी जाती हूँ, हे पुत्र ! मेरे समेत तुम बड़े ही सौभाग्य के पात्र हुए, जो तुम्हारे चित्त ने छल छोडकर श्रीराम के चरणों मे स्थान प्राप्त किया है।

अलंकार—दृष्टान्त, अनुप्रास।

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई ॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी ॥
तुम्हरेहिं भाग रामु बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं ॥
सकल सुकृत कर बड़ फलु एहू। राम सीय पद सहज सनेहू ॥

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू । जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई । मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ॥
तुम्ह कहुँ बन सब भाँति सुपासू । सँग पितु मातु रामु सिय जासू ॥
जेहिं न रामु बन लहहिं कलेसू । सुत सोइ करेहु इहइ उपदेसू ॥

उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं ।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं ॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई ।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित-नित नई ॥
मातु चरन सिरु नाइ चले, तुरत संकित हृदयँ ।
बागुर बिषम तोराइ मनहुँ, भाग मृग भाग बस ॥७५॥

व्याख्या—सुमित्रा कहती है कि संसार मे वही युवती स्त्री पुत्रवती है जिसका पुत्र श्री रघुनाथजी का भक्त हो । नहीं तो जो राम से विमुख पुत्र से समुख पुत्र से अपना हित जानती है, वह तो बाँझ ही अच्छी । पशु की भाँति उसका पुत्र प्रसव करना व्यर्थ ही है । तुम्हारे ही भाग्य से श्रीरामजी वन को जा रहे हैं । हे तात ! दूसरा कोई कारण नहीं है । सम्पूर्ण पुण्यों का सबसे बड़ा फल यही है कि श्रीसीताजी के चरणों मे स्वाभाविक प्रेम हो । राग, रोष, ईर्ष्या, मद और मोह—इनके वश स्वप्न मे भी मत होना । सब प्रकार के विकारों का त्याग कर मन वचन और कर्म से श्रीसीता और राम की सेवा करना तुम को वन में सब प्रकार से आराम है, जिसके साथ श्री रामजी और सीताजी रूप पिता-माता हैं । हे पुत्र ! तुम वही करना जिससे श्रीरामचन्द्र जी वनमें क्लेश न पावें, पुत्र मेरा यही उपदेश है ।

हे तात ! मेरा यही उपदेश है अर्थात् तुम वही करना जिससे वन मे तुम्हारे कारण श्री रामजी और सीताजी सुख पावें, और पिता, माता, प्रिय परिवार तथा नगर के सुखों की याद भूल जायँ । तुलसीदासजी कहते हैं कि सुमित्रा जी ने इस प्रकार हमारे प्रभु श्रीलक्ष्मणजी को शिक्षा देकर वन जाने की आज्ञा दी और फिर यह आशीर्वाद दिया कि श्रीसीताजी और श्री रघुवीरजी के चरणों मे तुम्हारा निर्मल, निष्काम, और अनन्य एवं, प्रगाढ प्रेम नित-नित नया हो ।

माता के चरणों मे सिर नवाकर हृदय मे डरते हुए [कि अब भी को विघ्न न आ जाय] लक्ष्मण जी तुरत इस तरह चल दिये जैसे सौभाग्यव कोई हिरण कठिन फदे को तुडाकर भाग निकला हो ।

गए लखनु जहँ जानकि नाथू । भे मन मुदित पाइ प्रिय साथू ॥
बंदि राम सिय चरन सुहाए । चले संग नृप मन्दिर आए ॥
कहहिं परस पर पुर नर नारी । भलि बनाइ बिधि बात बिगारी ॥
तन कृस मन दुखु बदन मलीने । बिकल मनहुँ माखी मधु छीने ॥
कर मीजहिं सिरु धुनि पछिताहीं । जनु बिनु पंखु बिहग अकुलाहीं ॥
भइ बडि भीर भूप दरबारा । बरनि न जाइ बिषादु अपारा ॥
सचिवँ उठाइ राउ बैठारे । कहि प्रिय बचन रामु पगु धारे ॥
सिय समेत दोउ तनय निहारी । ब्याकुल भयउ भूमिपति भारी ॥

सीय सहित सुत सुभग दोउ, देखि-देखि अकुलाइ ।
बारहिं बार सनेह बस, राउ लेइ उर लाइ ॥७६॥

व्याख्या—लक्ष्मण जी वहाँ गये जहाँ श्रीजानकीनाथ थे, और प्रिय का साथ पाकर मनमे बडे ही प्रसन्न हुए। श्रीरामजी और सीताजी के सुन्दर चरणो की वन्दना करके वे उनके साथ चले और राजभवन मे आये। नगर के स्त्री-पुरुष आपस मे कह रहे है कि विधाता ने खूब बनाकर बात बिगाडी। उनके शरीर दुबले, मन दुखी और मुख उदास हो रहे है। वे ऐसे व्याकुल है जैसे शहद छीन लिये जाने पर शहद की मक्खियाँ व्याकुल हो। सब हाथ मल रहे हैं और सिर पीटकर पछता रहे है। मानो बिना पख के पछी व्याकुल हो रहे हो। राजद्वार पर बड़ी भीड हो रही है। अपार विषाद का वर्णन नही किया जा सकता। श्रीरामचन्द्रजी पधारे हैं, ये प्रिय वचन कहकर मन्त्री ने राजा को उठाकर बैठाया। सीता-सहित दोनो पुत्रो को वन के लिये तैयार देखकर राजा बहुत व्याकुल हुए।

सीता सहित दोनो सुन्दर पुत्रो को देखकर राजा अकुलाते है और स्नेहवश बार बार उन्हें हृदय से लगा लेते हैं।

अलकार—उत्प्रेक्षा,।

रस—करुण

सकइ न बोलि बिकल नरनाहू। सोक जनित उर दारुन दाहू॥
नाइ सीसु पद अति अनुरागा। उठि रघुबीर बिदा तब मागा॥
पितु असीस आयसु मोहि दीजै। हरष समय बिसमउ कत कीजै॥
तात किएँ प्रिय प्रेम प्रमादू। जसु जग जाइ होइ अपबादू॥
सुनि सनेह बस उठि नरनाहाँ। बैठारे रघुपति गहि बाहाँ॥
सुनहु तात तुम्ह कहु मुनि कहहीं। रामु चराचर नायक अहहीं॥
सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईसु देइ फलु हृदयँ बिचारी॥
करइ जो करम पाव फल सोई। निगम नीति असि कह सब कोई॥
और करै अपराधु कोउ, और पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंत गति, को जग जानै जोगु॥७७॥

व्याख्या—राजा व्याकुल है, बोल नहीं सकते। हृदय में शोक से उत्पन्न भयानक संताप है। तब रघुकुल के वीर श्री रामचन्द्रजी ने अत्यन्त प्रेम चरणों में सिर नवाकर उठकर विदा माँगी। हे पिताजी! मुझे आशीर्वाद और आज्ञा दीजिए। हर्ष के समय आप शोक क्यों कर रहे हैं? हे तात! प्रिय प्रेमवश प्रमाद करने में जगत् में यश जाता रहेगा और निन्दा होगी, यह सुनकर स्नेहवश राजा ने उठकर श्री रघुनाथ जी को बाँह पकड़कर उन्हें बैठा लिया और कहा—हे तात! सुनो, तुम्हारे लिए मुनि लोग कहते हैं कि श्री राम चराचर के स्वामी हैं। शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार ईश्वर हृदय में विचार कर फल देता है। जो कर्म करता है वही फल पाता है। ऐसी वेद की नीति है, यह सब कोई कहते हैं।

किन्तु इस अवसर पर तो इसके विपरीत हो रहा है, अपराध तो कोई और ही करे और उसके फल का भोग कोई और ही पावे। भगवान की लीला बड़ी ही विचित्र है, उसे जानने योग्य जगत् में कौन है?

अलंकार – वृत्यनुप्रास, असंगति, अनुप्रास।

रायँ राम राखन हित लागी। बहुत उपाय किए छलु त्यागी॥
लखी राम रुख रहत न जाने। धरम धुरंधर धीर सयाने॥
तब नृप सीय लाइ उर लीन्ही। अति हित बहुत भाँति सिख दीन्हीं॥

कहि बन के दुख दुसह सुनाए। सासु ससुर पितु सुख समुझाए ॥
सिय मनु राम चरन अनुरागा। घरु न सुगमु बनु बिषमु न लागा ॥
औरउ सबहिं सीय समुझाई। कहि-कहि बिपिन बिपति अधिकाई ॥
सचिव नारि गुर नारि सयानी। सहित सनेह कहहिं मृदु बानी ॥
तुम्ह कहुँ तौ न दीन्ह बनबासू। करहु जो कहहिं ससुर गुर सासू ॥
सिख सीतलि हित मधुर मृदु, सुनि सीतहि न सोहानि।
सरद चंद चंदिनि लगत, जनु चकई अकुलानि ॥७८॥

व्याख्या—राजा ने इस प्रकार श्री रामचन्द्र जी को रखने के लिये छल छोड़कर बहुत से उपाय किये। पर जब उन्होंने धर्मधुरन्धर, धीर और बुद्धिमान श्री रामजी का रुख देख लिया और वे रहते हुए न जान पड़े। तब राजा ने सीता को हृदय से लगा लिया और बड़े प्रेम से बहुत प्रकार की शिक्षा दी। वन के दुःसह दुख कहकर सुनाये। फिर सास, ससुर तथा पिता के पास रहने के सुखों को समझाया, परन्तु सीताजी का मन श्री रामचन्द्र जी के चरणों में अनुरक्त था। इसलिये उन्हें घर अच्छा नहीं लगा और न वन भयानक लगा। फिर और सब लोगों ने भी वन में विपत्तियों की अधिकता बता-बताकर सीता जी को समझाया। मन्त्री सुमन्त्रजी की पत्नी और गुरु वशिष्ठजी की स्त्री अरुन्धतीजी तथा और भी चतुर स्त्रियाँ स्नेह के साथ कोमल वाणी से कहती है कि तुमको तो राजा ने वनवास दिया नहीं है। इसलिये जो ससुर, गुरु और सास कहें, तुम वही करो।

यह शीतल, हितकारी, मधुर और कोमल सीख सुनने पर सीताजी को अच्छी नहीं लगी। वे इस प्रकार व्याकुल हो गयी मानो शरद् ऋतु के चन्द्रमा की चाँदनी लगते ही चकई व्याकुल हो उठी हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

सीय सकुच बस उतरु न देई। सो सुनि तमकि उठी कैकेई ॥
मुनि पट भूषन भाजन आनी। आगें धरि बोली मृदु बानी ॥
नृपहि प्रान प्रिय तुम्ह रघुबीरा। सील सनेह न छाड़िहि भीरा ॥
सुकृत सुजसु परलोक नसाऊ। तुम्हहि जान बन कहिहि न काऊ ॥

अस बिचारि सोइ करहु जो भावा। राम जननि सिख सुनि सुखु पावा॥
भूपहि वचन बान सम लागे। करहिं न प्रान पयान अभागे॥
लोग विकल मुरछित नरनाहू। काह करिअ कछु सूझ न काहू॥
रामु तुरत मुनि वेषु बनाई। चले जनक जननिहि सिर नाई॥

सजि बन साजु समाजु, सबु बनिता बंधु समेत।
बंदि विप्र गुर चरन प्रभु, चले करि सबहि अचेत॥७९॥

व्याख्या—सीताजी सकोच वश उत्तर नहीं देतीं। इन बातों को सुनकर कैकेयी तमककर उठीं। उसने मुनियों के वस्त्र, आभूषण, माला, मेखला आदि और बर्तन कमण्डलु आदि लाकर श्री रामचन्द्रजी के आगे रख दिए और कोमल वाणी से कहा, हे रघुवीर! राजा को तुम प्राणों के समान प्रिय हो। प्रेमवश दुर्बल हृदय के राजा शील और स्नेह नहीं छोड़ेंगे। पुण्य, सुन्दर यश और परलोक चाहे नष्ट हो जाय, पर तुम्हें वन जाने को वे कभी न कहेंगे। ऐसा विचारकर जो तुम्हें अच्छा लगे वही करो। माता की सीख सुनकर श्रीराम-चन्द्रजी ने बड़ा सुख पाया। परन्तु राजा को ये वचन बाण के समान लगे। वे सोचने लगे अब भी अभागे प्राण क्यों नहीं निकलते? राजा मूर्छित हो गये, लोग व्याकुल हैं। किसी को कुछ सूझ नहीं पड़ता कि क्या करें। श्रीरामचन्द्रजी तुरत मुनि का वेष बनाकर और माता-पिता को सिर नवाकर चल दिये।

वन के लिये आवश्यक वस्तुओं को साथ लेकर श्रीरामचन्द्रजी स्त्री श्री सीताजी और भाई लक्ष्मणजी सहित, ब्राह्मण और गुरु के चरणों की वन्दना करके सबको अचेत करके चले।

निकसि वसिष्ठ द्वार भए ठाढ़े। देखे लोग विरह दव दाढ़े॥
कहि प्रिय वचन सकल समुझाए। विप्र वृंद रघुवीर बोलाए॥
गुर सन कहि वरषासन दीन्हे। आदर दान विनय वस कीन्हे॥
जाचक दान मान संतोषे। मीत पुनीत प्रेम परितोषे॥
दासी दास बोलाइ बहोरी। गुरहि सौंपि बोले कर जोरी॥
सब कै सार सँभार गोसाईं। करबि जनक जननी की नाईं॥
बारहिं बार जोरि जुग पानी। कहत रामु सब सन मृदु बानी॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जेहि तें रहै भुआल सुखारी॥

मातु सकल मोरे बिरहँ, जेहि न होहिं दुख दीन।
सोइ उपाउ तुम्ह करेहु, सब पुर जन परम प्रबीन ॥८०॥

व्याख्या—राजमहल से निकलकर श्रीरामचन्द्रजी वशिष्ठजी के दरवाजे पर जा खडे हुए और समझाया। फिर श्रीरामचन्द्रजी ने ब्राह्मणो की मण्डली को बुलाया और गुरुजी से कहकर उन सबको वर्ष भर का भोजन दिया और आदर, दान तथा विनय से उन्हे वश मे कर लिया। फिर याचको को दान और मान देकर सन्तुष्ट किया, तथा मित्रो को पवित्र प्रेम से प्रसन्न किया। फिर दास-दासियो को बुलाकर उन्हे गुरुजी को सौंपकर, हाथ जोडकर बोले—हे गुसाई! इनकी माता-पिता के समान सार-सँभार देख-रेख करते रहियेगा। श्रीरामचन्द्रजी बार-बार दोनो हाथ जोडकर सबसे कोमल वाणी मे कहते है कि मेरा सब प्रकार मे हितकारी मित्र वही होगा जिसकी चेष्टा से महाराज सुखी रहे।

हे परम चतुर पुरवासी सज्जनो! आपलोग सब वही उपाय करियेगा जिससे मेरी सब माताएँ मेरे विरह के दुःख से दुखी न हो।

एहि बिधि राम सबहि समुझावा। गुर पद पदुम हरषि सिरु नावा॥
गनपति गौरि गिरीसु मनाई। चले असीस पाइ रघुराई॥
राम चलत अति भयउ बिषादू। सुनि न जाइ पुर आरत नादू॥
कुसगुन लक अवध अति सोकू। हरष बिषाद बिबस सुरलोकू॥
गइ मुरछा तब भूपति जागे। बोलि सुमन्त्रु कहन अस लागे॥
रामु चले बन प्रान न जाहीं। केहि सुख लागि रहत तन माहीं॥
एहि तें कवन ब्यथा बलवाना। जो दुखु पाइ तजहिं तनु प्राना॥
पुनि धरि धीर कहइ नरनाहू। लै रथु संग सखा तुम्ह जाहू॥

सुठि सुकुमार कुमार दोउ, जनकसुता सुकुमारि।
रथ चढाइ देखराइ बनु फिरेहु, गए दिन चारि ॥८१॥

व्याख्या—इस प्रकार श्रीरामजी ने सबको समझाया और हर्षित होकर गुरुजी के चरण-कमलो मे सिर नवाया। फिर गणेशजी, पार्वतीजी और कैलाशपति महादेवजी को मनाकर तथा आशीर्वाद पाकर श्रीरघुनाथजी चले। श्रीरामजी के चलते ही बडा भारी विषाद हो गया। नगर का आर्तनाद (हाहाकार) सुना नही जाता। लङ्का मे बुरे शकुन होने लगे। अयोध्या में

अत्यन्त शोक छा गया और देवलोक मे सब हर्ष और विषाद दोनो के वश मे हो गये। हर्ष इस बात का था कि अब राक्षसो का नाश होगा और विषाद अयोध्या वासियो के शोक के कारण था। मूर्छा दूर होते तब राजा सुमन्त्र को बुलाकर ऐसा कहने लगे—श्रीराम वन को चले गये, पर मेरे प्राण नही जा रहे हैं। न जाने ये किस सुख के लिये शरीर मे टिक रहे हैं। इससे अधिक बलवती कौन-सी व्यथा होगी, जिस दुःख को पाकर प्राण शरीर को छोडेंगे। फिर धीरज धरकर राजा ने कहा—हे सखा तुम रथ लेकर श्रीराम के साथ जाओ।

अत्यन्त सुकुमारो को और सुकुमारी जानकी को रथ में चढाकर, वन दिखलाकर चार दिन के बाद लौट आना।

जो नहिं फिरहिं धीर दोउ भाई। सत्यसंध दृढ़ व्रत रघुराई॥
तौ तुम्ह विनय करेहु कर जोरी। फेरिअ प्रभु मिथिलेस किसोरी॥
जब सिय कानन देखि डेराई। कहेहु मोरि सिख अवसरु पाई॥
सासु ससुर अस कहेउ सँदेसू। पुत्रि फिरिअ बन बहुत कलेसू॥
पितुगृह कबहुँ कबहुँ ससुरारी। रहेहु जहाँ रुचि होइ तुम्हारी॥
एहि विधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥
नाहिं त मोर मरनु परिनामा। कछु न बसाइ भएँ विधि बामा॥
अस कहि मुरुछि परउ महि राऊ। रामु लखनु सिय आनि देखाऊ॥

पाइ रजायसु नाइ सिरु, रथु अति बेग बनाइ।
गयउ जहाँ बाहेर नगर सीय, सहित दोउ भाइ॥८२॥

व्याख्या—यदि धैर्यवान दोनो भाई न लौटे—क्योकि श्रीरघुनाथ जी प्रण के सच्चे और दृढ़ता से नियम का पालन करने वाले हैं—तो तुम हाथ जोड़कर विनती करना कि हे प्रभो! जनक कुमारी सीताजी को तो लौटा दीजिये। जब सीता वन को देखकर डरें, तब मौका पाकर मेरी यह सीख उनसे कहना कि तुम्हारे सास ससुर ने ऐसा सन्देश कहा है कि हे पुत्री! तुम लौट चलो, वन में बहुत क्लेश है। कभी पिता के घर, कभी ससुराल, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वही रहना। इस प्रकार तुम बहुत से उपाय करना। यदि सीताजी लौट आयी तो मेरे प्राणों को सहारा हो जायगा। नही तो अन्त मे मेरा मरण ही होगा।

विधाता के विपरीत होने पर कुछ वश नही चलता। मुझे राम, लक्ष्मण और सीता को लाकर दिखाओ। ऐसा कहकर राजा मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े।

सुमन्त्र जी राजा की आज्ञा पाकर, सिर नवाकर और बहुत जल्दी रथ जुड़वाकर वहाँ गये जहाँ नगर के बाहर सीताजी-सहित दोनो भाई थे।

१—अलंकार—अनुप्रास।

२—रस—करुण।

तब सुमन्त्र नृप वचन सुनाए। करि विनती रथ रामु चढाए॥
चढि रथ सीय सहित दोउ भाई। चले हृदयँ अवधहि सिरु नाई॥
चलत रामु लखि अवध अनाथा। विकल लोग सब लागे साथा॥
कृपासिंधु बहुबिधि समुझावहिं। फिरहिं प्रेम बस पुनि फिरि आवहिं॥
लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधिआरी॥
घोर जंतु सम पुर नर नारी। डरपहिं एकहि एक निहारी॥
घर मसान परिजन जनु भूता। सुत हित मीत मनहुँ जमदूता॥
बागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं। सरित सरोवर देखि न जाहीं॥

हय गय कोटिन्ह केलिमृग, पुर पसु चातक मोर।
पिक रथांग सुक सारिका, सारस हंस चकोर॥८३॥

शब्दार्थ—रथांग=चकवे।

संदर्भ—प्रस्तुत प्रसंग मे गोस्वामी तुलसीदास राम के वन गमन के समय अयोध्या मे व्यापक भय और करुणा का वर्णन कर रहे हैं।

व्याख्या—तब वहाँ पहुँचकर सुमन्त्र ने राजा के वचन श्रीरामचन्द्रजी को सुनाये और विनती करके उनको रथ पर चढाया। सीता सहित दोनो भाई रथ पर चढकर हृदय मे अयोध्या को सिर नवाकर चले। श्रीरामचन्द्रजी को जाते हुए और अयोध्या को अनाथ होते हुए देखकर सब लोग व्याकुल होकर उनके साथ हो लिये। कृपा के समुद्र श्रीरामजी उन्हे बहुत तरह से समझाते हैं, तो वे अयोध्या की ओर लौट जाते हैं, परन्तु प्रेमवश फिर लौट आते है। अयोध्यापुरी बड़ी भयानक लग रही है। मानो अन्धकारमयी कालरात्रि ही हो। नगर के नर-नारी भयानक जन्तुओ के समान एक-दूसरे को देखकर डर रहे हैं। घर

श्मशान, कुटुम्बी भूत-प्रेत तथा पुत्र हितैषी और मित्र मानो यमराज के दूत है। बगीचों मे वृक्ष और बेलें कुम्हला रही है। नदी और तालाब ऐसे भयानक लगते हैं कि उनकी ओर देखा भी नहीं जाता।

करोड़ों घोड़े, हाथी, खेलने के लिये पाले हुए हिरन, नगर के गाय, बैल, बकरी आदि पशु, पपीहे, मोर, कोयल, चकवे, तोते, मैना, सारस, हंस और चकोर आदि सभी करुणा-विह्वल हो रहे है।

१—अलकार—छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, उत्प्रेक्षा, उपमा।

२—रस—करुणा, से पुष्ट समाप्त।

राम वियोग विकल सब ठाढ़े। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े॥
नगरु सफल बनु गहवर भारी। खग मृग विपुल सकल नर नारी॥
विधि कैकइ किरातिनि कीन्ही। जेहिं दव दुसह दसहुँ दिसि दीन्ही॥
सहि न सके रघुवर विरहागी। चले लोग सब व्याकुल भागी॥
सबहिं विचारु कीन्ह मन माहीं। राम लखन सिय बिनु सुखु नाहीं॥
जहाँ रामु तहँ सबुइ समाजू। बिनु रघुबीर अवध नहिं काजू॥
चले साथ अस मंत्रु दृढ़ाई। सुर दुर्लभ सुख सदन बिहाई॥
राम चरन पकज प्रिय जिन्हही। विषय भोग बस करहिं कि तिन्हही॥

बालक वृद्ध विहाइ गृहँ, लगे लोग सब साथ।
तमसा तीर निवासु किय, प्रथम दिवस रघुनाथ॥८४॥

शब्दार्थ—किरातिनि=भीलनी। दव=दावाग्नि।

संदर्भ—प्रस्तुत प्रसग मे अयोध्या वासियों की करुण विरह—विह्वलता का वर्णन है—

व्याख्या—श्रीरामजी के वियोग मे सभी व्याकुल हुए जहाँ-तहाँ ऐसे चुप चाप स्थिर होकर खडे हैं, मानो तस्वीरों मे लिखकर बनाये हुए हैं। नगर मानो फलो से परिपूर्ण बड़ा भारी सघन वन था। नगर निवासी सब स्त्री-पुरुष बहुत से पशु-पक्षी थे। अर्थात् अवधपुरी अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चारो फलों को देने वाली नगरी थी और सब स्त्री-पुरुष सुख से उन फलो को प्राप्त करते थे। विधाता ने कैकेयी को भीलनी बनाया, जिसने दसों दिशाओं मे दु सह दावाग्नि लगा दी। श्रीरामचन्द्रजी के विरह की इस अग्नि को लोग सह न सके। सब

लोग व्याकुल होकर भाग चले सबने मन मे विचार कर लिया कि श्रीरामजी, लक्ष्मणजी और सीताजी के बिना सुख नही है। जहाँ श्रीरामजी रहेंगे, वही सारा समाज रहेगा। श्रीरामचन्द्रजी के बिना अयोध्या मे हम लोगो का कुछ काम नही है। ऐसा विचार दृढ करके देवताओ को भी दुर्लभ सुखो से पूर्ण घरो को छोडकर सब श्रीरामचन्द्रजी के साथ चल पडे। जिनको श्रीरामजी के चरण-कमल प्यारे है, उन्हे क्या कभी विषय-भोग वश मे कर सकते है ?

बच्चो और बूढो को घरो मे छोड़कर सब लोग साथ हो लिये। पहले दिन श्रीरघुनाथजी ने तमसा नदी के तीर पर निवास किया।

१—अलकार—'मनहुँ ' ' काढ़े' मे उत्प्रेक्षा, नगर मे वन का अङ्गो सहित आरोप होने से सागरूपक।

२—रस—करुण।

रघुपति प्रजा प्रेमबस देखी। सदय हृदयँ दुखु भयउ बिसेषी॥
करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥
कहि सप्रेम मृदु बचन सुहाए। बहुबिधि राम लोग समुझाए॥
किए धरम उपदेस घनेरे। लोग प्रेम बस फिरहिं न फेरे॥
सीलु सनेहु छाडि नहिं जाई। असमजस बस भे रघुराई॥
लोग सोग श्रम बस गए सोई। कछुक देव मायाँ मति मोई॥
जबहिं जाम जुग जामिनि बीती। राम सचिव सन कहेउ सप्रीती॥
खोज मारि रथु हाँकहु ताता। आन उपायँ बनिहि नहिं बाता॥
राम लखन सिय जान चढि, संभु चरन सिरु नाइ।
सचिवँ चलायउ तुरत रथु, इत उत खोज दुराइ॥८५॥

व्याख्या—प्रजा को प्रेमवश देखकर श्रीरघुनाथजी के दयालु हृदय मे बडा दुःख हुआ। प्रभु श्रीरघुनाथजी करुणामय है। दूसरे का दुःख देखकर वे तुरन्त स्वय दु.खित हो जाते है। प्रेमयुक्त कोमल और सुन्दर वचन कहकर श्रीरामजी ने बहुत प्रकार से लोगो को समझाया और बहुतेरे धर्म सम्बन्धी उपदेश दिये, परन्तु प्रेमवश लोग लौटाये नही लौटाते उनसे शील और स्नेह छोडा नही जाता। श्रीरघुनाथजी दुविधा मे पड गये। शोक और थकावट के मारे लोग सो गये। और कुछ देवताओ की माया से भी उनकी बुद्धि मोहित हो गयी। जब दो पहर

रात बीत गयी, तब श्रीरामचन्द्रजी ने प्रेमपूर्वक मन्त्री सुमन्त्र से कहा—हे तात पहियों के चिह्नों से दिशा का पता न चले, इस प्रकार रथ को हाँकिये और किसी उपाय से बात नहीं बनेगी।

शंकरजी के चरणों में सिर नवाकर श्रीरामजी, लक्ष्मणजी और सीताजी रथ पर सवार हुए। मन्त्री ने तुरंत ही रथ को इधर-उधर खोज छिपाकर रथ चला दिया।

जागे सकल लोग भएँ भोरू। गे रघुनाथ भयउ अति सोरू॥
रथ कर खोज कतहुँ नहिं पावहिं। राम राम कहि चहुँ दिसि धावहिं॥
मनहुँ बारिनिधि बूड जहाजू। भयउ बिकल बड बनिक समाजू॥
एकहि एक देहिं उपदेसू। तजे राम हम जानि कलेसू॥
निंदहिं आपु सराहहिं मीना। धिक जीवनु रघुबीर बिहीना॥
जौं पै प्रिय बियोगु बिधि कीन्हा। तौ कस मरनु न मागें दीन्हा॥
एहि बिधि करत प्रलाप कलापा। आए अवध भरे परितापा॥
बिषम बियोगु न जाइ बखाना। अवधि आस सब राखहिं प्राना॥

राम दरस हित नेम ब्रत, लगे करन नर नारि।
मनहुँ कोक कोकी कमल दीन, बिहीन तमारि॥८६॥

व्याख्या—सवेरे होते ही सब लोग जागे, तो बडा शोर मचा कि श्रीरघुनाथ जी चले गये। कहीं रथ का खोज नहीं पाते, सब 'हा राम! हा राम!' पुकारते हुए चारो ओर दौड़ रहे हैं, मानो समुद्र में जहाज डूब गया हो, जिससे व्यापारियों का समुदाय बहुत ही व्याकल हो उठा हो। वे एक दूसरे को उपदेश देते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी ने हम लोगो को क्लेश होगा, यह जानकर छोड दिया है। वे लोग अपनी निन्दा करते है और मछलियो की सराहना करते हैं। कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी के बिना हमारे जीने को धिक्कार है। विधाता ने यदि प्यारे का वियोग ही रचा, तो फिर उसने माँगने पर मृत्यु क्यो नही दी। इस प्रकार बहुत-से प्रलाप करते हुए वे सन्ताप में भरे हुए अयोध्याजी मे आये। उन लोगो के विषम-वियोग की दशा का वर्णन नहीं किया जा सकता। चौदह साल की अवधि की आशा से ही वे प्राणों को रख रहे हैं।

सब स्त्री-पुरुष श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन के लिये नियम और व्रत करने लगे और ऐसे दुखी हो गये जैसे चकवा, चकवी और कमल सूर्य के बिना दीन हो जाते हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, पुनरुक्तिप्रकाश।

सीता सचिव सहित दोउ भाई। सृंगवेरपुर पहुँचे जाई॥
उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरषु बिसेषी॥
लखन सचिवँ सियँ किए प्रनामा। सबहि सहित सुखु पायउ रामा॥
गंग सकल मुद मंगल मूला। सब सुख करनि हरनि सब सूला॥
कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा। रामु बिलोकहिं गंग तरंगा॥
सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुध नदी महिमा अधिकाई॥
मज्जनु कीन्ह पंथ श्रम गयऊ। सुचि जलु पिअत मुदित मन भयऊ॥
सुमिरत जाहि मिटइ श्रम भारू। तेहि श्रम यह लौकिक ब्यवहारू॥

सुद्ध सच्चिदानंदमय, कंद भानुकुल केतु।
चरित करत नर अनुहरत, संसृति सागर सेतु॥८७॥

शब्दार्थ—बिबुध नदी=गंगा जी। संसृति सागर=संसार रूपी समुद्र।

व्याख्या—सीताजी और मन्त्री-सहित दोनों भाई शृंगवेरपुर जा पहुँचे। गङ्गाजी को देखकर श्रीरामजी रथ से उतर पड़े और बड़े हर्ष के साथ उन्होंने दण्डवत् की। लक्ष्मणजी, सुमन्त्र और सीताजी ने भी प्रणाम किया। सब के साथ श्रीरामचन्द्रजी ने सुख पाया। गङ्गाजी समस्त आनन्द-मङ्गलों की मूल हैं। वे सब सुखों की करने वाली और सब पीड़ाओं की हरने वाली हैं। अनेक कथा-प्रसङ्ग कहते हुए श्रीरामजी गङ्गाजी की तरङ्गों को देख रहे हैं। उन्होंने मन्त्री को, छोटे भाई लक्ष्मणजी को और प्रिया सीताजी को गंगा की बड़ी महिमा सुनायी। इसके बाद सबने स्नान किया, जिससे मार्ग का सारा श्रम (थकावट) दूर हो गया और पवित्र जल पीते ही मन प्रसन्न हो गया। जिनके स्मरणमात्र से बार-बार जन्मने और मरने का महान् श्रम मिट जाता है, उनको 'श्रम' होना—यह केवल लौकिक नर-लीला है।

शुद्ध (प्रकृतिजन्य त्रिगुणों से रहित, मायातीत दिव्य मङ्गल-विग्रह) सच्चिदानन्द-कन्दस्वरूप सूर्य कुल के ध्वजा रूप भगवान् श्रीरामचन्द्रजी मनुष्यों के

सदृश ऐसे चरित्र करते है, जो मनाररूपी समुद्र के पार उतरने के लिये पुल के समान है।

अलंकार—रूपक, उपमा।

यह सुधि गुहँ निषाद जब पाई। मुदित लिए प्रिय बंधु बोलाई॥
लिए फल मूल भेंट भरि भारा। मिलन चलेउ हियँ हरषु अपारा॥
करि दंडवत भेंट धरि आगें। प्रभुहि बिलोकत अति अनुरागें॥
सहज सनेह बिबस रघुराई। पूँछी कुसल निकट बैठाई॥
नाथ कुसल पद पंकज देखें। भयउँ भाग भाजन जन लेखें॥
देव धरनि धनु धामु तुम्हारा। मैं जनु नीचु सहित परिवारा॥
कृपा करिअ पुर धारिअ पाऊ। थापिय जनु सबु लोगु सिहाऊ॥
कहेहु सत्य सबु सखा सुजाना। मोहि दीन्ह पितु आयसु आना॥
बरष चारिदस बासु बन, मुनि ब्रत बेषु अहारु।
ग्राम बासु नहिं उचित सुनि, गुहहि भयउ दुखु भारु॥८८॥

शब्दार्थ—भारा=बहंगियाँ। भाग्य-भाजन=भाग्यवान।

व्याख्या—राम के आने का समाचार जब निषादराज गुह को मिला तब आनन्दित होकर उसने अपने प्रियजनों और भाई-बन्धुओं को बुला लिया और भेंट देने के लिये फल, मूल लेकर और उन्हें भारों-बहंगियों में भरकर मिलने के लिये चला। उसके हृदय में हर्ष का पार नहीं था। दण्डवत करके भेंट सामने रखकर वह अत्यन्त प्रेम से प्रभु को देखने लगा। श्रीरघुनाथ ने स्वाभाविक स्नेह के वश होकर उसे अपने पास बैठाकर कुशल पूछी। निषादराज ने उत्तर दिया—हे नाथ! आपके चरण कमलों के दर्शन से ही कुशल है। आपके चरणारविन्दों के दर्शन कर आज मैं भाग्यवान् पुरुषों की गिनती में आ गया। हे देव! यह पृथ्वी, धन और घर सब आपका है। मैं तो परिवार सहित आपका नीच सेवक हूँ। अब कृपा करके शृंगवेरपुर में पधारिये और इस दास को प्रतिष्ठा बढ़ाइये, जिससे सब लोग मेरे भाग्य की बड़ाई करें। श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—हे सुजान सखा! तुमने जो कुछ कहा सब सत्य है। परन्तु पिताजी ने मुझको और ही आज्ञा दी है।

उसने अनुसार मुझे चौदह वर्ष तक मुनियों का व्रत और वेष धारण कर और मुनियों के योग्य आहार करते हुए वन में ही बसना है, गाँव के भीतर निवास करना उचित नहीं है। यह सुनकर गुह को बड़ा दुःख हुआ।

राम लखन सिय रूप निहारी। कहहिं सप्रेम ग्राम नर नारी॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए वन बालक ऐसे॥
एक कहहिं भल भूपति कीन्हा। लोयन लाहु हमहि विधि दीन्हा॥
तब निषादपति उर अनुमाना। तरु सिंसुपा मनोहर जाना॥
लै रघुनाथहि ठाउँ देखावा। कहेउ राम सब भाँति सुहावा॥
पुरजन करि जोहारु घर आए। रघुबर सन्ध्या करन सिधाए॥
गुहँ सँवारि साँथरी डसाई। कुस किसलयमय मृदुल सुहाई॥
सुचि फल मूल मधुर मृदु जानी। दोना भरि भरि राखेसि आनी॥
सिय सुमंत्र भ्राता सहित, कंद मूल फल खाइ।
सयन कीन्ह रघुबंसमनि, पाँय पलोटत भाइ॥८९॥

शब्दार्थ—लोयन=नेत्र। सिंसुपा=अशोक। जोहार=वन्दना।

व्याख्या—श्रीरामजी, लक्ष्मणजी और सीताजी के रूप को देखकर गाँव के स्त्री-पुरुष प्रेम के साथ चर्चा करते हैं। कोई कहती है—हे सखी! कहो तो, वे माता-पिता कैसे हैं, जिन्होंने ऐसे सुन्दर सुकुमार बालकों को वन में भेज दिया है। कोई कहते हैं—राजा ने अच्छा ही किया, इसी बहाने हमें भी ब्रह्मा नेत्रों का लाभ दिया। तब निषादराज ने हृदय में अनुमान किया, अशोक के पेड़ को उनके ठहरने के लिये मनोहर समझा, उसने श्रीरघुनाथजी को ले जाकर वह स्थान दिखाया। श्रीरामचन्द्रजी ने [देखकर] कहा कि यह सब प्रकार से सुन्दर है। पुरवासी लोग वन्दना करके अपने-अपने घर लौटे और श्रीरामचन्द्रजी सन्ध्या करने पधारे गुहने। इसी बीच कुश और कोमल पत्तों की कोमल और सुन्दर साथरी सजाकर बिछा दी, और पवित्र, मीठे और कोमल देख-देखकर दोनों में भर-भरकर फल-मूल और पानी भरकर रख दिया।

सीताजी, सुमन्त्रजी और भाई लक्ष्मणजी सहित कन्द-मूल-फल खाकर रघुकुलमणि श्रीरामचन्द्रजी लेट गये। भाई लक्ष्मणजी उनके पैर दबाने लगे।

उठे लखनु प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी॥
कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन॥
गुहँ बोलाइ पाहरू प्रतीती। ठावँ ठावँ राखे अति प्रीती॥
आपु लखन पहिं बैठेउ जाई। कटि भाथी सर चाप चढ़ाई॥
सोवत प्रभुहि निहारि निषादू। भयउ प्रेम बस हृदयँ बिषादू॥
तनु पुलकित जलु लोचन बहई। बचन सप्रेम लखन सन कहई॥
भूपति भवन सुभायँ सुहावा। सुरपति सदनु न पटतर पावा॥
मनिमय रचित चारु चौबारे। जनु रतिपति निज हाथ सँवारे॥

सुचि सुबिचित्र सुभोगमय, सुमन सुगंध सुबास।
पलँग मंजु मनि दीप जहँ, सब बिधि सकल सुपास॥९०॥

शब्दार्थ—पाहरू प्रतीती=विश्वासपात्र पहरे वाले। भाथी=तरकस।

व्याख्या—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी को सोते जानकर लक्ष्मणजी उठे और कोमल वाणी से मन्त्री सुमन्त्रजी को सोने के लिये कहकर वहाँ से कुछ दूर पर धनुष-बाण से सजकर, वीरासन से बैठकर पहरा देने लगे। गुह ने विश्वासपात्र पहरेदारों को बुलाकर अत्यन्त प्रेम से जगह-जगह नियुक्त कर दिया और आप तरकस बाँधकर तथा धनुष पर बाण चढ़ाकर लक्ष्मणजी के पास जा बैठा। प्रभु को जमीन पर सोते देखकर प्रेमवश निषादराज के हृदय में विषाद हो आया। उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रों से प्रेमाश्रुओं का जल बहने लगा। वह प्रेम सहित लक्ष्मणजी से वचन कहने लगा।

महाराज दशरथजी का महल तो स्वभाव से ही सुन्दर है, इन्द्रभवन भी जिसकी समानता नहीं पा सकता। उसमें सुन्दर मणियों के रचे चौबारे हैं, जिन्हें मानो रति के पति कामदेव ने अपने ही हाथों सजाकर बनाया है।

जो पवित्र, बड़े ही विलक्षण, सुन्दर भोग पदार्थों से पूर्ण और फूलों की सुगन्ध से सुवासित हैं, जहाँ सुन्दर पलँग और मणियों के दीपक हैं तथा सब प्रकार का पूरा आराम है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, वृत्यनुप्रास।

बिबिध बसन उपधान तुराईं। छीर फेन मृदु बिसद सुहाईं॥
तहँ सिय रामु सयन निसि करहीं। निज छबि रति मनोज मदु हरहीं॥

ते सिय रामु साथरीं सोए। श्रमित बसन बिनु
मातु पिता परिजन पुरवासी। सखा सुसील दा
जोगवहिं जिन्हहि प्रान की नाईं। महि सोवत तेइ
पिता जनक जग बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस स
रामचदु पति सो बैदेही। सोवत महि बिधि बा ॥
सिय रघुबीर कि कानन जोगू। करम प्रधान सत्य कह लोगू ॥

कैकयनदिनि मदमति, कठिन कुटिलपनु कीन्ह।
जेहिं रघुनदन जानकिहि, सुख अवसर दुख दीन्ह ॥९१॥

व्याख्या—जहाँ ओढने-बिछाने के अनेको वस्त्र, तकिये और गद्दे हैं, जो दूध के फेन के समान कोमल, निर्मल और सुन्दर हैं, वहाँ उन चौवारो में श्रीसीताजी और श्रीरामचन्द्रजी रात को सोया करते थे और अपनी शोभा से रति और कामदेव के गर्व को हरण करते थे। वही श्रीसीता और श्रीरामजी आज घास-फूस की साथरी पर थके हुए बिना वस्त्र के ही सोये हैं। ऐसी दशा में वे देखे नही जाते। माता, पिता, कुटुम्बी, पुरवासी (प्रजा), मित्र, अच्छे शील-स्वभाव के दास और दासियाँ सब जिनकी अपने प्राणो की तरह सार-सँभार करते थे, वही प्रभु श्रीरामचन्द्रजी आज पृथ्वीपर सो रहे हैं, जिनका प्रभाव जगत् मे प्रसिद्ध है, जिनके ससुर इन्द्र के मित्र रघुराज दशरथजी है और पति श्रीरामचन्द्रजी है, वही जानकीजी आज जमीन पर सो रही है। विधाता किसको प्रतिकूल नही होता! सीताजी और श्रीरामचन्द्रजी क्या वन के योग्य हैं? लोग सच कहते हैं कि कर्म ही प्रधान है।

कैकेयराज की लडकी नीचबुद्धि कैकेयी ने बडी ही कुटिलता की, जिसने रघुनन्दन श्रीराम को और जानकीजी को सुख के समय दुःख दिया है।

अलकार—प्रतीप, उपमा।

भइ दिनकर कुल बिटप कुठारी। कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी ॥
भयउ बिषादु निषादहि भारी। राम सीय महि सयन निहारी ॥
बोले लखन मधुर मृदु बानी। ग्यान बिराग भगति रस सानी ॥
काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता ॥

जैसे स्वप्न मे राजा भिखारी हो जाय या
हो जाय, किन्तु जागने पर कुछ भी लाभ-हानि न
और कगाल-कगाल ही रहेगा। इसी प्रकार से
देखना चाहिए।

विशेष—यहाँ ज्ञान-विराग और भक्ति का निरूपण है।

अलंकार—अनुप्रास-यमक, दोहे मे दृष्टान्त।

अस विचारि नहिं कीजिअ रोसू। काहुहि बादि न देइअ दोसू॥
मोह निसाँ सबु सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥
एहिं जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपच्च वियोगी॥
जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा॥
होइ विवेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥
सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम वचन राम पद नेहू॥
राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अविगत अलख अनादि अनूपा॥
सकल विकार रहित गतभेदा। कहि नित नेति निरूपहिं वेदा॥

भगत भूमि भूसुर सुरभि, सुर हित लागि कृपाल।
करत चरित धरि मनुज तनु, सुनत मिटहिं जग जाल॥९३॥

असि विचारि ' जग जाल।

शब्दार्थ—बादि=व्यर्थ। जीव-जग जागा=जीव मे ज्ञानोदय हुआ। अलख=स्थूल भाव दृष्टि से देखने मे न आने वाले। अनूपा=उपमा-रहित। भुसुर=ब्राह्मण।

संदर्भ और केन्द्रीय भाव—निषाद राज और लक्ष्मण के इस सवाद मे लक्ष्मण द्वारा गोस्वामी तुलसीदास स्पष्ट कराते हैं कि यह ससार भ्रम है। ज्ञानोदय से ही यह भ्रम दूर हो सकता है और परमब्रह्म भगवान राम की भक्ति भी तभी हो सकती है।

व्याख्या—लक्ष्मण निषादराज से कहते हैं कि हे भाई! संसार मे कोई किसी को सुख-दुख का देने वाला नही है। मनुष्य अपने कर्मो से सुख-दुःख पाता है ऐसा विचार कर क्रोध नही करना चाहिए और न किसी को व्यर्थ ही दोष देना चाहिए। सब लोग मोहरूपी रात्रि मे सोने वाले हैं और सोते हुए उन्हे

कछुक नै भक्क स्वप्न दिखाई पड़ते हैं। इस जगत् रूपी रात्रि में वे योगी लोग गर्ने घरनिजो परमार्थी हैं और माया के प्रपंच से छूटे हुए हैं। जगत् में जीव को देखि तभी जनका चाहिए जब सम्पूर्ण भोग-विलासों से वैराग्य हो जाय। क होने पर मोहरूपी भ्रम भाग जता है, तब अज्ञान का नाश होने पर श्री रघुनाथजी के चरणों में प्रेम होता है। हे सखा ! मन, वचन और कर्म से श्रीरामजी के चरणों में प्रेम होना यही सवश्रेष्ठ परमार्थ है। श्रीरामजी परमार्थ स्वरूप परब्रह्म हैं। वे अविगत, जानन में न आने वाले, स्थूल दृष्टि से देखने में न आनेवाले, आदि रहित, उपमा रहित, सब विकारों से रहित और भेदशून्य हैं। वेद जिनको नित्य 'नेति-नेति' कहकर निरूपण करते हैं।

वही कृपालु श्रीरामचन्द्रजी भक्त, भूमि ब्राह्मण, गौ और देवताओं के हित के लिये मनुष्य शरीर धारण करके लीलाएँ करते हैं, जिनके सुनने से जगत् के जंगल मिट जाते हैं।

अलंकार—रूपक।

सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू॥
कहत राम गुन भा भिनुसारा। जागे जग मंगल सुखदारा॥
सकल सौच करि राम नहावा। सुचि सुजान बट छीर मँगावा॥
अनुज सहित सिर जटा बनाए। देखि सुमंत्र नयन जल छाए॥
हृदयँ दाहु अति बदन मलीना। कह कर जोरि बचन अति दीना॥
नाथ कहेउ अस कोसलनाथा। लै रथु जाहु राम कें साथा॥
बनु देखाइ सुरसरि अन्हवाई। आनेहु फेरि बेगि दोउ भाई॥
लखनु रामु सिय आनेहु फेरी। संसय सकल सँकोच निबेरी॥

नृप अस कहेउ गोसाइँ जस, कहइ करौं बलि सोइ।
करि बिनती पायन्ह परेउ, दीन्ह बाल जिमि रोइ॥९४॥

व्याख्या—हे सखा ! ऐसा समझ, मोह को त्याग कर श्रीसीतारामजी के चरणों में प्रेम करो। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी के गुण कहते-कहते सवेरा हो गया। तब जगत् का मङ्गल करने वाले और उसे सुख देने वाले श्रीरामजी जागे। शौच के सब कार्य करके पवित्र और सुजान श्रीरामचन्द्रजी ने स्नान किया। फिर बड़ का दूध मँगाया और छोटे भाई लक्ष्मणजी-सहित उस दूध से

सिर पर जटाएँ बनायी। यह देखकर सुमन्त्रजी के नेत्रों में जल छा गया उनका हृदय अत्यन्त जलने लगा, मुँह उदास हो गया। वे हाथ जोड़कर अत्यन्त दीन वचन बोले—हे नाथ! मुझे कोसलनाथ दशरथजी ने ऐसी आज्ञा दी थी कि तुम रथ लेकर श्रीरामचन्द्रजी के साथ जाओ। वन दिखाकर, गङ्गा स्नान कराकर दोनों भाइयों को तुरत लौटा लाना। सब संशय और संकोच दूर करके लक्ष्मण, राम, सीता को फिरा लाना।

महाराज ने ऐसा कहा था, अब प्रभु जैसा कहे, मैं वही करूँ, मैं आपका हूँ। इस प्रकार विनती करके वे श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में गिर पड़े और उन्होंने बालक की तरह रो दिया।

अलंकार—अनुप्रास, उपमा।

तात कृपा करि कीजिअ सोई। जातें अवध अनाथ न होई॥
मंत्रिहि राम उठाइ प्रबोधा। तात धरम मतु तुम्ह सबु सोधा॥
सिबि दधीच हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥
रंतिदेव बलि भूप सुजाना। धरमु धरेउ सहि संकट नाना॥
धरमु न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥
मैं सोइ धरमु सुलभ करि पावा। तजें तिहूँ पुर अपजसु छावा॥
संभावित कहुँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥
तुम्ह सन तात बहुत का कहऊँ। दिएँ उतरु फिरि पातकु लहऊँ॥

पितु पद गहि कहि कोटि बिधि, बिनय करब कर जोरि।
चिंता कवनिहु बात कै, तात करिअ जनि मोरि॥९५॥

व्याख्या—हे तात! कृपा करके वही कीजिये जिससे अयोध्या अनाथ न हो। श्रीरामजी ने मन्त्री को उठाकर धैर्य बँधाते हुए समझाया कि हे तात! आपने तो धर्म के सभी सिद्धान्तों को छान डाला है। शिवि, दधीचि और राजा हरिश्चन्द्र ने धर्म के लिये करोड़ों कष्ट सहे थे। बुद्धिमान राजा रतिदेव और बलि बहुत-से संकट सहकर भी धर्म को पकड़े रहे। उन्होंने धर्म का परित्याग नहीं किया। वेद, शास्त्र और पुराणों में कहा गया है कि सत्य के समान दूसरा धर्म नहीं है। मैंने उस धर्म को सहज ही पा लिया है। इस सत्य रूपी धर्म का त्याग करने से तीनों लोकों में अपयश छा जायगा। प्रतिष्ठित पुरुष के लिये अपयश की

प्राप्ति करोड़ो मृत्यु के समान भीषण संताप देने वाली है। हे तात! मैं आपसे अधिक क्या कहूँ। लौटकर उत्तर देने में भी पाप का भागी होता हूँ।

आप जाकर पिताजी के चरण पकड़ कर करोड़ों नमस्कार के साथ ही हाथ जोड़ कर विनती करियेगा कि हे तात! आप मेरी किसी की चिन्ता न करें।

विशेष—रतिदेव बलि सुजान=रन्तिदेव बड़ा धर्मात्मा राजा होगया है, वह अपना राज-पाट छोड़कर अपने पुत्र कलत्र सहित वन को चला गया और वहाँ कठिन तपस्या करने लगा। ४८ दिन की तपस्या के बाद उसे भोजन मिला। इतने ही में एक मगता वहाँ आगया और दीन वाणी से भोजन माँगने लगा। ४८ दिन के भूखे रन्तिदेव ने स्वयं कुछ न खाकर सारा भोजन उस भिक्षुक को दे दिया। यहाँ तक कि स्त्री और पुत्र का भाग भी उसे खिला दिया। इससे प्रसन्न होकर विष्णु भगवान ने उसे दर्शन दिये तथा परम पद प्रदान किया।

तुम्ह पुनि पितु सम अति हित मोरें। विनती करउँ तात कर जोरें॥
सब विधि सोइ करतब्य तुम्हारें। दुख न पाव पितु सोच हमारें॥
सुनि रघुनाथ सचिव संवादू। भयउ सपरिजन बिकल निषादू॥
पुनि कछु लखन कही कटु बानी। प्रभु बरजे बड़ अनुचित जानी॥
सकुचि राम निज सपथ देवाई। लखन सँदेसु कहिअ जनि जाई॥
कह सुमंत्रु पुनि भूप सँदेसू। सहि न सकिहि सिय बिपिन कलेसू॥
जेहि बिधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहि तुम्हहि करनीया॥
नतरु निपट अवलंब बिहीना। मैं न जिअब जिमि जल बिनु मीना॥

मइकें ससुरें सकल सुख, जबहिं जहाँ मनु मान।
तहँ तब रहिहि सुखेन सिय, जब लगि बिपति बिहान॥९६॥

व्याख्या—आप भी पिता के समान ही मेरे हितैषी हैं। हे तात! मैं हाथ जोड़कर आप से विनती करता हूँ कि आपका भी सब प्रकार से वही कर्तव्य है जिसमें पिताजी हम लोगों के सोच में दुःख न पावें श्रीरघुनाथजी और सुमन्त्र का यह संवाद सुनकर निषादराज कुटुम्बियों सहित व्याकुल हो गया। फिर लक्ष्मणजी ने कुछ कड़वी बात कही। प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने उसे बहुत ही

अनुचित जानकर उनको मना किया। श्रीरामचन्द्रजी ने सकुचा कर, अपनी सौगंध दिलाकर सुमन्त्रजी से कहा कि आप जाकर लक्ष्मण का यह सन्देश न कहियेगा सुमन्त्र ने फिर राजा का सन्देश कहा कि सीता वन के क्लेश न सह सकेंगी अतएव जिस तरह सीता अयोध्या को लौट आवे, तुमको और श्रीरामचन्द्रजी को वही उपाय करना चाहिये। नही तो मै बिल्कुल ही बिना सहारे का होकर वैसे ही नही जीऊँगा जैसे बिना जल के मछली नही जीती।

सीता के मायके (पिता के घर) और ससुराल मे सब सुख है। जबतक यह विपत्ति दूर नही होती, तबतक वे जब जहाँ जी चाहे, वही सुख से रहेंगी।

विनती भूप कीन्ह जेहि भाँति। आरति प्रीति न सो कहि जाती ॥
पितु सँदेसु सुनि कृपानिधाना। सियहि दीन्ह सिख कोटि विधाना ॥
सासु ससुर गुरु प्रिय परिवारू। फिरहु त सब कर मिटै खभारू ॥
सुनि पति बचन कहति बैदेही। सुनहु प्रानपति परम सनेही ॥
प्रभु करुनामय परम विवेकी। तनु तजि रहति छाँह किमि छेंकी ॥
प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंद्र तजि जाई ॥
पतिहि प्रेममय विनय सुनाई। कहति सचिव सन गिरा सुहाई ॥
तुम्ह पितु ससुर सरिस हितकारी। उतरु देउँ फिरि अनुचित भारी ॥
आरति बस सनमुख भइउँ, बिलगु न मानब तात।
आरजसुत पद कमल बिनु, बादि जहाँ लगि नात ॥९७॥

व्याख्या– राजा ने जिस तरह जिस दीनता और प्रेम से विनती की है, वह दीनता और प्रेम कहा नही जा सकता। कृपानिधान श्रीरामचन्द्रजी ने पिता का सन्देश सुनाकर सीताजी को अनेको प्रकार से सीख दी। उन्होने कहा जो तुम घर लौट जाओ, तो सास, ससुर, गुरु, प्रियजन एव कुटुम्बी सबकी चिन्ता मिट जाय। पति के वचन सुनकर जानकीजी कहती हैं हे प्राणपति! हे परम स्नेही! हे प्रभो! आप करुणामय और परम ज्ञानी हैं। कृपा करके विचार तो कीजिये शरीर को छोडकर छाया अलग कैसे रोकी रह सकती है? सूर्य की प्रभा सूर्य को छोडकर कहाँ जा सकती है? और चाँदनी चन्द्रमा को त्याग

कर कहाँ जा सकती है ? इस प्रकार पति को प्रेममयी विनती सुनाकर सीताजी सासजी से सुहावनी वाणी कहने लगी—आप मेरे पिताजी और ससुरजी के समान मेरा हित करने वाले हैं। आपको मैं बदले में उत्तर देती हूँ, यह बहुत ही अनुचित है।

किन्तु हे तात ! मैं आर्त होकर ही आपके सम्मुख हुई हूँ, आप बुरा न मानियेगा ! आर्यपुत्र के चरण कमलों के बिना जगत् में जहाँ तक नाते हैं सभी मेरे लिए व्यर्थ हैं।

पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनि मुकुट मिलित पद पीठा॥
सुख निधान अस पितु गृह मोरें। पिय बिहीन मन भाव न भोरें॥
ससुर चक्कवइ कोसलराऊ। भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ॥
आगें होइ जेहि सुरपति लेई। अरध सिंघासन आसनु देई॥
ससुरु एतादृस अवध निवासू। प्रिय परिवारु मातु सम सासू॥
बिनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि केउ सपनेहुँ सुखद न लागा॥
अगम पंथ बन भूमि पहारा। करि केहरि सर सरित अपारा॥
कोल किरात कुरग बिहगा। मोहि सब सुखद प्रानपति संगा॥

सासु ससुर सन मोरि हुँति, बिनय करबि परि पायँ।
मोर सोचु जनि करिअ कछु, मैं बन सुखी सुभायँ॥९८॥

व्याख्या—मैंने पिताजी के ऐश्वर्य की छटा देखी है, जिनके चरण रखने की चौकी से सर्व शिरोमणि राजाओं के मुकुट मिलते हैं अर्थात् बड़े-बड़े राजा जिनके चरणों में प्रणाम करते हैं, ऐसे पिता का घर भी, जो सब प्रकार के सुखों का भण्डार है, पति के बिना मेरे मन को भूलकर भी नहीं भाता। मेरे ससुर कोशल-राज चक्रवर्ती सम्राट हैं, जिनका प्रभाव चौदहों लोकों में प्रकट है, इन्द्र भी आगे होकर जिनका स्वागत करता है और अपने आधे सिंहासन पर बैठने के लिए स्थान देता है, ऐसे ऐश्वर्य और प्रभावशाली ससुर, उनकी राजधानी अयोध्या का निवास, प्रिय कुटुम्बी और माता के समान सासुएँ—ये कोई भी श्रीरघुनाथ जी के चरण कमलों की रज के बिना मुझे स्वप्न में भी सुखदायक नहीं लगते। दुर्गम रास्ते, जंगली, धरती, पहाड़, हाथी, सिंह, अथवा तालाब एवं

ग्यगी। मैं तो इसी

नदियाँ, कोल, भील, हिरन और पक्षी—प्राणपति (श्रीरघुनाथजी) संग नहीं
रहते ये सभी मुझे सुख देनेवाले होंगे। से पहले

अतः सास और ससुर के पाँव पकडकर, मेरी ओर से विनती कीजिये कि वे मेरा कुछ भी सोच न करे, मैं वन मे स्वभाव से ही सुखी हूँ।

प्राननाथ प्रिय देवर साथा। बीर धुरीन धरें धनु भाथा॥
नहि मग श्रमु भ्रमु दुख मन मोरें। मोहि लगि सोचु करिअ जनि भोरें॥
सुनि सुमन्त्रु सिय सीतलि बानी। भयउ विकल जनु फनि मनि हानी॥
नयन सूझ नहिं सुनइ न काना। कहि न सकइ कछु अति अकुलाना॥
राम प्रबोधु कीन्ह बहु भाँती। तदपि होति नहिं सीतलि छाती॥
जतन अनेक साथ हित कीन्हें। उचित उतर रघुनदन दीन्हे॥
मेटि जाइ नहि राम रजाई। कठिन करम गति कछु न बसाई॥
राम लखन सिय पद सिरु नाई। फिरेउ बनिक जिमि मूर गवाँई॥

रथु हाँकेउ हय राम तन, हेरि हेरि हिहनाहिं।
देखि निषाद विषादवस, धुनहिं सीस पछिताहिं॥९९॥

व्याख्या—वीरो मे अग्रगण्य तथा धनुष और बाणो से भरे तरकश धारण किये मेरे प्राणनाथ और प्यारे देवर साथ हैं। इससे मुझे न रास्ते की थकावट है, न भ्रम है और न मेरे मनमे कोई दुःख ही है। आप मेरे लिये भूलकर भी सोच न करे। सुमन्त्र सीताजी की शीतल वाणी सुनकर ऐसे व्याकुल हो गये, जैसे बिना पानी के मछली हो जाती है। वे कुछ कह नही सकते। श्रीरामचन्द्रजी ने उनका बहुत प्रकार से समाधान किया। तो भी उनकी छाती ठडी न हुई। साथ चलने के लिये मन्त्री ने अनेको यत्न किये, पर रघुनन्दन श्रीरामजी उन सब युक्तियो का यथोचित उत्तर देते गये। श्रीराम जी की आज्ञा मेटी नही जा सकती। कर्म की गति कठिन है, उस पर कुछ भी वश नही चलता। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी के चरणो मे सिर नवाकर सुमन्त्र इस तरह लौटे जैसे कोई व्यापारी अपना मूलधन गँवाकर लौटे।

सुमन्त्र ने रथ को हाँका, घोडे श्रीरामचन्द्रजी की ओर देख-देखकर हिनहिनाते है। यह देखकर निषाद लोग विषाद के वश होकर सिर धुन-धुनकर पछताते है।

ु ऐसें। प्रजा मातु पितु जिइहहिं कैसें॥
पठाए। सुरसरि तीर आपु तब आए॥
आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥
सबु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला ... ारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई। बाट परइ मोरि नाव उडाई॥
एहिं प्रतिपालउँ सबु परिवारू। नहिं जानउँ कछु अउर कबारू॥
जौं प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

पद कमल धोइ चढाइ नाव न नाथ उतराई चहौं।
मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साची कहौं॥
बरु तीर मारहुँ लखनु पै जब लगि न पाय पखारिहौं।
तब लगि न तुलसीदास नाथ कृपाल पारु उतारिहौं॥
सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहसे करुना ऐन, चितइ जानकी लखन तन॥१००॥

शब्दार्थ—मरम=भेद। मूरि=जडी। कबारु=धन्धा। राउरि=आपकी।

संदर्भ—श्रीराम पार जाने के लिए नाव माँगते हैं। केवट बिना उनके चरणों को धोये हुए नाव पर चढाने के लिए इनकार करता है। प्रस्तुत प्रसग मे इसी तथ्य का पल्लवन है।

व्याख्या—जिनके वियोग मे पशु इस प्रकार व्याकुल हैं, उनके वियोग मे प्रजा, माता और पिता कैसे जीते रहेंगे ? श्रीरामचन्द्रजी ने जबर्दस्ती सुमन्त्र को लौटाया। तब आप गङ्गाजी के तीर पर आये। श्रीराम ने केवट से नाव माँगी, पर वह लाता नही। वह कहने लगा—मैंने तुम्हारा भेद जान लिया है। तुम्हारे चरणकमलों की धूल के लिये सब लोग कहते है कि वह मनुष्य बना देने वाली कोई जडी है। जिसके छूते ही पत्थर की शिला सुन्दरी स्त्री हो गयी मेरी नाव तो काठकी है। काठ पत्थर से कठोर तो होता नही। मेरी नाव भी मुनि की स्त्री हो जायगी और इस प्रकार मेरी नाव उड जायगी, मैं लुट जाऊँगा अथवा रास्ता रुक जायगा जिससे आप पार न हो सकेंगे और मेरी

रोजी मारी जायगी, मेरी कमाने-खाने की राह ही मारी जायगी। मैं तो इसी नाव से सारे परिवार का पालन-पोषण करता हूँ। दूसरा कोई धंधा नही जानता। हे प्रभु! यदि तुम अवश्य ही पार जाना चाहते हो तो मुझे पहले अपने चरण कमल धो लेने के लिए कह दो।

हे नाथ! मै चरण कमलो को धोकर आप लोगो को नाव पर चढा लूँगा। मै आपसे कुछ उतराई नही चाहता। हे राम! मुझे आपकी दुहाई और दशरथजी की सौगंध है, मैं सब सच-सच कहता हूँ। लक्ष्मण भले ही मुझे तीर मारें, पर जबतक मैं पैरो को पखार न लूँगा, तब तक हे तुलसीदास के नाथ! हे कृपालु! मैं पार नही उतारूँगा।

केवट के प्रेम मे लपेटे वचन सुनकर करुणाधाम श्रीरामचन्द्रजी जानकीजी और लक्ष्मणजी की ओर देखकर हँसे।

अलंकार—पार्यायोक्ति और गूढोक्ति।

मुनि की स्त्री की कथा इस प्रकार है—

२—विशेष—ब्रह्माजी ने अपनी इच्छा से अहिल्या नाम की एक परम सुन्दरी कन्या पैदा कर उसका विवाह गौतम मुनि के साथ कर दिया। यह बात देवताओ को बहुत बुरी लगी और वे ईर्षा करने लगे। इन्द्र ने तो यहाँ तक किया कि वह एक दिन गौतम का रूप धारण कर अहिल्या के पास पहुंच गये और उसके साथ विषय करने लगे। अहिल्या को सन्देह हुआ तो उसने पूछा—"तू कौन है ?" नकली गौतम ने कहा—"मैं इन्द्र हू।" इतने ही हो मे गौतम जी आगये और उन्होने दरवाजा खुलवाया। अहिल्या इन्द्र को छिपाकर कुछ देर मे दरवाजा खोलने गई। गौतमजी ने विलम्ब का कारण पूछा तो अहिल्या ने बात बनादी। परन्तु गौतमजी ने अपने योग-बल से सारा हाल जानकर इन्द्र को शाप दिया कि तेरे शरीर के सौ भाग हो जायँ और और अहिल्या से कहा कि तूने झूँठ बोला है, अतएव तू पाषाण बन जा। जब रामचन्द्र अवतार लेंगे तब उनके चरणो की धूल से तेरा उद्धार होगा।

अभिप्राय यह कि केवट रामचन्द्रजी से कहता है कि आपके चरणो की धूल से जब कठोर पाषाण मुनि की पत्नी का रूप धारण कर लेता है तो नाव तो काठ की है, इसका कुछ का कुछ हो जाना तो बहुत ही आसान है, इसलिए

नाथ ! नाव मे चढने मे पूर्व आप अपने पाँवो की धूल धो लेने दीजिए जिससे नाव के मुनि घरनी वन जाने या उडने का भय जाता रहे। आन=सौगन्ध। अटपटे=जिन पर कुछ उत्तर न देते वने।

कृपासिंधु बोले मुसुकाई। सोइ करु जेहिं तव नाव न जाई॥
वेगि आनु जल पाय पखारू। होत बिलंबु उतारहिं पारू॥
जासु नाम सुमरित एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा॥
सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहिं जगु किये तिहुँ पगहु ते थोरा॥
पद नख निरिखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभु वचन मोहँ मति करषी॥
केवट राम रजायसु पावा। पानि कठवता भरि लेइ आवा॥
अति आनंद उमँगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा॥
वरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं। एहि सम पुन्य पु ज कोउ नाही॥
पद पखारि जलु पान करि, आपु सहित परिवार।
पितर पारु करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार॥१०१॥

शब्दार्थ—पद-नख करषी=रामचन्द्रजी के चरणो के नखो को देखकर गंगाजी प्रसन्न हुई। परन्तु फिर राम के वचन सुनकर उनकी बुद्धि मोह की ओर आकृष्ट होने लगी। यह वचन क्या थे ?—"होत बिलम्ब उतारहु पारू" देर होती है, जल्दी पार उतारो। गगा जी समझी कि रामचन्द्र केवट से क्रुद्ध होकर योंही मुझे पार कर जायें तो मैं चरणो का स्पर्श न कर पाऊँगी परन्तु अब वह मोह हट गया। यह भी अर्थ हो सकता है कि रामचन्द्र ने जल्दी पार होने की इच्छा प्रकट की इससे गगाजी को मोह हुआ कि अब यह मुझ से शीघ्र ही अलग हो जयेंगे।

व्याख्या—कृपा के समुद्र श्रीरामचन्द्रजी केवट से मुसकराकर बोले—भाई ! तू वही कर जिससे तेरी नाव न जाय। जल्दी पानी ला और पैर धो ले। देर हो रही है, पार उतर जाने दे। जिन्होंने वामनावतार मे जगत् को तीन पग मे भी छोटा कर दिया था और दो ही पग मे त्रिलोक को नाप लिया था, वही कृपालु श्रीरामचन्द्रजी गङ्गाजी से पार उतारने के लिये केवट का निहोरा कर रहे हैं। प्रभु के इन वचनो को सुनकर गङ्गाजी की बुद्धि मोह से खिच गयी थी कि ये साक्षात् भगवान् होकर भी पार उतारने के लिये केवट

का निहोरा कैसे कर रहे है। परन्तु समीप आनेपर अपनी उत्पत्ति के स्थान पदनखों को देखते ही उन्हे पहचानकर देवनदी गङ्गाजी हर्षित हो गयी। वे समझ गयी कि भगवान् नर-लीला कर रहे है, इससे उनका मोह नष्ट हो गया, और इन चरणो का स्पर्श प्राप्त करके मैं धन्य होऊँगी, यह विचार कर वे हर्षित हो गयी। केवट श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा पाकर कठौते मे भरकर जल ले आया। अत्यन्त आनन्द और प्रेम मे उमँगकर वह भगवान् के चरणकमल धोने लगा। सब देवता फूल बरसाकर सिहाने लगे कि इसके समान पुण्य की राशि कोई नही है।

चरणो को धोकर और सारे परिवार सहित स्वयं उस चरणोदक को पीकर पहले अपने पितरो को भवसागर से पारकर फिर आनन्दपूर्वक प्रभु श्रीरामचन्द्र को गङ्गाजी के पार ले गया।

उतरि ठाढ भए सुरसरि रेता। सीय रामु गुह लखन समेता॥
केवट उतरि दंडवत कीन्हा। प्रभुहि सकुच एहि नहि कछु दीन्हा॥
पिय हिय की सिय जाननिहारी। मनि मुदरी मन मुदित उतारी॥
कहेउ कृपाल लेहि उतराई। केवट चरन गहे अकुलाई॥
नाथ आजु मै काह न पावा। मिटे दोष दुख दारिद दावा॥
बहुत काल मै कीन्हि मजूरी। आजु दीन्ह बिधि बनि भलि पूरी॥
अब कछु नाथ न चाहिअ मोरें। दीनदयाल अनुग्रह तोरें॥
फिरती बार मोहि जो देबा। सो प्रसादु मै सिर धरि लेबा॥

बहुत कीन्ह प्रभु लखन सियँ, नहि कछु केवटु लेइ।
बिदा कीन्ह करुनायतन, भगति बिमल बरु देइ॥१०२॥

व्याख्या—निषादराज और लक्ष्मणजी सहित श्रीसीताजी और श्रीरामचन्द्रजी नाव से उतर कर गङ्गाजी की रेत मे खड़े हो गये। तब केवट ने उतर कर दण्डवत् की। उसको दण्डवत् करते देखकर प्रभु को सकोच हुआ कि इसको कुछ दिया नही। पति के हृदय की जानने वाली सीताजी ने आनन्द भरे मन से अपनी रत्न जटित अँगूठी उतारी। कृपालु श्री रामचन्द्रजी ने केवट से कहा, नाव की उतराई लो। केवट ने व्याकुल होकर चरण पकड लिये। उसने कहा—हे नाथ! आज मैंने क्या नही पाया? मेरे

दीप, दुःख और दरिद्रता की आग आज बुझ गयी। मैंने बहुत समय तक मजदूरी की। विधाता ने आज बहुत अच्छी भरपूर मजदूरी दे दी है। हे नाथ! हे दीनदयाल! आपकी कृपा से अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। लौटती बार आप मुझे जो कुछ देंगे, वह मैं सिर चढ़ाकर लूँगा।

प्रभु श्रीरामजी, और लक्ष्मणजी और सीताजी ने बहुत आग्रह किया, पर केवट कुछ नहीं लेता। तब करुणा के धाम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ने निर्मल भक्ति का वरदान देकर विदा किया।

तब मज्जनु करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा॥
सियँ सुरसरिहि कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरउबि मोरी॥
पति देवर संग कुसल बहोरी। आइ करौं जेहिं पूजा तोरी॥
सुनि सिय विनय प्रेम रस सानी। भइ तब विमल बारि बर बानी॥
सुनु रघुबीर प्रिया बैदेही। तव प्रभाउ जग विदित न केही॥
लोकप होहिं बिलोकत तोरें। तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें॥
तुम्ह जो हमहि बड़ि विनय सुनाई। कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई॥
तदपि देवि मैं देवि असीसा। सफल होन हित निज बागीसा॥

प्राननाथ देवर सहित, कुसल कोसला आइ।
पूजिहि सब मनकामना, सुजसु रहिहि जग छाइ॥१०३॥

व्याख्या—फिर रघुकुल के स्वामी श्री रामचन्द्रजी ने स्नान करके पार्थिवपूजा की और शिवजी को सिर नवाया। सीताजी ने हाथ जोड़कर गङ्गाजी से कहा—हे माता! मेरा मनोरथ पूरा कीजियेगा जिससे मैं पति और देवर के साथ कुशल पूर्वक लौट आकर तुम्हारी पूजा करूँ। सीताजी की प्रेम रस सनी हुई विनती सुनकर तब गङ्गाजी के निर्मल जल में से श्रेष्ठ वाणी हुई। हे रघुवीर की प्रियतमा जानकी! सुनो, तुम्हारा प्रभाव जगत में किसे नहीं मालूम है? तुम्हारे कृपादृष्टि से देखते ही लोग लोकपाल हो जाते हैं। सब सिद्धियाँ हाथ जोड़े तुम्हारी सेवा करती हैं। तुमने जो मुझको बड़ी विनती सुनायी, यह तो मुझपर कृपा की और बड़ाई दी है। तो भी हे देवि! मैं अपनी वाणी सफल होने के लिये तुम्हें आशीर्वाद दूँगी।

तुम अपने प्राणनाथ और देवर सहित कुशलपूर्वक अयोध्या लौटोगी। तुम्हारी सारी मनःकामनाएं पूरी होंगी और तुम्हारा सुन्दर यश जगत् भर में छा जायगा।

गंग बचन सुनि मंगल मूला। मुदित सीय सुरसरि अनुकूला॥
तब प्रभु गुहहि कहेउ घर जाहू। सुनत सूख मुखु भा उर दाहू॥
दीन बचन गुह कह कर जोरी। बिनय सुनहु रघुकुलमनि मोरी॥
नाथ साथ रहि पंथु देखाई। करि दिन चारि चरन सेवकाई॥
जेहिं बन जाइ रहब रघुराई। परनकुटी मैं करबि सुहाई॥
तब मोहि कहँ जसि देब रजाई। सोइ करिहउँ रघुबीर दोहाई॥
सहज सनेह राम लखि तासू। संग लीन्ह गुह हृदयँ हुलासू॥
पुनि गुहँ ग्याति बोलि सब लीन्हे। करि परितोषु बिदा तब कीन्हे॥

तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु, नाइ सुरसरिहि माथ।
सखा अनुज सिय सहित बन, गवनु कीन्ह रघुनाथ॥१०४॥

भा०भा०—मङ्गल के मूल गङ्गाजी के वचन सुनकर और देव नदी को अनुकूल देखकर सीताजी आनन्दित हुईं। तब प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने निषादराज गुह से कहा कि भैया! अब तुम घर जाओ। यह सुनते ही उसका मुँह सूख गया और हृदय में दाह उत्पन्न हो गया। गुह हाथ जोड़कर दीन वचन बोला—हे रघुकुलशिरोमणि! मेरी विनती सुनिये। मैं नाथ! आपके साथ रहकर, रास्ता दिखाकर, चार दिन चरणों की सेवा करने का अवसर प्राप्त करूँगा। हे रघुराज! जिस वन में आप जाकर रहेंगे, वहाँ मैं सुन्दर पर्णकुटी बना दूँगा। तब मुझे आप जैसी आज्ञा देंगे, मैं वैसा ही करूँगा। उसके स्वाभाविक प्रेमको देखकर श्रीरामचन्द्रजी ने उसको साथ ले लिया, इससे गुह के हृदय में बड़ा आनन्द हुआ। फिर निषादराज ने अपनी जाति के लोगों को बुला लिया, और उनका सन्तोष करके तब उनको विदा किया।

तब प्रभु श्रीरघुनाथ जी गणेशजी और शिवजी का स्मरण करके तथा गङ्गाजी को मस्तक नवा कर सखा निषादराज, छोटे भाई लक्ष्मणजी और सीताजी सहित वन को चले।

तेहि दिन भयउ बिटप तर बासू। लखन सखाँ सब कीन्ह सुपासू॥
प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराजु दीख प्रभु जाई॥
सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीतु हितकारी॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू॥
छेत्रु अगम गढ़ु गाढ़ सुहावा। सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा॥
सेन सकल तीरथ बर बीरा। कलुष अनीक दलन रनधीरा॥
संगमु सिंहासनु सुठि सोहा। छत्रु अखयबटु मुनि मनु मोहा॥
चवँर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा॥

सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मनकाम।
बंदी बेद पुरान गन, कहहिं बिमल गुन ग्राम॥१०५॥

शब्दार्थ—प्रातकृत=प्रातःकाल की सारी क्रियाएँ। प्रति पच्छिन्ह=पापरूपी शत्रु। अनीक=सेना।

संदर्भ—प्रस्तुत प्रसंग में प्रयाग राजा का वर्णन है।

व्याख्या—गंगा तट से चलकर उस दिन मार्ग में पेड़ के नीचे निवास हुआ। लक्ष्मणजी और सखा गुह ने विश्राम की सब सुव्यवस्था करदी। प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने सवेरे प्रातःकाल की सब क्रियाएँ करके जाकर तीर्थों के राजा प्रयाग के दर्शन किये। उस राजा का सत्य मन्त्री है, श्रद्धा प्यारी स्त्री है और श्रीवेणीमाधवजी-सरीखे हितकारी मित्र हैं। चार पदार्थों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से भण्डार भरा है और वह पुण्यमय प्रान्त ही उस राजा का सुन्दर देश है। प्रयाग क्षेत्र ही दुर्गम, मजबूत और सुन्दर गढ़ किला है, जिसको स्वप्न में भी पापरूपी शत्रु नहीं पा सके हैं। सम्पूर्ण तीर्थ ही उसके श्रेष्ठ वीर सैनिक हैं, जो पाप की सेना को कुचल डालने वाले और बड़े रणधीर हैं। गङ्गा, यमुना और सरस्वती का सङ्गम ही उसका अत्यन्त सुशोभित सिंहासन है। अक्षयवट छत्र है, जो मुनियों के भी मन को मोहित कर लेता है। यमुनाजी और गङ्गाजी की तरंगें उसके श्याम और श्वेत चँवर हैं, जिनको देखकर ही दुःख और दरिद्रता नष्ट हो जाती है।

पुण्यात्मा, पवित्र साधु उसकी सेवा करते हैं और सब मनोरथ पाते हैं।

वेद और पुराणों के समूह भाट हैं, जो उनके निर्मल गुणगणों का बखान करते हैं।

अलंकार—प्रयाग में राजा और गढ़ का अङ्गों सहित आरोप होने से सांगरूपक।

को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ। कलुष पुंज कुंजर मृगराऊ॥
अस तीरथपति देखि सुहावा। सुख सागर रघुवर सुखु पावा॥
कहि सिय लखनहि सखहि सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई॥
करि प्रनामु देखत बन बागा। कहत महातम अति अनुरागा॥
एहि बिधि आइ बिलोकी बेनी। सुमिरत सकल सुमंगल देनी॥
मुदित नहाइ कीन्हि सिव सेवा। पूजि जथाबिधि तीरथ देवा॥
तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए। करत दंडवत मुनि उर लाए॥
मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंद रासि जनु पाई॥
दीन्हि असीस मुनीस उर, अति अनंदु अस जानि।
लोचन गोचर सुकृत फल, मनहुँ किए बिधि आनि॥१०६॥

शब्दार्थ—कलुष=पाप। पुंज=समूह। कुंजर=हाथी। लोचन गोचर=नेत्रों के सामने रखना।

व्याख्या—पापों के समूह रूपी हाथी के मारने के लिये सिंहरूप प्रयाग राज का प्रभाव कौन कह सकता है। ऐसे सुहावने तीर्थ राज का दर्शन कर सुख के समुद्र रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी ने भी सुख पाया। उन्होंने अपने श्रीमुख से सीताजी लक्ष्मणजी और सखा गुह को तीर्थराज की महिमा कह कर सुनायी। तदनन्तर प्रणाम करके वन और बगीचों को देखते हुए और बड़े प्रेम से माहात्म्य कहते हुए इस प्रकार श्रीराम ने आकर त्रिवेणी का दर्शन किया, जो स्मरण करने से ही सब सुन्दर मङ्गलों को देने वाली है। फिर आनन्द पूर्वक त्रिवेणी में स्नान करके शिवजी की पूजा की और विधिपूर्वक तीर्थ देवताओं का पूजन किया। स्नान, पूजन आदि सब करके तब प्रभु श्रीरामजी भरद्वाजजी के पास आये। उन्हें दण्डवत् करते हुए ही मुनि ने हृदय से लगा लिया। मुनि के मन का आनन्द कुछ कहा नहीं जाता। मानो उन्हें ब्रह्मानन्द की राशि मिल गयी हो।

मुनीश्वर भरद्वाजजी ने आशीर्वाद दिया। उनके हृदय में ऐसा जानकर अत्यन्त आनन्द हुआ कि आज विधाता ने श्रीसीताजी और लक्ष्मणजी सहित प्रभु श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन कराकर मानो हमारे सम्पूर्ण पुण्यों के फल को लाकर आंखों के सामने कर दिया है।

अलंकार—प्रयाग में सिंह, कलप पुंज में हाथी का आरोप होने से रूपक, ब्रह्मानन्द ' ' ' ' 'में उत्प्रेक्षा, दोहे में उत्प्रेक्षा।

कुसल प्रस्न करि आसन दीन्हे। पूजि प्रेम परिपूरन कीन्हे॥
कंद मूल फल अंकुर नीके। दिए आनि मुनि मनहुँ अमी के॥
सीय लखन जन सहित सुहाए। अति रुचि राम मूल फल खाए॥
भए बिगतश्रम रामु सुखारे। भरद्वाज मृदु बचन उचारे॥
आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥
सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥
लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी॥
अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥
करम बचन मन छाड़ि छलु जब लगि जनु न तुम्हार।
तब लगि सुखु सपनेहुँ नहीं किएँ कोटि उपचार॥१०७॥

संदर्भ—राम भरद्वाज के आश्रम में है। प्रस्तुत प्रसंग में भरद्वाज जी के आनन्द का वर्णन है।

व्याख्या—कुशल पूछकर भरद्वाज ने उनको आसन दिये और प्रेम-सहित पूजन करके उन्हें सन्तुष्ट किया। फिर मानो अमृत के ही बने हों ऐसे अच्छे-अच्छे कन्द, मूल, फल और अंकुर लाकर दिये। सीताजी, लक्ष्मणजी और सेवक गुह सहित श्रीरामचन्द्रजी ने उन सुन्दर मूल-फलों को बड़ी रुचि के साथ खाया। थकावट दूर होने से श्रीरामचन्द्रजी सुखी हो गये। तब भरद्वाजजी ने उनसे कोमल वचन कहे कि हे राम! आपका दर्शन करते ही आज मेरा तप, तीर्थ सेवन और त्याग सफल हो गया। आज मेरा जप, योग और वैराग्य सफल हो गया और आज मेरे सम्पूर्ण शुभ साधनों का समुदाय भी सफल हो गया। लाभ की सीमा और सुख की सीमा प्रभु के दर्शन को छोड़कर दूसरी कुछ भी

नही है। आपके दर्शन से मेरी सब आशाएँ पूर्ण हो गयी। अब कृपा करके यह वरदान दीजिये कि आपके चरण कमलो मे मेरा स्वाभाविक प्रेम हो।

अलंकार—वृत्त्यनुप्रास।

सुनि मुनि बचन रामु सकुचाने। भाव भगति आनद अघाने॥
तब रघुवर मुनि सुजसु सुहावा। कोटि भाँति कहि सबहि सुनावा॥
सो बड सो सब गुन गन गेहू। जेहि मुनीस तुम्ह आदर देहू॥
मुनि रघुबीर परसपर नवहीं। बचन अगोचर सुखु अनुभवहीं॥
यह सुधि पाइ प्रयाग निवासी। बटु तापस मुनि सिद्ध उदासी॥
भरद्वाज आश्रम सब आए। देखन दसरथ सुअन सुहाए॥
राम प्रनाम कीन्ह सब काहू। मुदित भए लहि लोयन लाहू॥
देहिं असीस परम सुखु पाई। फिरे सराहत सुंदरताई॥

राम कीन्ह विश्राम निसि, प्रात प्रयाग नहाइ।
चले सहित सिय लखन जन, मुदित मुनिहि सिरु नाइ॥१०८॥

व्याख्या—जब तक कर्म वचन और मन से छल छोडकर मनुष्य आपका [illegible]स नही हो जाता, तब तक करोडो उपाय करने से भी स्वप्न मे भी वह सुख [illegible]हीं पाता।

मुनि के वचन सुनकर, उनकी भाव-भक्ति के कारण आनन्द से तृप्त हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी सकुचा गये। तब अपने ऐश्वर्य को छिपाते हुए श्रीराम-चन्द्रजीने भरद्वाज मुनि का सुन्दर सुयश अनेको प्रकार से कहकर सब को सुनाया। उन्होने कहा—हे मुनिवर! जिसको आप आदर दें, वही बडा है और वही गुण समूहों का घर है। इस प्रकार श्रीरामजी और मुनि भरद्वाज जी दोनों परस्पर विनम्र हो रहे हैं और अनिर्वचनीय सुख का अनुभव कर रहे हैं।

श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी के आने की खबर पाकर प्रयाग निवासी ब्रह्मचारी, तपस्वी, मुनि, सिद्ध और उदासी सब श्रीदशरथजी के सुन्दर पुत्रों को देखने के लिये भरद्वाजजी के आश्रम पर आये। श्रीरामचन्द्रजी ने सब किसी को प्रणाम किया। नेत्रो का लाभ पाकर सब आनन्दित हो गये और परम सुख पाकर आशीर्वाद देने लगे। श्रीरामजी के सौन्दर्य की सराहना करते हुए वे लौटे।

सबने यमुना जी के जल मे स्नान किया, जो श्रीरामचन्द्रजी के शरीर के समान स्याम रग का था।

अलकार—प्रसिद्ध उपमान यमुना जल को शरीर के समान स्याम कहने मे अत प्रतीप।

सुनत तीरवासी नर नारी। धाए निज निज काज बिसारी॥
लखन राम सिय सुदरताई। देखि करहिं निज भाग्य बड़ाई॥
अति लालसा बसहिं मन माहीं। नाउँ गाउँ बूझत सकुचाहीं॥
जे तिन्ह महुँ बय बिरिध सयाने। तिन्ह करि जुगुति रामु पहिचाने॥
सकल कथा तिन्ह सबहि सुनाई। बनहि चले पितु आयसु पाई॥
सुनि सविषाद सकल पछिताहीं। रानी रायँ कीन्ह भल नाहीं॥
तेहि अवसर एक तापसु आवा। तेजपुंज लघु बयस सुहावा॥
कवि अलखित गति बेषु बिरागी। मन क्रम बचन राम अनुरागी॥

सजल नयन तन पुलकि निज, इष्टदेव पहिचानि।
परेउ दंड जिमि धरनि तल, दसा न जाइ बखानि॥११०॥

व्याख्या—यमुना जी के किनारे पर रहने वाले स्त्री-पुरुष यह सुनकर कि निषाद के साथ दो परम सुन्दर सकुमार नवयुवक और एक परम सुन्दरी स्त्री आरही हैं, सब अपना अपना काम भूलकर दौडे और लक्ष्मणजी, श्रीरामजी और सीताजी का सौन्दर्य देखकर अपने भाग्य की बडाई करने लगे। उनके मनमे परिचय जानने की बहुत सी लालसाएँ भरी हैं। पर वे नाम-गाँव पूछते सकुचाते हैं। उन लोगो मे जो वयोवृद्ध और चतुर थे, उन्होंने युक्ति से श्रीरामचन्द्र जी को पहचान लिया। उन्होने सब कथा लोगो को सुनायी कि पिता की आज्ञा पाकर ये वन को चले हैं। यह सुनकर सब लोग दुखित हो पछता रहे हैं कि रानी और राजा ने अच्छा नही किया। उसी अवसर वहाँ एक तपस्वी आया, जो तेज का पुञ्ज, छोटी अवस्था का और सुन्दर था। उसकी गति कवि नही जानते अथवा वह कवि था, जो अपना परिचय नही देना चाहता। वह वैरागी के वेष मे था और मन, वचन तथा कर्म से श्रीरामचन्द्रजी का प्रेमी था।

अपने इष्टदेव को पहचानकर उसके नेत्रो मे जल भर आया और शरीर पुलकित हो गया। वह दण्ड की भाँति पृथ्वी पर पडा, उसकी प्रेम विह्वल दशा का वर्णन नही किया जा सकता।

विशेष—इस तेज:पुञ्ज तापस के प्रसंग को कुछ टीकाकार क्षेपक मानते हैं और कुछ लोगों के देखने में यह अप्रामाणिक और ऊपर से जोड़ा हुआ-सा जान पड़ता है, परन्तु यह सभी प्राचीन प्रतियों में है। गुसाईंजी अलौकिक अनुभवी पुरुष थे। पता नहीं, यहाँ इस प्रसंग के रखने में क्या रहस्य है, परन्तु यह क्षेपक तो नहीं है। इस तापस को जब कवि 'अलखित गति' कहता है, तब निश्चयपूर्वक कौन क्या कह सकता है। हमारी समझ में तापस या तो श्री हनुमान्‌जी थे अथवा ध्यानस्थ तुलसीदासजी।

अलंकार—अनुप्रास, 'दंड जिमि' में उपमा।

राम सप्रेम पुलकि उर लावा। परम रंक जनु पारसु पावा॥
मनहुँ प्रेम परमारथु दोऊ। मिलत धरें तन कह सबु कोऊ॥
बहुरि लखन पायन्ह सोइ लागा। लीन्ह उठाइ उमगि अनुरागा॥
पुनि सिय चरन धूरि धरि सीसा। जननि जानि सिसु दीन्हि असीसा॥
कीन्ह निषाद दंडवत तेही। मिलेउ मुदित लखि राम सनेही॥
पिअत नयन पुट रूपु पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा॥
ते पितु मातु कहहु सखि कैसे। जिन्ह पठए बन बालक ऐसे॥
राम लखन सिय रूपु निहारी। होहिं सनेह बिकल नर नारी॥

तब रघुबीर अनेक बिधि, सखहि सिखावनु दीन्ह।
राम रजायसु सीस धरि, भवन गवनु तेइँ कीन्ह॥१११॥

व्याख्या—श्रीरामजी ने प्रेमपूर्वक पुलकित होकर उसको हृदय से लगा लिया। उसे इतना आनन्द हुआ मानो कोई महा दरिद्री मनुष्य पारस पा गया हो। सब कोई देखने वाले कहने लगे कि मानो प्रेम और परम तत्त्व दोनों शरीर धारण करके मिल रहे हैं। फिर वह लक्ष्मणजी के चरणों लगा। उन्होंने प्रेम में उमँगकर उसको उठा लिया। उसने सीताजी की चरण धूलि को अपने सिर पर धारण किया। माता सीताजी ने भी उसको अपना छोटा बच्चा जानकर आशीर्वाद दिया। फिर निषादराज ने उसको दण्डवत् की। श्री रामचन्द्रजी का प्रेमी जानकर वह उस निषाद से आनन्दित होकर मिला। वह तपस्वी अपने नेत्र-रूपी दोनों से श्रीरामजी की सौन्दर्य-सुधा का पान करने लगा और ऐसा आनन्दित होता है [illegible]

इधर गाँव की स्त्रियाँ कह रही हैं—हे सखी ! कहो तो, वे माता-पिता कैसे हैं, जिन्होने ऐसे सुन्दर सुकुमार बालको को वन मे भेज दिया है। श्रीरामजी, लक्ष्मणजी, और सीताजी के रूप को देखकर सब स्त्री-पुरुष स्नेह से व्याकुल हो जाते हैं।

तब श्रीरामचन्द्रजी ने सखा गुह को अनेको तरह से घर लौट जाने : लिये समझाया। श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा को सिर चढाकर उसने अपने घ को गमन किया।

पुनि सियँ राम लखन कर जोरी। जमुनहि कीन्ह प्रनामु बहोरी॥
चले ससीय मुदित दोउ भाई। रबि तनुजा कइ करत बड़ाई॥
पथिक अनेक मिलहिं मग जाता। कहहिं सप्रेम देखि दोउ भ्राता॥
राज लखन सब अंग तुम्हारें। देखि सोचु अति हृदय हमारें॥
मारग चलहु पयादेहि पाएँ। ज्योतिषु झूठ हमारें भाएँ॥
अगमु पंथु गिरि कानन भारी। तेहि महँ साथ नारि सुकुमारी॥
करि केहरि बन जाइ न जोई। हम सँग चलहिं जो आयसु होई॥
जाब जहाँ लगि तहँ पहुँचाई। फिरब बहोरि तुम्हहि सिरु नाई॥
एहि बिधि पूँछहिं प्रेम बस, पुलक गात जलु नैन।
कृपासिंधु फेरहिं तिन्हहि, कहि बिनीत मृदु बैन॥११२॥

संदर्भ—प्रस्तुत प्रसग मे राम-सीता और लक्ष्मण के शील और स्वभाव से शिथिल हुए नगर वासियो की दशा का वर्णन है।

व्याख्या—फिर सीताजी और लक्ष्मणजी ने हाथ जोड़कर यमुनाजी को पुनः प्रणाम किया और सूर्य कन्या यमुनाजी की बडाई करते हुए सीताजी—सहित दोनो भाई प्रसन्नता पूर्वक आगे चले। रास्ते मे जाते हुए उन्हे अनेको यात्री मिलते हैं। वे दोनो भाइयो को देखकर उनसे प्रेमपूर्वक कहते हैं कि तुम्हारे सब अङ्गो मे राज चिह्न देखकर हमारे हृदय मे बडा सोच होता है। ऐसे राजचिह्नो के होते हुए भी तुम लोग रास्ते मे पैदल ही चल रहे हो, इससे हमारी समझ मे आता है कि ज्योतिष-शास्त्र झूठा ही है। भारी जगल और बडे-बडे पहाडो का दुर्गम रास्ता है। तिसपर तुम्हारे साथ सुकुमारी स्त्री है। हाथी और सिहो से भरा यह

भयानक वन देखा तक नही जाता । यदि आज्ञा हो तो हम साथ चलें । आप जहाँ तक जायेंगे वहाँ तक पहुँचाकर, फिर आपको प्रणाम करके हम लौट आवेंगे ।

इस प्रकार वे यात्री प्रेम वश पुलकित-शरीर हो और नेत्रों में प्रेमाश्रुओं का जल भरकर पूछते हैं, किन्तु कृपा के समुद्र श्रीरामचन्द्रजी कोमल विनय-युक्त वचन कहकर उन्हें लौटा देते हैं ।

अलंकार—अनुप्रास ।

संदर्भ—प्रस्तुत प्रसंग में वन मार्ग के ग्रामों और राम के विश्राम-स्थल वृक्षों के भाग्य और सौन्दर्य का वर्णन कवि कर रहा है ।

जे पुर ग्राम बसहिं मग माहीं । तिन्हहिं नाग सुर नगर सिहाहीं ॥
केहि सुकृतीं केहि घरीं बसाए । धन्य पुन्यमय परम सुहाए ॥
जहँ-जहँ राम चरन चलि जाहीं । तिन्ह समान अमरावति नाहीं ॥
पुन्यपुंज मग निकट निवासी । तिन्हहि सराहहिं सुरपुर वासी ॥
जे भरि नयन बिलोकहिं रामहिं । सीता लखन सहित घनश्यामहिं ॥
जे सर सरित राम अव गाहहिं । तिन्हहिं देव सर सरित सराहहिं ॥
जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई । करहिं कलपतरु तासु बड़ाई ॥
परसि राम पद पदुम परागा । मानति भूमि भूरि निज भागा ॥
छाँह करहिं घन, बिबुध गन, बरषहिं सुमन सिहाहिं ।
देखत गिरि बन बिहग मृग, रामु चले मग जाहिं ॥११३॥

व्याख्या—जो गाँव और पुर वे रास्ते में बसे हैं, नागों और देवताओं के नगर उनको देखकर प्रशंसापूर्वक ईर्ष्या हैं करते और ललचाते हुए कहते हैं कि किस पुण्यवान् ने किस शुभ घडी में इनको बसाया था, जो आज ये इतने धन्य और पुण्यमय तथा परम सुन्दर हो रहे हैं । जहाँ-जहाँ श्रीरामचन्द्र जी के चरण चले जाते हैं, उनके समान इन्द्र की पुरी अमरावती भी नहीं है । रास्ते के समीप बसने वाले भी बड़े पुण्यात्मा हैं—स्वर्ग में रहने वाले देवता भी उनकी सराहना करते हैं जो नेत्र भरकर सीताजी और लक्ष्मणजी सहित घनश्याम श्रीरामजी के दर्शन करते हैं, जिन तालावों और नदियों में श्रीरामजी स्नान कर लेते हैं, देव सरोवर और देव नदियाँ भी उनकी बड़ाई करती हैं । जिस वृक्ष के

नीचे प्रभु जा बैठते है, कल्पवृक्ष भी उसकी बडाई करते है। श्रीरामचन्द्र जी के चरण कमलो की रज का स्पर्श करके पृथ्वी अपना बडा सौभाग्य मानती है।

रास्ते मे बादल छाया करते है और देवता फूल बरसाते और सिहाते है। पर्वत, वन और पशु-पक्षियो को देखते हुए श्रीरामजी रास्ते मे चले जा रहे है।

१—अलकार—अनुप्रास ।

२—राम के ईश्वरत्व की ओर संकेत है।

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहि जाई ॥
सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहि तुरत गृहकाजु बिसारी ॥
राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फलु होहि सुखारी ॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा ॥
बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रकन्ह सुरमनि ढेरी ॥
एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन ऐहीं ॥
रामहि देखि एक अनुरागे। चितवन चले जाहि सँग लागे ॥
एक नयन मग छवि उर आनी। होहि सिथिल तन मन बर बानी ॥
एक देखि बट छाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात।
कहहि गवाँइअ छिनुकु श्रमु, गवनब अबहि की प्रात ॥११४॥

सदर्भ—प्रस्तुत प्रसग मे राम के शील और सौन्दर्य से शिथिल वन के नर-नारियो की दशा का वर्णन है।

व्याख्या—सीताजी और लक्ष्मणजी सहित श्रीरघुनाथ जी जब किसी गाँव के पास जा निकलते है, तब उनका आना सुनते ही बालक-बूढे, स्त्री-पुरुष सब अपने घर और काम-काजको भूलकर तुरत उन्हे देखने के लिये चल देते हैं। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी का रूप देखकर, नेत्रो का परम फल पाकर वे सुखी होते है। दोनो भाइयो को देखकर सब प्रेमानन्द मे मग्न हो गये। उनके नेत्रो मे जल भर आया और शरीर पुलकित हो गये। उनकी दशा वर्णन नहीं की जाती। मानो दरिद्रो मे चिन्तामणि की ढेरी पा ली हो। वे एक-एक को पुकार कर सीख देते हैं कि इसी क्षण नेत्रो का लाभ ले लो। कोई श्रीरामचन्द्र

जी को देखकर ऐसे अनुराग में भर गये हैं कि वे उन्हें देखते हुए उनके साथ लगे चले जा रहे हैं। कोई नेत्र मार्ग से उनकी छवि को हृदय में लाकर शरीर, मन और श्रेष्ठ वाणी से शिथिल हो जाते हैं अर्थात् उनके शरीर, मन और वाणी का व्यवहार बंद हो जाता है।

कोई वट की सुन्दर छाया देखकर, वहाँ नरम घास और पत्ते बिछाकर कहते हैं कि क्षणभर यहाँ बैठकर थकावट मिटा लीजिए, फिर चाहे अभी चले जाइयेगा, चाहे सबेरे।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, उल्लेख ।

एक कलस भरि आनहिं पानी। अँचइअ नाथ कहहिं मृदु बानी॥
सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी। राम कृपाल सुसील बिसेषी॥
जानी श्रमित सीय मन माहीं। घरिक बिलंबु कीन्ह बट छाहीं॥
मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप, नयन मनु लोभा॥
एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचन्द्र मुख चन्द चकोरा॥
तरुन तमाल बरन तनु सोहा। देखत कोटि मदन मनु मोहा॥
दामिनी बरन लखन सुठि नीके। नख सिख सुभग भावते जी के॥
मुनिपट कटिन्ह कसे तूनीरा। सोहहिं कर कमलनि धनु तीरा॥
जटा मुकुट सीसनि सुभग, उर भुज नयन बिसाल।
सरद परब बिधु बदन बर, लसत स्वेद कन जाल॥११५॥

व्याख्या—कोई घड़ा भर कर पानी ले आते हैं और कोमल वाणी से कहते हैं—नाथ ! आचमन तो कर लीजिये। उनके प्यारे वचन सुनकर और उनका अत्यन्त प्रेम देखकर दयालु और परम सुशील श्रीरामचन्द्र जी ने मन में सीताजी को थकी हुई जानकर घड़ीभर वट की छाया में विश्राम किया। स्त्री-पुरुष आनन्दित होकर शोभा देखते हैं। अनुपम रूप ने उनके नेत्र और मनों को लुभा लिया है। सब लोग टकटकी लगाये श्रीरामचन्द्र जी के मुखचन्द्र को चकोर की तरह तन्मय होकर देखते हुए चारों ओर सुशोभित हो रहे हैं। श्रीरामजी का नवीन तमाल वृक्ष के रंग का श्याम शरीर अत्यन्त शोभा दे रहा है, जिसे देखते ही करोड़ों कामदेवों के मन मोहित हो जाते हैं। बिजली के-से रंग के लक्ष्मण जी बहुत ही भले मालूम होते हैं। वे नख से शिखा तक सुन्दर हैं और

कमर मे तरकस कसे हुए हैं। उनके कमल के समान हाथो मे धनुष तिरछा करके हो रहे है। यह जानकर

उनके सिरो पर सुन्दर जटाओ के मुकुट हैं, वक्षःस्थल, भुजा और नेत्र भी विशाल हैं और शरत्पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखो पर पसीने की बूंदो का समूह शोभित हो रहा है।

अलकार—उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास।

बरनि न जाइ मनोहर जोरी। सोभा बहुत थोरि मति मोरी॥
राम लखन सिय सुन्दरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई॥
थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहुँ मृगी मृग देखि दिआ से॥
सीय समीप ग्राम तिय जाहीं। पूँछति अति सनेहँ सकुचाहीं॥
बार-बार सब लागहिं पाएँ। कहहिं बचन मृदु सरल सुभाएँ॥
राजकुमारि बिनय हम करहीं। तिय सुभायँ कछु पूँछत डरहीं॥
स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गवाँरी॥
राजकुअँर दोउ सहज सलोने। इन्ह तें लहि दुति मरकत सोने॥
स्यामल गौर किसोर बर, सुन्दर सुषमा ऐन।
सरद सर्वरीनाथ मुखु, सरद सरोरुह नैन॥११६॥

व्याख्या—उस मनोहर जोडी का वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योकि शोभा बहुत अधिक है और मेरी बुद्धि थोडी है। श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी की सुन्दरता को सब लोग मन, चित्त और बुद्धि तीनो को लगाकर देख रहे हैं। प्रेम के प्यासे वे गाँव के स्त्री-पुरुष इनके सौन्दर्य-माधुर्य की छटा देखकर ऐसे चकित रह गये जैसे दीपक को देखकर हिरनी और हिरन निस्तब्ध रह जाते हैं गाँवो की स्त्रियाँ सीताजी के पास जाती हैं, परन्तु अत्यन्त स्नेह के कारण उनका नाम गाँव पूछते सकुचाती हैं। बार-बार सब उनके पाँव लगती और सहज ही सीधे-सादे कोमल कोमल वचन कहती हैं कि हे राजकुमारी! हम कुछ निवेदन करना चाहती हैं, परन्तु स्त्री-स्वभाव के कारण कुछ पूछते हुए डरती है। हे स्वामिनि! हमारी ढिठाई क्षमा कीजियेगा और हमको गँवारी जानकर बुरा न मानियेगा। ये दोनो राजकुमार स्वभाव से ही परम सुन्दर है। मरकत मणि और सुवर्ण ने कान्ति इन्ही से पाई हैं अर्थात् मरकत मणि मे और स्वर्ण मे जो

भा है, वह इनकी हरिताभ, नील और स्वर्ण कान्ति
ही है।
सुन्दर किशोर अवस्था है; दोनों ही परम सुन्दर
रत्पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान इनके मुख और
ान इनके नेत्र हैं।

अलंकार—उपमा, पक।

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेह मय मंजुल बानी। सकुचि सिय मन महुँ मुसुकानी॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचित बर बरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सियँ सयननि॥
भईं मुदित सब ग्राम बधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं॥

अति सप्रेम सिय पायँ परि, बहुबिधि देहिं असीस।
सदा सोहागिनि होहु तुम्ह, जब लगि महि अहि सीस॥११७॥

संदर्भ—ग्राम बालायें सीता से राम और लक्ष्मण का परिचय पूछती हैं वडी चतुरता से सब कुछ बता देती है।

व्याख्या—ग्राम बालायें सीता से पूछती हैं कि हे सुमुखि! कहो तो अपनी सुन्दरता से करोड़ों कामदेवों को लजाने वाले ये तुम्हारे कौन हैं? उनकी ऐसी प्रेममयी सुन्दर वाणी सुनकर सीता जी सकुचा गयी और मन-ही-मन मुसकरायी। सीताजी उनको देखकर संकोच वश पृथ्वी की ओर देखती हैं। वें दोनों ओर के सकोच से सकुचा रही हैं अर्थात् न बताने मे ग्राम की स्त्रियों को दुःख होने का सकोच है और बताने मे लज्जा रूपी सकोच है। हिरन के बच्चे के सदृश नेत्रवाली और कोकिल की सी वाणी वाली सीताजी सकुचा कर प्रेम-सहित मधुर वचन बोलीं। ये जो सहज स्वभाव, सुन्दर और गोरे शरीर के हैं, उनका नाम लक्ष्मण है; ये मेरे छोटे देवर है। फिर सीताजी ने लज्जावश अपने चन्द्रमुख को आँचल से ढककर और प्रियतम (श्रीरामजी) की ओर निहार

कर भौंहे टेढ़ी करके, खजन पक्षी के से सुन्दर नेत्रो को तिरछा करके इशारे से उनसे कहा कि ये (श्रीरामचन्द्रजी) मेरे पति है। यह जानकर गाँव की सब युवती स्त्रियाँ इस प्रकार आनन्दित हुई मानो कंगालो ने धन की राशियाँ लूट ली हो।

वे अत्यन्त प्रेम से सीताजी के पैरो पड कर बहुत प्रकार से आशिष देती है (शुभ कामना करती हैं) कि जब तक शेषजी के सिर पर पृथ्वी रहे तब तक तुम सदा सुहागिनी बनी रहो।

अलकार—'कोटि मनोज मे प्रतीप, 'बदन विधु' मे रूपक, 'रकन्ह' मे उत्प्रेक्षा, अनुप्रास और वृत्यनुप्रास।

पारवती सम पति प्रिय होहू। देवि न हम पर छाड़ब छोहू॥
पुनि पुनि विनय करिअ कर जोरी। जौं एहि मारग फिरिअ बहोरी॥
दरसनु देबि जानि निज दासी। लखीं सीयँ सब प्रेम पियासी॥
मधुर बचन कहि कहि परितोषीं। जनु कुमुदिनीं कौमुदी पोषीं॥
तबहि लखन रघुबर रुख जानी। पूँछेउ मगु लोगन्हि मृदु बानी॥
सुनत नारि नर भए दुखारी। पुलकित गात बिलोचन बारी॥
मिटा मोदु मन भए मलीने। बिधि निधि दीन्ह लेत जनु छीने॥
समुझि करम गति धीरज कीन्हा। सोधि सुगम मगु तिन्ह कहि दीन्हा॥

लखन जानकी सहित तब, गवनु कीन्ह रघुनाथ।
फेरे सब प्रिय बचन कहि लिए लाइ मन साथ॥११८॥

व्याख्या - ग्राम वालायें सीता को आशीर्वाद देती हुई कहती है कि पार्वती जी के समान अपने पति की प्यारी हो। और हे देवि! हम पर कृपा बनाये रखना। हम बार-बार हाथ जोड कर विनती करती है, जिससे आप फिर इसी रास्ते लौटें और हमे अपनी दासी जानकर दर्शन दें। सीताजी ने उन सबको प्रेम की प्यासी देखा और मधुर वचन कह-कहकर उनका भली भाँति सन्तोष किया। मानो चाँदनी ने कुमुदिनियो को खिला कर पुष्ट कर दिया हो। उसी समय श्रीरामचन्द्रजी का रुख जानकर लक्ष्मणजी ने कोमल वाणी से लोगो से रास्ता पूँछा। यह सुनते ही स्त्री-पुरुष दुखी हो गये। उनके शरीर पुलकित हो गये और नेत्रो मे वियोग की सम्भावना से प्रेम का जल भर आया। उनका

आनन्द मिट गया और मन ऐसे उदास हो गये मानो विधाता दी हुई सम्पत्ति छीने लेता हो। कर्म की गति समझकर उन्होंने धैर्य धारण किया और अच्छी तरह निर्णय करके सुगम मार्ग बतला दिया।

तब लक्ष्मणजी और जानकीजी सहित श्रीरघुनाथजी ने गमन किया और सब लोगों को प्रिय वचन कह कर लौटाया, किन्तु उनके मनों को अपने साथ ही लगा लिया।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

फिरत नारि नर अति पछिताहीं। दैअहि दोषु देहिं मन माहीं॥
सहित बिषाद परसपर कहहीं। बिधि करतब उलटे सब अहहीं॥
निपट निरंकुस निठुर निसंकू। जेहिं ससि कीन्ह सरुज सकलंकू॥
रूख कलपतरु सागरु खारा। तेहिं पठए बन राजकुमारा॥
जौं पै इन्हहिं दीन्ह बनबासू। कीन्ह बादि बिधि भोग बिलासू॥
ए बिचरहिं मग बिनु पद त्राना। रचे बादि बिधि बाहन नाना॥
ए महि परहिं डासि कुस पाता। सुभग सेज कत सृजत बिधाता॥
तरुबर बास इन्हहिं बिधि दीन्हा। धवल धाम रचि रचि श्रमु कीन्हा॥

जौं ए मुनि पट धर जटिल, सुंदर सुठि सुकुमार।
बिबिध भाँति भूषन बसन, बादि किए करतार॥११६॥

व्याख्या—लौटते हुए वे स्त्री-पुरुष बहुत ही पछताते हैं और मन ही मन दैव को दोष देते हैं। परस्पर बड़े ही विषाद के साथ कहते हैं कि विधाता के सभी काम उलटे हैं। वह विधाता बिल्कुल निरंकुश निर्दय और निडर है, जिसने चन्द्रमा को रोगी (घटने-बढ़ने वाला) और कलंकी बनाया। कल्पवृक्ष को पेड़ और समुद्र को खारा बनाया। उसीने इन राजकुमारों को वन में भेजा है। जब विधाता ने इनको वनवास दिया है, तब उसने भोग-विलास व्यर्थ ही बनाये। जब ये नंगे ही पैरों रास्ते में चल रहे हैं, तब विधाता ने अनेकों सवारियाँ व्यर्थ ही रचीं। जब ये कुश और पत्ते बिछाकर जमीन पर ही पड़ रहते हैं, तब विधाता सुन्दर पलंग और बिछौने किस लिये बनाता है? विधाता ने जब इनको बड़े-बड़े पेड़ों के नीचे का निवास दिया, तब उज्ज्वल महलों को बना-बनाकर उसने व्यर्थ ही परिश्रम किया।

जो ये सुन्दर और अत्यन्त सुकुमार होकर मुनियों के वल्कल वस्त्र पहनते और जटा धारण करते हैं, तो फिर विधाता ने भाँति-भाँति के गहने और कपडे वृथा ही बनाये।

अलंकार—काव्यलिंग।

जौं ए कंद मूल फल खाहीं। बादि सुधादि असन जग माहीं॥
एक कहहिं ए सहज सुहाए। आपु प्रगट भए बिधि न बनाए॥
जहँ लगि बेद कही बिधि करनी। श्रवन नयन मन गोचर बरनी॥
देखहु खोजि भुअन दस चारी। कहँ अस पुरुष कहाँ असि नारी॥
इन्हहि देखि बिधि मनु अनुरागा। पटतर जोग बनावै लागा॥
कीन्ह बहुत श्रम एक न आए। तेहिं इरिषा बन आनि दुराए॥
एक कहहिं हम बहुत न जानहिं। आपुहि परम धन्य करि मानहिं॥
ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे॥

एहि बिधि कहि कहि बचन प्रिय, लेहिं नयन भरि नीर।
किमि चलिहहिं मारग अगम, सुठि सुकुमार सरीर॥१२०॥

व्याख्या—जो ये कन्द, मूल, फल खाते है तो जगत् मे अमृत आदि भोजन व्यर्थ ही है। कोई एक कहते है—ये स्वभाव से ही सुन्दर है, इनका सौन्दर्य-नित्य और स्वाभाविक है। ये अपने-आप प्रकट हुए है, ब्रह्मा के बनाये नही है। हमारे कानो, नेत्रो और मन के द्वारा अनुभव मे आने वाली विधाता की करनी को जहाँ तक वेदो मे वर्णन करके कहा है, वहाँ तक चौदहो लोको मे खोज कर देखो, ऐसे पुरुष और ऐसी स्त्रियाँ कहाँ हैं ? कही भी नही हैं, इसीसे सिद्ध है कि ये विधाता के चौदहो लोको से अलग हैं और अपनी महिमा से ही आप निर्मित हुए हैं। इन्हे देखकर विधाता का मन अनुरक्त हो गया, तब वह भी इन्हीं की उपमा के योग्य दूसरे स्त्री-पुरुष बनाने लगा। उसने बहुत परिश्रम किया, परन्तु कोई उसकी अटकल मे ही पूरे नही उतरे, इसी ईर्ष्या के मारे उसने इनको जगल मे लाकर छिपा दिया है। कोई एक कहता है—हम बहुत नही जानते। हाँ, अपने को परम धन्य अवश्य मानते है जो इनके दर्शन कर रहे है और हमारी समझ मे भी बडे पुण्यवान है, जिन्होने इनको देखा है, जो देख रहे है और जो देखेंगे।

इस प्रकार प्रिय वचन कह-कह कर सब नेत्रो मे [प्रेमाश्रुओ का] जल भर लेते हैं और कहते है कि ये अत्यन्त सुकुमार शरीर वाले दुर्गम (कठिन) मार्ग मे कैसे चलेंगे।

अलंकार—काव्यलिंग।

नारि सनेह बिकल बस होहीं। चकई साँझ समय जनु सोहीं॥
मृदु पद कमल कठिन मगु जानी। गहबरि हृदयँ कहहिं बर बानी॥
परसत मृदुल चरन अरुनारे। सकुचति महि जिमि हृदय हमारे॥
जौं जगदीस इन्हहि बनु दीन्हा। कस न सुमनमय मारगु कीन्हा॥
जौं मागा पाइअ बिधि पाहीं। ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं॥
जे नर नारि न अवसर आए। तिन्ह सिय रामु न देखन पाए॥
सुनि सुरूपु बूझहिं अकुलाई। अब लगि गए कहाँ लगि भाई॥
समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनम फलु पाई॥

अबला बालक बृद्ध जन, कर मीजहिं पछिताहिं।
होहिं प्रेमबस लोग इमि रामु, जहाँ जहँ जाहिं॥१२१॥

व्याख्या—स्त्रियाँ स्नेहवश विकल हो जाती हैं। मानो संध्या के समय चकवी भावी वियोग की पीड़ा से दुखी हो रही हो। इनके चरण कमलों को कोमल तथा मार्ग को कठोर जानकर वे व्यथित हृदय से उत्तम वाणी कहती हैं। इनके कोमल और लाल-लाल चरणों को छूते ही पृथ्वी वैसे ही सकुचा जाती है जैसे हमारे हृदय सकुचा रहे हैं। जगदीश्वर ने यदि इन्हे वनवास ही दिया, तो सारे रास्ते को पुष्पमय क्यो नहीं बना दिया। यदि ब्रह्मा से माँगे मिले तो हम उनसे माँगकर इन्हे अपनी आँखो मे ही रक्खें। जो स्त्री-पुरुष इस अवसर पर नही आये, वे श्रीसीता रामजी को नही देख सके। उनके सौन्दर्य को सुनकर वे व्याकुल होकर पूछते हैं कि भाई! अब तक वे कहाँ तक गये होंगे? और जो समर्थ हैं वे दौडते हुए जाकर उनके दर्शन कर लेते हैं और जन्म का परम फल पाकर विशेष आनन्दित होकर लौटते है।

गर्भवती, प्रसूता आदि अबला स्त्रियाँ, बच्चे और बूढ़े दर्शन न पाने से हाथ मलते और पछताते हैं। इस प्रकार जहाँ-जहाँ श्रीरामचन्द्रजी जाते हैं, वहाँ-वहाँ लोग प्रेम के वश मे हो जाते हैं।

अलंकार—अनुप्रास, काव्यलिंग, उत्प्रेक्षा, उपमा।

गावँ गावँ अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरव चंदू॥
जे कछु समाचार सुनि पावहिं। ते नृप रानिहि दोसु लगावहिं॥
कहहिं एक अति भल नरनाहू। दीन्ह हमहि जोइ लोचन लाहू॥
कहहिं परसपर लोग लोगाईं। बातें सरल सनेह सुहाईं॥
ते पितु मातु धन्य जिन्ह जाए। धन्य सो नगरु जहाँ तें आए॥
धन्य सो देसु सैलु बन गाऊँ। जहँ जहँ जाहिं धन्य सोइ ठाऊँ॥
सुखु पायउ बिरंचि रचि तेही। ए जेहि के सब भाँति सनेही॥
राम लखन पथि कथा सुहाई। रही सकल मग कानन छाई॥

एहि बिधि रघुकुल कमल रवि, मग लोगन्ह सुख देत।
जाहिं चले देखत बिपिन सिय, सौमित्रि समेत॥१२२॥

व्याख्या—सूर्यकुलरूपी कुमुदिनी के प्रफुल्लित करने वाले चन्द्रमा स्वरूप श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन कर गाँव-गाँव मे ऐसा ही आनन्द हो रहा है। जो लोग वनवास दिये जाने का कुछ भी समाचार सुन पाते हैं, वे राजा-रानी को दोष लगाते है, कोई एक कहते है कि राजा बहुत ही अच्छे है, जिन्होने हमे अपने नेत्रो का लाभ दिया। स्त्री-पुरुष सभी आपस मे सीधी, स्नेहभरी सुन्दर बातें कह रहे हैं। वे कहते हैं कि वह देश, पर्वत, वन और गाँव धन्य हैं, और वही स्थान धन्य है, जहाँ-जहाँ ये जाते हैं। ब्रह्मा ने उसी को रचकर सुख पाया है जिसके ये (श्रीरामचन्द्रजी) सब प्रकार से स्नेही हैं। पथिक रूप श्रीराम-लक्ष्मण की सुन्दर कथा सारे रास्ते और जगल मे छा गयी है॥

रघुकुल रूपी कमल के खिलानेवाले सूर्य श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार मार्ग के लोगो को सुख देते हुए सीताजी और लक्ष्मणजी सहित वन को देखते हुए चले जा रहे हैं।

अलंकार—रूपक, अनुप्रास वृत्यनुप्रास।

आगें रामु लखनु बन पाछें। तापस बेष बिराजत काछें॥
उभय बीच सिय सोहति कैसें। ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥
बहुरि कहउँ छबि जसि मन बसई। जनु मधु मदन मध्य रति लसई॥
उपमा बहुरि कहउँ जियँ जोही। जनु बुध बिधु बिच रोहिनि सोही॥

प्रभु पद रेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता॥
सीय राम पद अंक बराएँ। लखन चलहिं मगु दाहिन लाएँ॥
राम लखन सिय प्रीति सुहाई। बचन अगोचर किमि कहि जाई॥
खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिए चोरि चित राम बटोहीं॥

जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय, सिय समेत दोउ भाइ।
भव मगु अगमु अनंदु तेइ, बिनु श्रम रहे सिराइ॥१२३॥

व्याख्या—आगे श्रीरामजी हैं, पीछे लक्ष्मणजी सुशोभित हैं। तपस्वियों के वेष बनाये दोनों बड़ी ही शोभा पा रहे हैं। दोनों के बीच में सीताजी कैसी सुशोभित हो रही हैं, जैसे ब्रह्म और जीव के बीच में माया। फिर जैसी छवि मेरे मन में बस रही है, उसको कहता हूँ—मानो वसन्त-ऋतु और कामदेव के बीच में रति (कामदेव की स्त्री) शोभित हो। फिर अपने हृदय में खोजकर उपमा कहता हूँ कि मानो बुध (चन्द्रमा के पुत्र) और चन्द्रमा के बीच में रोहिणी (चन्द्रमा की स्त्री) सोह रही हो। प्रभु श्रीरामचन्द्र के जमीन पर अंकित होनेवाले दोनों चरणचिन्हों के बीच-बीच में पैर रखती हुई सीताजी कहीं भगवान् के चरण चिन्हों पर पैर न टिक जाय इस बात से डरती हुई मार्ग में चल रही हैं, और लक्ष्मणजी मर्यादा की रक्षा के लिये सीताजी और श्रीरामचन्द्रजी दोनों के चरणचिन्हों को बचाते हुए दाहिने ओर पैर रखकर रास्ता चल रहे हैं। श्रीरामजी, लक्ष्मणजी और सीताजी की सुन्दर प्रीति वाणी का विषय नहीं है अर्थात अनिर्वचनीय है, अत वह कैसे कही जा सकती है? पक्षी और पशु भी उस छवि को देखकर प्रेमानन्द में मग्न हो जाते हैं। पथिक रूप श्रीरामचन्द्रजी ने उनके भी चित्त चुरा लिये हैं।

प्यारे पथिक सीताजी सहित दोनों भाइयों को जिन-जिन लोगों ने देखा, उन्होंने भव का अगम मार्ग (जन्म-मृत्यु रूपी संसार में भटकने का भयानक मार्ग) बिना ही परिश्रम के साथ तै कर लिया अर्थात् वे आवागमन के चक्र से सहज ही छूटकर मुक्त हो गये।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, रूपक, अनुप्रास।

अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहुँ लखनु सिय रामु बटाऊ॥
राम धाम पथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥

तब रघुबीर श्रमित सिय जानी । देखि निकट बटु सीतल पानी ।।
तहँ बसि कंद मूल फल खाई । प्रात नहाइ चले रघुराई ।।
देखत बन सर सैल सुहाए । बालमीकि आश्रम प्रभु आए ।।
राम दीख मुनि बासु सुहावन । सुंदर गिरि काननु जलु पावन ।।
सरनि सरोज बिटप बन फूले । गुंजत मंजु मधुप रस भूले ।।
खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं । बिरहित बैर मुदित मन चरहीं ।।

सुचि सुन्दर आश्रमु निरखि, हरषे राजिवनेन ।
सुनि रघुबर आगमनु मुनि, आगें आयउ लेन ।।१२४।।

व्याख्या—आज भी जिसके हृदय मे स्वप्न मे भी कभी लक्ष्मण, सीता और राम तीनो बटोही आ बसे, तो वह भी श्रीरामजी के परमधाम के उस मार्ग को पा जायगा जिस मार्ग को कभी कोई विरले ही मुनि पाते हैं । तब श्रीरामचन्द्रजी सीताजी को थकी हुई जानकर और समीप ही एक बड का वृक्ष और ठडा पानी देखकर उस दिन वही ठहर गये । कन्द, मूल फल खाकर रातभर वहाँ रहकर प्रातःकाल स्नान करके श्रीरघुनाथजी आगे चले । सुन्दर वन, तालाव और पर्वत देखते हुए प्रभु श्रीरामचन्द्रजी वाल्मीकि जी के आश्रम मे आये । श्रीरामचन्द्रजी ने देखा कि मुनि का निवास स्थान वहुत सुन्दर है, जहाँ सुन्दर पर्वत, वन और पवित्र जल हैं, सरोवरो मे कमल और वनो मे वृक्ष फूल रहे हैं और मकरन्द-रस मे मस्त हुए भौरे सुन्दर गुजार कर रहे हैं । वहुत-से पक्षी और पशु कोलाहल कर रहे हैं और वैर से रहित होकर प्रसन्न मन से विचर रहे है ।

पवित्र और सुन्दर आश्रम को देखकर कमल नयन श्रीरामचन्द्रजी हर्षित हुए । रघुश्रेष्ठ श्रीरामजनी का आगमन सुनकर मुनि वाल्मीकिजी हर्षित हुए । रघुश्रेष्ठजी का आगमन सुनकर मुनि वाल्मीकि जी उन्हे लेने के लिए आगे आये ।

अलकार—रूपक, अनुप्रास ।

मुनि कहुँ राम दडवत कीन्हा । आसिरबादु विप्रवर दीन्हा ।।
देखि राम छबि नयन जुडाने । करि सनमानु आश्रमहिं आने ।।
मुनिवर अतिथि प्रानप्रिय पाए । कंद मूल फल मधुर मँगाए ।।
सिय सौमित्रि राम फल खाए । तब मुनि आश्रम दिए सुहाए ।।

जगु पेखन तुम्ह देखनिहारे। विधि हरि सभु नचावनिहारे॥
तेउ न जानहि मरमु तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई॥
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनदन। जानहि भगत भगत उर चदन॥
चिदानदमय देह तुम्हारी। बिगत विकार जान अधिकारी॥
नर तनु धरेहु सत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥
राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड मोहहि बुद्ध होहि सुखारे॥
तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिअ तस चाहिअ नाचा॥
पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ, मैं पूँछत सकुचाउँ।
जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावौं ठाउँ॥१२७॥

व्याख्या—हे राम! जगत् दृश्य है, आप उसके देखने वाले हैं। आप ब्रह्मा, विष्णु और शकर को भी नचाने वाले हैं। जब वे भी आपके मर्म को नही जानते, तब और कौन आपको जानने वाला है, वही आपको जानता है जिसे आप जना देते हैं और जानते ही वह आपका ही स्वरूप बन जाता है। हे रघुनन्दन! हे भक्तो के हृदय के शीतल करने वाले चन्दन! आपकी ही कृपा से भक्त आपको जान पाते हैं आपकी देह चिदानन्दमय है (यह प्रकृतिजन्य पच महाभूतो की बनी हुई कर्म-बन्धनयुक्त, त्रिदेहविशिष्ट मायिक नहीं है) और [उत्पत्ति-नाश, वृद्धि क्षय आदि] सब विकारो से रहित है, इस रहस्य को अधिकारी पुरुष ही जानते हैं। आपने देवता और संतो के कार्य के लिये [दिव्य] नर शरीर धारण किया है, और प्राकृत (प्राकृत के तत्वो से निर्मित देह वाले, साधारण) राजाओ की तरह से कहते और करते हैं। हे राम! आपके चरित्रों को देख और सुनकर मूर्ख लोग तो मोह को प्राप्त होते हैं और ज्ञानी जन सुखी होते है। आप जो कुछ कहते, करते हैं, वह सब उचित ही है, क्योकि जैसा स्वाँग भरे वैसा ही नाचना भी तो चाहिये (इस समय आप मनुष्य रूप मे हैं, अत मनुष्योचित व्यवहार करना ठीक ही है)।

आपने मुझसे पूछा कि मैं कहाँ रहूँ? परन्तु मै यह पूछते सकुचाता हूँ कि जहाँ आप न हो, वह स्थान बता दीजिये। तब मैं आपके रहने के लिये स्थान दिखाऊँ।

सुनि मुनि बचन प्रेम रस साने । सकुचि राम मन महु मुसुकाने ॥
बालमीकि हँसि कहहिं बहोरी । बानी मधुर अमिअ रस बोरी ॥
सुनहु राम अब कहउँ निकेता । जहाँ बसहु सिय लखन समेता ॥
जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना । कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ॥
भरहिं निरंतर होहिं न पूरे तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे ॥
लोचन चातक जिन्ह करि राखे । रहहिं दरस जलधर अभिलाषे ॥
निदरहिं सरित सिंधु सर भारी । रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ॥
तिन्ह कें हृदय सदन सुखदायक । बसहु बंधु सिय सह रघुनायक ॥
जसु तुम्हार मानस विमल, हंसिनि जीहा जासु ।
मुकताहल गुन गन चुनइ, राम बसहु हियँ तासु ॥१२८॥

व्याख्या—मुनि के प्रेम रस से सने हुए वचन सुनकर श्रीरामचन्द्र जी [रहस्य खुल जाने के डर से] सकुचाकर मन मे मुसकराये । वाल्मीकि जी हँसकर फिर अमृत-रस मे डुबोयी हुई मीठी वाणी बोले कि हे रामजी ! सुनिये, अब मैं वे स्थान बताता हूं जहाँ आप सीताजी और लक्ष्मणजी समेत निवास करिये । जिनके कान समुद्र की भाँति आपकी सुन्दर कथारूपी अनेकों सुन्दर नदियो से निरन्तर भरते रहते हैं, परन्तु कभी पूरे नहीं होते, उनके हृदय आपके लिये सुन्दर घर है और जिन्होने अपने नेत्रो को चातक बना रक्खा है, जो आपके दर्शन रूपी मेघ के लिये सदा लालायित रहते हैं, तथा जो भारी-भारी नदियो, समुद्रो और झीलों का निरादर करते हैं और आपके सौन्दर्य [रूपी मेघ] के एक बूंद जल से सुखी हो जाते हैं (अर्थात् आपके दिव्य सच्चिदानन्दमय स्वरूप के किसी एक अङ्ग की जरा-सी भी झाँकी के सामने स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनो जगत् के, अर्थात् पृथ्वी, स्वर्ग और ब्रह्मलोक तक के सौन्दर्य का तिरस्कार करते हैं), हे रघुनाथजी ! उन लोगो के हृदय रूपी सुखदायी भवनों मे आप भाई लक्ष्मण जी और सीता जी सहित निवास कीजिये ।

आपके यशरूपी निर्मल मानसरोवर मे जिसकी जीभ हंसिनी बनी हुई आपके गुण समूह रूपी मोतियों को चुगती रहती है, हे रामजी ! आप उसके हृदय मे बसिये ।

अलंकार—साग रूपक, उपमा ।

प्रभु प्रसाद सुचि सुभग सुबासा । सादर जासु लहइ नित नासा ॥
तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं । प्रभु प्रसाद पट भूषन धरहीं ॥
सीस नवहिं सुर गुरु द्विज देखी । प्रीति सहित करि विनय बिसेषी ॥
कर नित करहिं राम पद पूजा । राम भरोस हृदयँ नहिं दूजा ॥
चरन राम तीरथ चलि जाहीं । राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥
मंत्रराजु नित जपहिं तुम्हारा । पूजहिं तुम्हहि सहित परिवारा ॥
तरपन होम करहिं बिधि नाना । बिप्र जेवाँइ देहिं बहु दाना ॥
तुम्हतें अधिक गुरहि जियँ जानी । सकल भायँ सेवहिं सनमानी ॥

सबु करि मागहिं एक फलु, राम चरन रति होउ ।
तिन्ह कें मन मंदिर बसहु, सिय रघुनंदन दोउ ॥१२९॥

शब्दार्थ—निवेदित=अर्पण । रति=प्रेम ।

संदर्भ—राम वाल्मीकि से निवास करने का स्थान पूछते हैं । वे उन्हें आध्यात्मिक स्थान बताते हुए कहते हैं—

व्याख्या—हे राम ! जिसकी नासिका आप के पवित्र और सुगन्धित सुन्दर प्रसाद को नित्य आदर के साथ ग्रहण करती है और जो आपको अर्पण करके भोजन करते हैं और आपके प्रसाद रूप ही वस्त्राभूषण धारण करते हैं जिन के मस्तक देवता, गुरु और ब्राह्मणों को देखकर बड़ी नम्रता के साथ प्रेम सहित झुक जाते हैं, जिनके हाथ नित्य आपके चरणों की पूजा करते हैं, और जिनके हृदय में आपका ही भरोसा है तथा जिनके चरण आपके तीर्थों में चलकर जाते हैं, हे रामजी ! आप उनके मन में निवास कीजिये जो नित्य आपके रामनाम रूप मन्त्रराज को जपते हैं और परिवार-सहित आपकी पूजा करते हैं जो अनेकों प्रकार से तर्पण और हवन करते हैं, तथा ब्राह्मणों को भोजन कराकर बहुत दान देते हैं, तथा जो गुरु को हृदय में आप से भी अधिक जान कर सर्व भाव से सम्मान करके उनकी सेवा करते हैं ।

और ये सब कर्म करके सबका एकमात्र यही फल मांगते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में हमारी प्रीति हो, उन लोगों के मन रूपी मन्दिरों में सीताजी और रघुकुल को आनन्दित करने वाले आप दोनों बसिये ।

अलकार— सहोक्ति, वृत्यनुप्रास ।

काम कोह मद मान न मोहा । लोभ न छोभ न राग न द्रोहा ॥
जिन्ह कें कपट दंभ नहिं माया । तिन्ह कें हृदय बसहु रघुराया ॥
सब के प्रिय सब के हितकारी । दुख सुख सरिस प्रसंसा गारी ॥
कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी । जागत सोवत सरन तुम्हारी ॥
तुम्हहि छाड़ि गति दूसरि नाहीं । राम बसहु तिन्ह के मन माहीं ॥
जननी सम जानहिं परनारी । धनु पराव बिष तें बिष भारी ॥
जे हरषहिं पर संपति देखी । दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी ॥
जिन्हहि राम तुम्ह प्रानपिआरे । तिन्ह के मन सुभ सदन तुम्हारे ॥

स्वामि सखा पितु मातु, गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात ।
मन मंदिर तिन्ह कें बसहु, सीय सहित दोउ भ्रात ॥१३०॥

व्याख्या—हे राम ! जिनके न तो काम, क्रोध, मद, अभिमान और मोह है, न लोभ है, न क्षोभ है, न राग है, न द्वेष है, और न कपट, दम्भ और माया ही है—हे रघुराज ! आप उनके हृदय मे निवास कीजिये जो सबके प्रिय और सबका हित करने वाले है, जिन्हे दु.ख और सुख तथा प्रशसा और निन्दा समान है; जो विचारक सत्य और प्रिय वचन बोलते हैं तथा जो जागते-सोते आपकी ही शरण हैं और आपको छोडकर जिनके दूसरी कोई गति नही है, हे रामजी ! आप उनके मन मे बसिये जो परायी स्त्री को जन्म देने वाली माता के समान जानते हैं और पराया धन जिन्हे विप से भी भारी विप है, जो दूसरे की सम्पत्ति देखकर हर्पित होते हैं और दूसरे की विपत्ति देखकर विशेप रूप से दुःखी होते हैं, और हे रामजी ! जिन्हें आप प्राणो के समान प्यारे है उनके मन आपके रहने योग्य शुभ भवन हैं ।

हे तात ! जिनके स्वामी, सखा, पिता, माता और गुरु सब कुछ आप ही है, उनके मन रूपी मन्दिर मे सीता-सहित आप दोनो भाई निवास कीजिये ।

अलकार—रूपक, अनुप्रास ।

अवगुन तजि सब के गुन गहहीं । बिप्र धेनु हित संकट सहहीं ॥
नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका । घर तुम्हार तिन्ह कर मनु नीका ॥
गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा । जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा ॥

राम भगत प्रिय लागहिं जेही। तेहि उर बसहु सहित बैदेही॥
जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥
सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई॥
सरगु नरकु अपबरगु समाना। जहँ तहँ देख धरें धनु बाना॥
करम बचन मन राउर चेरा। राम करहु तेहि कें उर डेरा॥

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन, सो राउर निज गेहु॥१३१॥

व्याख्या—वाल्मीकि राम के निवास के लिए स्थान बताते हुए कहते हैं—कि जो अवगुणों को छोड़कर सब के गुणों का ग्रहण करते हैं, ब्राह्मण और गौ के लिये संकट सहते हैं, नीति-निपुणता से जिनकी जगत् में मर्यादा है, उनका सुन्दर मन आपका घर है जो गुणों को आपका और दोषों को अपना समझता है, जिसे सब प्रकार से आपका ही भरोसा है, और रामभक्त जिसे प्यारे लगते हैं, उसके हृदय में आप सीता-सहित निवास कीजिये। जाति, पाँति, धन, धर्म, बड़ाई, प्यारा परिवार और सुख देने वाला घर—सबको छोड़कर जो केवल आपको ही हृदय में धारण किये रहता है, हे रघुनाथजी! आप उनके हृदय में रहिये। स्वर्ग, नरक और मोक्ष जिसकी दृष्टि में सम हैं, क्योंकि वह जहाँ-तहाँ केवल धनुष-बाण धारण किये आपको ही देखता है, हे रामजी आप उसके हृदय में डेरा कीजिये।

जिसको कभी कुछ भी नहीं चाहिये, और जिसका आपसे स्वाभाविक प्रेम है, आप उसके मन में निरन्तर निवास कीजिये, वह आपका अपना घर है।

एहि बिधि मुनिबर भवन दिखाए। बचन सप्रेम राम मन भाए॥
कह मुनि सुनहु भानुकुल नायक। आश्रम कहउँ समय सुखदायक॥
चित्रकूट गिरि करहु निवासू। तहँ तुम्हार सब भाँति सुपासू॥
सैलु सुहावन कानन चारू। करि केहरि मृग बिहग बिहारू॥
नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रि प्रिया निज तपबल आनी॥
सुरसरि धार नाउँ मंदाकिनि। जो सब पातक पोतक डाकिनि॥
अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं। करहिं जोग जप तप तन कसहीं॥

चलहिं सफल श्रम सब कर करहू। राम देहु गौरव गिरिबरहू॥
चित्रकूट महिमा अमित, कही महामुनि गाइ।
आइ नहाए सरित बर, सिय समेत दोउ भाइ॥१३२॥

व्याख्या – इस प्रकार मुनि श्रेष्ठ वाल्मीकि जी ने श्रीरामचन्द्रजी को घर दिखाये। उनके प्रेमपूर्ण वचन श्रीरामजी के मन को अच्छे लगे। फिर मुनि ने कहा—हे सूर्यकुल के स्वामी! सुनिये, अब मैं इस समय के लिये सुखदायक निवास स्थान बतलाता हूँ आप चित्रकूट पर्वत पर निवास कीजिये, वहाँ आपके लिये सब प्रकार की सुविधा है। सुहावना पर्वत है और सुन्दर वन है। वह हाथी, सिंह, हिरन और पक्षियों का विहार स्थल है। वहाँ पवित्र नदी है, जिसकी पुराणों ने प्रशंसा की है और जिसको अत्रि ऋषि की पत्नी अनसूया जी अपने तपोबल से लायी थीं। वह गङ्गाजी की धारा है, उसका मन्दाकिनी नाम है। वह सब पाप रूपी बालकों को खा डालने के लिये डाकिनी रूप है। अत्रि आदि बहुत-से श्रेष्ठ मुनि वहाँ निवास करते हैं, जो योग, जप और तप करते हुए शरीर को कसते हैं। हे रामजी! चलिये, सबके परिश्रम को सफल कीजिये और पर्वत श्रेष्ठ चित्रकूट को भी गौरव दीजिये।

महामुनि वाल्मीकिजी ने चित्रकूट की अपरिमित महिमा बखान कर कही। तब सीताजी सहित दोनों भाइयों ने आकर श्रेष्ठ नदी मन्दाकिनी में स्नान किया।

अलंकार—रूपक।

रघुबर कहेउ लखन भल घाटू। करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू॥
लखन दीख पय उतर करारा। चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलि साउज नाना॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी॥
अस कहि लखन ठाउँ देखरावा। थलु बिलोकि रघुबर सुखु पावा॥
रमेउ राम मनु देवन्ह जाना। चले सहित सुर थपति प्रधाना॥
कोल किरात बेष सब आए। रचे परन तृन सदन सुहाए॥
बरनि न जाहिं मंजु दुइ साला। एक ललित लघु एक बिसाला॥

लखन जानकी सहित प्रभु, राजत रुचिर निकेत।
सोह मदनु मुनि बेष जनु, रति रितुराज समेत ॥१३३॥

शब्दार्थ—थपति=मकान बनाने वाले।

संदर्भ—चित्रकूट का वर्णन करते हुए राम लक्ष्मण से कहते हैं।

व्याख्या—श्रीरामचन्द्रजी ने कहा—लक्ष्मण! यह बड़ा अच्छा घाट है, अब यहीं कहीं ठहरने की व्यवस्था करो। तब लक्ष्मणजी ने पयस्विनी नदी के उत्तर के ऊँचे किनारे को देखा और कहा कि—इसके चरो ओर धनुष के जैसा एक नाला फिरा हुआ है। मन्दाकिनी उस धनुष की प्रत्यञ्चा है और शम, दम, दान बाण हैं। कलियुग के समस्त पाप उसके अनेकों हिंसक पशु रूप निशाने हैं। चित्रकूट ही मानो अचल शिकारी है, जिसका निशाना कभी चूकता नहीं और जो सामने से मारता है। ऐसा कहकर लक्ष्मण जी ने स्थान दिखलाया। स्थान को देखकर श्रीरामचन्द्रजी ने सुख पाया। जब देवताओं ने जाना कि श्रीरामचन्द्रजी का मन यहाँ रम गया तब वे देवताओं के प्रधान थवई—मकान बनाने वाले विश्वकर्मा को साथ लेकर चले। सब देवता कोल-भीलों के वेष में आये और उन्होंने दिव्य पत्तों और घासों के सुन्दर घर बना दिये। दो ऐसी सुन्दर कुटियाँ बनायीं जिनका वर्णन नहीं हो सकता। उनमे एक बड़ी सुन्दर छोटी-सी थी और दूसरी बड़ी थी।

लक्ष्मणजी और जानकीजी सहित प्रभु श्रीरामचन्द्रजी सुन्दर घास-पत्तों के घर में शोभायमान हैं। मानो कामदेव मुनि का वेष धारण करके पत्नी रति और वसन्तऋतु के साथ सुशोभित हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

अमर नाग किंनर दिसिपाला। चित्रकूट आए तेहि काला ॥
राम प्रनामु कीन्ह सब काहू। मुदित देव लहि लोचन लाहू ॥
बरषि सुमन कह देव समाजू। नाथ सनाथ भए हम आजू ॥
करि बिनती दुख दुसह सुनाए। हरषित निज निज सदन सिधाए ॥
चित्रकूट रघुनंदनु छाए। समाचार सुनि सुनि मुनि आए ॥
आवत देखि मुदित मुनिबृंदा। कीन्ह दंडवत रघुकुल चंदा ॥
मुनि रघुबरहि लाइ उर लेहीं। सुफल होन हित आसिष देहीं ॥

सिय सौमित्रि राम छबि देखहिं। साधन सकल सफल करि लेखहिं॥

जथा जोग सनमानि प्रभु, बिदा किए मुनिबृंद।
करहिं जोग जप जाग तप, निज आश्रमन्हि सुछंद॥१३४॥

व्याख्या—उस समय देवता, नाग, किन्नर और दिक्पाल चित्रकूट में आये और श्रीरामचन्द्रजी ने सब किसी को प्रणाम किया। देवता नेत्रों का लाभ पाकर आनन्दित हुए फूलों की वर्षा करके कहा—हे नाथ! आज आपका दर्शन पाकर हम सनाथ हो गये। फिर विनती करके उन्होंने अपने दुःसह दुःख सुनाये और दुःखों के नाश का आश्वासन पाकर हर्षित होकर अपने-अपने स्थानों को चले गये। श्रीरघुनाथजी चित्रकूट में आ बसे हैं, यह समाचार सुन-सुनकर बहुत-से मुनि आये। रघुकुल के चन्द्रमा श्रीरामचन्द्रजी ने मुदित हुई मुनिमण्डली को आते देखकर दण्डवत् किया। मुनिगण श्रीरामजी को हृदय से लगा लेते हैं और सफल होने के लिये आशीर्वाद देते हैं। वे सीताजी, लक्ष्मणजी और श्रीरामचन्द्रजी की छवि देखते हैं और अपने सारे साधनों को सफल हुआ समझते हैं।

यह सुधि कोल किरातन्ह पाई। हरषे जनु नव निधि घर आई॥
कंद मूल फल भरि भरि दोना। चले रंक जनु लूटन सोना॥
तिन्ह महँ जिन्ह देखे दोउ भ्राता। अपर तिन्हहि पूँछहिं मगु जाता॥
कहत सुनत रघुबीर निकाई। आइ सबन्हि देखे रघुराई॥
करहिं जोहारु भेंट धरि आगे। प्रभुहि बिलोकहिं अति अनुरागे॥
चित्र लिखे जनु जहँ तहँ ठाढ़े। पुलक सरीर नयन जल बाढ़े॥
राम सनेह मगन सब जाने। कहि प्रिय बचन सकल सनमाने॥
प्रभुहि जोहारि बहोरि बहोरी। बचन बिनीत कहहिं कर जोरी॥

अब हम नाथ सनाथ सब, भए देखि प्रभु पाय।
भाग हमारें आगमनु, राउर कोसलराय॥१३५॥

व्याख्या—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने यथा योग्य सम्मान करके मुनि मण्डली को विदा किया। श्रीरामचन्द्रजी के आजाने से वे सब अपने-अपने आश्रमों में अब स्वतन्त्रता के साथ योग, जप, यज्ञ और तप करने लगे। श्री रामजी के आगमन का समाचार जब कोल-भीलों ने पाया, तो वे ऐसे हर्षित हुए मानो

नवों निधियाँ उनके घरही पर आगयी हों। वे दोनों में कन्द, मूल, फल भर-भर कर चले। मानो दरिद्र सोना लूटने चले हों उनमें जो दोनो भाइयों को पहले देख चुके थे, उनमे दूसरे लोग रास्ते में जाते हुए पूछते हैं। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की सुन्दरता कहते-सुनते सबने आकर श्रीरघुनाथजी के दर्शन किये। भेंट आगे रखकर वे लोग जोहार करते हैं और अत्यन्त अनुराग के साथ प्रभु को देखते हैं। वे मुग्ध हुए जहाँ के तहाँ मानो चित्र लिखे से खड़े हैं। उनके शरीर पुलकित हैं और नेत्रों में प्रेमाश्रुओं के जल की बाढ़ आ रही है। श्रीराम जी ने उन सबको प्रेम में मग्न जाना, और प्रिय वचन कहकर सबका सम्मान किया। वे बार-बार प्रभु श्रीरामचन्द्रजी को जोहार करते हुए हाथ जोड़कर विनीत वचन कहते हैं—

व्याख्या—हे नाथ! आप के चरणों का दर्शन पाकर अब हम सब सनाथ हो गये। हे कोशलराज! हमारे ही भाग्य से आपका यहाँ शुभागमन हुआ है।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

धन्य भूमि बन पंथ पहारा। जहँ जहँ नाथ पाउ तुम्ह धारा॥
धन्य बिहग मृग काननचारी। सफल जनम भए तुम्हहि निहारी॥
हम सब धन्य सहित परिवारा। दीख दरसु भरि नयन तुम्हारा॥
कीन्ह बासु भल ठाउँ बिचारी। इहाँ सकल रितु रहब सुखारी॥
हम सब भाँति करब सेवकाई। करि केहरि अहि बाघ बराई॥
बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा। सब हमार प्रभु पग पग जोहा॥
तहँ तहँ तुम्हहि अहेर खेलाउब। सर निरझर जल ठाउँ देखाउब॥
हम सेवक परिवार समेता। नाथ न सकुचब आयसु देता॥

बेद बचन मुनि मन, अगम ते प्रभु करुना ऐन।
बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बैन॥१३६॥

व्याख्या—हे नाथ! जहाँ-जहाँ आपने अपने चरण रक्खे हैं, वे पृथ्वी, वन, मार्ग और पहाड़ धन्य हैं, वे वन में विचरनेवाले पक्षी और पशु धन्य हैं, जो आपको देखकर सफल जन्म हो गये। हम सब भी अपने परिवार सहित धन्य हैं, जिन्होंने नेत्र भरकर आपका दर्शन किया। आपने बड़ी अच्छी जगह विचार कर निवास किया है। यहाँ सभी ऋतुओं में आप सुखी रहियेगा। हमलोग सब

हाथी, सिंह सर्प और बाघो से बचाकर आपकी सेवा करेंगे। हे प्रभो! यहाँ बीहड वन, पहाड, गुफाएं और खोह सब पग-पग हमारे देखे हुए हैं हम। वहाँ-वहाँ आपको शिकार खेलावेंगे और तालाब, झरने आदि जलाशयो को दिखावेंगे। हम कुटुम्ब समेत आपके सेवक है। हे नाथ! इसलिये हमे आज्ञा देने मे सकोच न कीजियेगा।

जो वेदो के वचन और मुनियों के मन को भी अगम हैं, वे करुणा के धाम प्रभु श्रीरामचन्द्रजी भीलो के वचन इस तरह सुन रहे हैं जैसे पिता बालको के बचन सुनता है।

अलकार—पुनरुक्ति प्रकाश, उपमा।

रामहि केवल प्रेमु पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥
राम सकल बनचर तब तोषे। कहि मृदु वचन प्रेम परिपोषे॥
विदा किए सिर नाइ सिधाए। प्रभु गुन कहत सुनत घर आए॥
एहि विधि सिय समेत दोउ भाई। बसहिं बिपिन सुर मुनि सुखदाई॥
जब तें आइ रहे रघुनायकु। तब तें भयउ बनु मगलदायकु॥
फूलहिं फलहिं बिटप बिधि नाना। मंजु बलित बर बेलि बिताना॥
सुरतरु सरिस सुभायँ सुहाए। मनहुँ बिबुध बन परिहरि आए॥
गुंज मंजुतर मधुकर श्रेनी। त्रिबिध बयारि बहइ सुख देनी॥
नीलकंठ कलकंठ सुक, चातक चक्क चकोर।
भाँति भाँति बोलहिं बिहग, श्रवन सुखद चित चोर॥१३७॥

व्याख्या—श्रीरामचन्द्रजी को केवल प्रेम प्यारा है, जो जानना चाहता हो वह जान ले। तब श्रीरामचन्द्रजी ने प्रेम पूर्ण कोमल वचन कहकर उन सब वन मे विचरण करनेवाले लोगो को संतुष्ट किया फिर उनको विदा किया। वे सिर नवाकर चले और प्रभु के गुण कहते-सुनते घर आये। इस प्रकार देवता और मुनियों को सुख देने वाले दोनो भाई सीताजी समेत वन में निवास करने लगे जबसे श्रीरघुनाथजी वन में आकर रहे तब से वन मङ्गलदायक हो गया। अनेकों प्रकार के वृक्ष फूलते हैं और उनपर लिपटी हुई सुन्दर वेलो के मण्टप तने हैं ये कल्पवृक्ष के समान स्वाभाविक ही सुन्दर हैं। मानो वे देवताओं के

नन्दनवन को छोड़कर आते हों। भौंरों की पंक्तियाँ बहुत ही सुन्दर गुंजार करती हैं और सुख देनेवाली शीतल, मन्द, सुगन्धित हवा चलती रहती है।

नीलकण्ठ, कोयल, तोते, पपीहे, चातक और चकोर आदि पक्षी कानों को सुख देनेवाली और चित्त को चुरानेवाली तरह-तरह की बोलियाँ बोलते हैं।

अलंकार—रूपक, छेकानुप्रास वृत्त्यनुप्रास।

करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥
फिरत अहेर राम छबि देखी। होहिं मुदित मृगबृंद बिसेषी॥
बिबुध बिपिन जहँ लगि जग माहीं। देखि रामबनु सकल सिहाहीं॥
सुरसरि सरसइ दिनकर कन्या। मेकलसुता गोदावरि धन्या॥
सब सर सिंधु नदीं नद नाना। मन्दाकिनि कर करहिं बखाना॥
उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुरबासू॥
सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जसु गावहिं तेते॥
बिंधि मुदित मन सुखु न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥
चित्रकूट के बिहग मृग, बेलि बिटप तृन जाति।
पुन्य पुंज सब धन्य अस, कहहिं देव दिन राति॥१३८॥

व्याख्या—हाथी, सिंह, बन्दर, सूअर और हिरन—ये सब वैर छोड़कर साथ-साथ विचरते हैं। शिकार के लिये फिरते हुए श्रीरामचन्द्रजी की छवि को देखकर पशुओं के समूह विशेष आनन्दित होते हैं। जगत् में जितने देवताओं के वन हैं, सब श्रीरामजी के वन को देखकर सिहाते हैं। गङ्गा, सरस्वती, सूर्य-कुमारी यमुना, नर्मदा गोदावरी आदि पुण्यमयी नदियाँ, सारे तालाब, समुद्र, नदी और अनेकों नद सब मन्दाकिनी की बड़ाई करते हैं। उदयाचल, कैलास मन्दराचल और सुमेरु आदि सब, जो देवताओं के रहने के स्थान हैं, और हिमालय आदि जितने पर्वत हैं, सभी चित्रकूट का यश गाते। विन्ध्याचल बड़ा आनन्दित है, उसके मनमें सुख समाता नहीं, क्योंकि उसने बिना परिश्रम ही बहुत बड़ी बड़ाई पा ली है।

चित्रकूट के पक्षी, पशु, बेल, वृक्ष, तृण, अंकुरादिकी सभी जातियाँ पुण्यकी राशि हैं और धन्य हैं—देवता दिन-रात ऐसा कहते हैं।

अलंकार—वृत्यनुप्रास, छेकानुप्रास, उत्प्रेक्षा, विनोक्ति।

नयनवंत रघुबरहि बिलोकी। पाइ जनम फल होहिं बिसोकी॥
परसि चरन रज अचर सुखारी। भए परम पद के अधिकारी॥
सो बनु सैलु सुभाएँ सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन॥
महिमा कहिअ कवनि बिधि तासू। सुख सागर जहँ कीन्ह निवासू॥
पय पयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु रामु रहे आई॥
कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन। जौं सत सहस होहिं सहसानन॥
सो मैं बरनि कहौं बिधि केहीं। डाबर कमठ कि मंदर लेहीं॥
सेवहिं लखनु करम मन बानी। जाइ न सीलु सनेहु बखानी॥

छिनु-छिनु लखि सिय राम पद, जानि आपु पर नेहु।
करत न सपनेहुँ लखनु चितु बंधु, मातु पितु गेहु॥१३६॥

व्याख्या—आँखो वाले जीव श्रीरामचन्द्रजी को देखकर जन्म का फल पाकर शोक रहित हो जाते हैं, और अचल पर्वत, वृक्ष, भूमि, नदी आदि भगवान् की चरण रज का स्पर्श पाकर सुखी होते हैं। ये सभी परमपद के अधिकारी हो गये। वह वन और पर्वत स्वाभाविक ही सुन्दर, मङ्गलमय और अत्यन्त पवित्रो को भी पवित्र करने वाला है। उसकी महिमा किस प्रकार कही जाय, जहाँ सुख के समुद्र श्रीरामजी ने क्षीरसागर को त्यागकर और अयोध्या को छोडकर जहाँ सीताजी, लक्ष्मणजी और श्रीरामचन्द्रजी आकर रहे, उस वन की जैसी परम शोभा है, उसको हजार मुखवाले जो लाख शेषजी हो, तो वे भी नही कह सकते। उसे भला, मैं किस प्रकार वर्णन करके कह सकता हूँ। कही पोखरे का कछुआ भी मन्दराचल उठा सकता है? लक्ष्मणजी मन, वचन और कर्म से श्रीरामचन्द्रजी की सेवा करते हैं। उनके शील और स्नेह का वर्णन नही किया जा सकता।

क्षण-क्षणपर पर श्रीसीतारामजी के चरणो को देखकर और अपने ऊपर उनका स्नेह जानकर लक्ष्मणजी स्वप्न मे भी भाइयो, माता-पिता और घर को याद नही करते।

अलंकार—असम्बन्धातिशयोक्ति।

राम संग सिय रहति सुखारी। पुर परिजन गृह सुरति बिसारी॥
छिनु-छिनु पिय बिधु बदनु निहारी। प्रमुदित मनहुँ चकोर कुमारी॥
नाह नेहु नित बढ़त बिलोकी। हरषित रहति दिवस जिमि कोकी॥
सिय मनु राम चरन अनुरागा। अवध सहस सम बनु प्रिय लागा॥
परनकुटी प्रिय प्रियतम संगा। प्रिय परिवारु कुरंग बिहंगा॥
सासु ससुर सम मुनितिय मुनिबर। असनु अमिअ सम कंद मूल फर॥
नाथ साथ साँथरी सुहाई। मयन सयन सय सम सुखदाई॥
लोकप होहिं बिलोकत जासू। तेहि कि मोह सक बिषय बिलासू॥

सुमिरत रामहि तजहिं जन, तृन सम बिषय बिलासु।
रामप्रिया जग जननि सिय, कछु न आचरजु तासु॥१४०॥

व्याख्या—श्रीरामचन्द्रजी के साथ सीताजी अयोध्यापुरी, कुटुम्ब के लोग और घर की याद भूलकर बहुत ही सुखी रहती हैं। क्षण-क्षण पर पति श्रीरामचन्द्रजी के चन्द्रमा के समान मुख को देखकर वे वैसे ही परम प्रसन्न रहती हैं, जैसे चकोरी चन्द्रमा को देखकर स्वामी का प्रेम अपने प्रति नित्य बढ़ता हुआ देखकर सीताजी ऐसी हर्षित रहती हैं जैसे दिनमें चकवी। सीताजी का मन श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में अनुरक्त है। इससे उनको वन हजारों अवध के समान प्रिय लगता है। प्रियतम श्रीरामचन्द्रजी के साथ पर्णकुटी प्यारी लगती है। मृग और पक्षी प्यारे कुटुम्बियों के समान लगते हैं। मुनियों की स्त्रियाँ सास के समान, श्रेष्ठ मुनि ससुर के समान और कन्द-मूल-फलों का आहार उनको अमृत के समान लगता है। स्वामी के साथ सुन्दर कुश और पत्तों की सेज सैकड़ों कामदेव की सेजों के समान सुख देने वाली है। जिनके कृपापूर्वक देखने मात्र से जीव लोकपाल हो जाते हैं, उनको कहीं भोग-विलास मोहित कर सकते हैं।

जिन श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण करने से ही तमाम भोग-विलास तिनके के समान त्याग देते हैं, उन श्रीरामचन्द्रजी के प्रिय पत्नी और जगत् की माता सीताजी के लिये यह भोग-विलास का त्याग कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

अलंकार—पुनरुक्ति प्रकाश, उत्प्रेक्षा, उपमा, छेकानुप्रास।

सीय लखन जेहि बिधि सुखु लहहीं। सोइ रघुनाथ करहिं सोइ कहहीं॥
कहहिं पुरातन कथा कहानी। सुनहिं लखनु सिय अति सुख मानी॥
जब जब रामु अवध सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं॥
सुमिरि मातु पितु परिजन भाई। भरत सनेहु सीलु सेवकाई॥
कृपासिंधु प्रभु होहिं दुखारी। धीरजु धरहिं कुसमउ बिचारी॥
लखि सिय लखनु बिकल होइ जाहीं। जिमि पुरुषहि अनुसर परिछाहीं॥
प्रिया बंधु गति लखि रघुनंदनु। धीर कृपाल भगत उर चंदनु॥
लगे कहन कछु कथा पुनीता। सुनि सुखु लहहिं लखनु अरु सीता॥

राम लखन सीता सहित, सोहत परन निकेत।
जिमि बासव बस अमरपुर, सची जयंत समेत॥१४१॥

व्याख्या—सीताजी और लक्ष्मणजी को जिस प्रकार सुख मिले, श्रीरघुनाथ जी वही करते और वही कहते हैं। भगवान् प्राचीन कथाएं और कहानियाँ कहते हैं और लक्ष्मणजी तथा सीताजी अत्यन्त सुख मानकर सुनते हैं। जब-जब श्रीरामचन्द्रजी अयोध्या की याद करते हैं, तब-तब उनके नेत्रों में जल भर आता है। माता-पिता कुटुम्बियों और भाइयों तथा भरत के प्रेम, शील और सेवा-भाव को याद करके कृपा के समुद्र प्रभु श्रीरामचन्द्रजी दुखी हो जाते हैं, किन्तु फिर कुसमय समझ कर धीरज धारण कर लेते हैं। श्रीरामचन्द्रजी को दुखी देखकर सीताजी और लक्ष्मणजी भी व्याकुल हो जाते हैं, जैसे किसी मनुष्य की परछाहीं उस मनुष्य के समान ही चेष्टा करती है। तब धीर, कृपालु और भक्तों के हृदय को शीतल करने के लिये चन्दन रूप, रघुकुल को आनन्दित करने वाले श्रीरामचन्द्रजी प्यारी पत्नी और भाई लक्ष्मण की दशा देखकर कुछ पवित्र कथाएं कहने लगते हैं, जिन्हें सुनकर लक्ष्मणजी और सीताजी सुख प्राप्त करते हैं।

लक्ष्मणजी और सीताजी सहित श्रीरामचन्द्रजी पर्णकुटी में ऐसे सुशोभित हैं जैसे अमरावती में इन्द्र अपनी पत्नी शची और पुत्र जयन्त सहित बसता है।

गुह सारथिहि फिरेउ पहुँचाई । बिरहु बिषादु बरनि नहिं जाई ॥
चले अवध लेइ रथहि निषादा । होंहि छनहिं छन मगन बिषादा ॥
सोच सुमंत्र बिकल दुख दीना । धिग जीवन रघुबीर बिहीना ॥
रहिहि न अंतहुँ अधम सरीरू । जसु न लहेउ बिछुरत रघुबीरा ॥
भए अजस अघ भाजन प्राना । कवन हेतु नहिं करत पयाना ॥
अहह मंद मनु अवसर चूका । अजहुँ न हृदय होत दुइ टूका ॥
मीजि हाथ सिरु धुनि पछिताई । मनहुँ कृपन धन रासि गवाँई ॥
बिरिद बाँधि बर बीरु कहाई । चलेउ समर जनु सुभट पराई ॥

बिप्र बिबेकी बेद बिद, संमत साधु सुजाति ।
जिमि धोखें मदपान कर, सचिव सोच तेहि भाँति ॥१४४॥

व्याख्या—निषादराज सुमन्त्रजी को विदा करके लौटा । उसके विरह और दुःख का वर्णन नहीं किया जा सकता । वे चारों निषाद रथ लेकर अवध को चले । सुमन्त्र और घोड़ों को देख देखकर वे भी क्षण-क्षण भर विषाद में डूब जाते थे । व्याकुल और दुःख से दीन हुए सुमन्त्रजी सोचते हैं कि श्री रघुवीर के बिना जीने को धिक्कार है । आखिर यह अधम शरीर रहेगा तो है ही नहीं । अभी श्रीरामचन्द्रजी के बिछुड़ते ही छूटकर इसने यश क्यों नहीं ले लिया । ये प्राण अपयश और पाप के भाँडे हो गये । अब ये किस कारण निकलते नहीं । हाय ! नीच मन बड़ा अच्छा मौका चूक गया । अब भी तो हृदय के दो टुकड़े नहीं हो जाते सुमन्त्र हाथ मल-मलकर और सिर पीट-पीटकर पछताते हैं । मानो कोई कंजूस धन का खजाना खो बैठा हो । वे इस प्रकार चले, मानो कोई बड़ा योद्धा वीर का बाना पहनकर और उत्तम शूरवीर कहलाकर युद्ध से भाग चला हो ! जैसे कोई विवेकशील, वेद का ज्ञाता, साधु सम्मत आचरणों वाला और उत्तम जाति का ब्राह्मण धोखे से मदिरा पी ले और पीछे पछतावे, उसी प्रकार सुमन्त्र सोच कर रहे हैं ।

१. अलंकार—उत्प्रेक्षा, वीप्सा, दृष्टान्त ।

२. रस—करुणा ।

जिमि कुलीन तिय साधु सयानी। पति देवता करम मन बानी॥
रहै करम बस परिहरि नाहू। सचिव हृदयँ तिमि दारुन दाहू॥
लोचन सजल डीठि भइ थोरी। सुनइ न श्रवन बिकल मति भोरी॥
सूखहिं अधर लागि मुहँ लाटी। जिउ न जाइ उर अवधि कपाटी॥
बिबरन भयउ न जाइ निहारी। मारेसि मनहुँ पिता महतारी॥
हानि गलानि बिपुल मन ब्यापी। जमपुर पथ सोच जिमि पापी॥
बचनु न आव हृदयँ पछिताई। अवध काह मैं देखब जाई॥
राम रहित रथ देखिहि जोई। सकुचिहि मोहि बिलोकत सोई॥

धाइ पूँछिहहिं मोहि जब, बिकल नगर नर नारि।
उतरु देब मैं सबहि तब, हृदयँ बज्रु बैठारि॥१४५॥

व्याख्या–जैसे किसी उत्तम कुलवाली साधु स्वभाव की, समझदार और मन, वचन कर्म से पति को ही देवता-माननेवाली पतिव्रता स्त्री को भाग्यवश पति को छोडकर रहना पडे, उस समय उसके हृदय मे जैसे भयानक सन्ताप होता है, वैसे ही मन्त्री के हृदय मे हो रहा है नेत्रो मे जल भरा है, दृष्टि मन्द हो गयी है। कानो से सुनायी नही पडता, व्याकुल हुई बुद्धि वेठिकाने हो रही है। ओठ सूख रहे है, मुँह मे लाटी लग गयी है। किन्तु ये सब मृत्यु के लक्षण हो जाने पर भी प्राण नही निकलते, क्योकि हृदय मे अवधि रूपी किवाड लगे है अर्थात् चौदह वर्ष बीत जाने पर भगवान फिर मिलेंगे यही आशा रुकावट डाल रही है। सुमन्त्रजी के मुख का रंग वदल गया है, जो देखा नही जाता। ऐसा मालूम होता है मानो इन्होने माता-पिता को मार डाला हो। उनके मन मे राम वियोग रूपी हानि की महान् पीडा छा रही है, जैसे कोई पापी मनुष्य नरक को जाता हुआ रास्ते मे सोच कर रहा हो वैसे ही सुमन्त्र के मुँह से वचन नही निकलते। वे हृदय मे पछताते है कि मैं अयोध्या मे जाकर क्या देखूँगा। श्रीरामचन्द्रजी से शून्य रथ को जो भी देखेगा, वही मुझे सकोच करेगा अर्थात् मेरा मुँह नही देखना चाहेगा। नगर के सब व्याकुल स्त्री-पुरुष जब दौडकर मुझसे पूछेंगे, तब मैं हृदयपर वज्र रखकर सबको उत्तर दूँगा।

अलकार—दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा।

पूछिहहिं दीन दुखित सब माता। कहब काह मैं तिन्हहि बिधाता॥
पूछिहि जबहिं लखन महतारी। कहिहउँ कवन सँदेस सुखारी॥
राम जननि जब आइहि धाई। सुमिरि बच्छु जिमि धेनु लवाई॥
पूँछत उतरु देब मैं तेही। गे बनु राम लखनु बैदेही॥
जोइ पूँछिहि तेहि उतरु देबा। जाइ अवध अब यहु सुखु लेबा॥
पूँछिहि जबहिं राउ दुख दीना। जिवनु जासु रघुनाथ अधीना॥
देहउँ उतरु कौनु मुहुँ लाई। आयउँ कुसल कुअँर पहुँचाई॥
सुनत लखन सिय राम सँदेसू। तृन जिमि तनु परिहरिहि नरेसू॥
हृदउ न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि, यहु जातना सरीरु॥१४६॥

व्याख्या—जब दीन-दुखी सब माताएँ पूछेंगी तब हे विधाता! मैं उन्हें क्या कहूँगा? जब लक्ष्मण की माता मुझसे पूछेंगी, तब मैं उन्हें कौन-सा सुखदायी सँदेसा कहूँगा। श्रीरामजीकी माता जब इस प्रकार दौड़ी आवेंगी जैसे नयी ब्यायी हुई गौ-बछड़े का याद करके दौड़ी आती है, तब उनके पूछने पर मैं उन्हें यह उत्तर दूँगा कि श्रीराम-लक्ष्मण, सीता वन को चले गये जो भी पूछेगा उसे यही उत्तर देना पड़ेगा। हाय! अयोध्या जाकर अब मुझे यही सुख लेना है। जब दुःख में दीन महाराज, जिनका जीवन श्रीरघुनाथजी के दर्शन के ही आधीन है, मुझसे पूछेंगे, तब मैं कौन-सा मुँह लेकर उन्हें उत्तर दूँगा कि मैं राजकुमारों को कुशल पूर्वक पहुँचा आया हूँ। लक्ष्मण, सीता और श्रीराम का समाचार सुनते ही महाराज तिनके की तरह शरीर को त्याग देंगे।

प्रियतम श्रीरामजी रूपी जल के बिछुड़ते ही मेरा हृदय कीचड़ की तरह फट नहीं गया, इससे मैं जानता हूँ कि विधाता ने मुझे यह 'यातना शरीर' ही दिया है जो पापी जीवों को नरक भोगने के लिये मिलता है।

अलंकार—उपमा।

एहि बिधि करत पंथ पछितावा। तमसा तीर तुरत रथु आवा॥
बिदा किए करि बिनय निषादा। फिरे पायँ परि बिकल बिषादा॥

पठत नगर सचिव सकुचाई। जनु मारेसि गुर बाँभन गाई॥
बैठि बिटप तर दिवसु गवाँवा। साँझ समय तब अवसरु पावा॥
अवध प्रबेसु कीन्ह अँधिआरें। पैठ भवन रथु राखि दुआरें॥
जिन्ह जिन्ह समाचार सुनि पाए। भूप द्वार रथु देखन आए॥
रथु पहिचानि बिकल लखि घोरे। गरहिं गात जिमि आतप ओले॥
नगर नारि नर ब्याकुल कैसें। निघटत नीर मीन गन जैसें॥

सचिव आगमनु सुनत सब, बिकल भयउ रनिवासु।
भवनु भयंकर लाग तेहि, मानहुँ प्रेत निवासु॥१४७॥

व्याख्या--सुमन्त्र इस प्रकार मार्ग मे पछतावा कर रहे थे, इतने मे ही रथ तुरन्त तमसा नदी के तट पर आ पहुंचा। मन्त्री ने विनय करके चारो नेपादो को विदा किया। वे विषाद से व्याकुल होते हुए सुमन्त्र के पैरो पडकर लौटे। नगर मे प्रवेश करते मन्त्री ग्लानि के कारण ऐसे सकुचाते है, मानो गुरु, ब्राह्मण या गौ को मारकर आये हो। सारा दिन एक पेड के नीचे बैठकर बिताया। जब सध्या हुई तब मौका मिला अँधेरा होने पर उन्होने अयोध्या मे प्रवेश किया और रथ को दरवाजे पर खडा करके वे चुपके-से महल मे घुसे। जिन-जिन लोगो ने यह सामचार सुन पाया, वे सभी रथ देखने को राजद्वार पर आये रथ को पहचान कर और घोडो को व्याकुल देखकर उनके शरीर ऐसे गले जारहे है जैसे घास मे ओले। नगर के स्त्री-पुरुष कैसे व्याकुल है जैसे जल के घटने पर मछलियाँ व्याकुल होती है।

मन्त्री का अकेले ही आना सुनकर सारा रनिवास व्याकुल हो गया। राज महल उनको ऐसा भयानक लगा मानो प्रेतो का निवास स्थान श्मशान हो।

अलकार—उत्प्रेक्षा, उदाहरण, उपमा।

अति आरति सब पूँछहिं रानी। उतरु न आव बिकल भइ बानी॥
सुनइ न श्रवन नयन नहिं सूझा। कहहु कहाँ नृपु तेहि तेहि बूझा॥
दासिन्ह दीख सचिव बिकलाई। कौसल्या गृहँ गईं लिवाई॥
जाइ सुमंत्र दीख कस राजा। अमिअ रहित जनु चंदु बिराजा॥
आसन सयन बिभूषन हीना। परेउ भूमितल निपट मलीना॥
लेइ उसासु सोच एहि भाँती। सुरपुर तें जनु खँसेउ जजाती॥

लेत सोच भरि छिनु छिनु छाती। जनु जरि पंख परेउ सपाती॥
राम राम कह राम सनेही। पुनि कह राम लखन बैदेही॥

देखि सचिवँ जय जीव कहि, कीन्हेउ दंड प्रनामु।
सुनत उठेउ व्याकुल नृपति, कहु सुमन्त्र कहँ रामु॥१४८॥

व्याख्या—अत्यन्त आर्त होकर सब रानियाँ पूछती हैं, पर सुमन्त्र को कुछ उत्तर नहीं आता, उनकी वाणी रुक गयी है। न कानों से सुनायी पड़ता है और न आँखों से कुछ सूझता है। वे जो भी सामने आता है बस-उनसे पूछते हैं—कहो राजा कहाँ हैं। दासियाँ मन्त्री को व्याकुल देखकर उन्हें कौशल्याजी महल में लिवा गयीं। सुमन्त्र ने जाकर वहाँ राजा को ऐसा बैठा देखा मानो बिना अमृत का चन्द्रमा हो। राजा आसन, शय्या और आभूषणों से रहित बिल्कुल मलिन पृथ्वी पर पड़े हुए हैं। वे लंबी साँसें लेकर इस प्रकार सोच करते हैं मानो राजा ययाति स्वर्ग से गिरकर सोच कर रहे हों। राजा क्षण-क्षण में सोचते हुए छाती भर लेते हैं। ऐसी विकल दशा है मानो, गीधराज जटायु का भाई संपाती पंखों के जल जाने पर गिर पड़ा हो। राजा बार-बार 'राम, राम' 'हा स्नेही प्यारे राम!' कहते हैं, फिर 'हा राम, हा लक्ष्मण, हा जानकी' ऐसा कहने लगते हैं।

मन्त्री ने देखकर 'जयजीव' कहकर दण्डवत्-प्रणाम किया। सुनते ही राजा व्याकुल होकर उठे और बोले—सुमन्त्र! कहो राम कहाँ हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

भूप सुमन्त्रु लीन्ह उर लाई। बूड़त कछु अधार जनु पाई॥
सहित सनेह निकट बैठारी। पूँछत राउ नयन भरि बारी॥
राम कुसल कहु सखा सनेही। कहँ रघुनाथ लखनु बैदेही॥
आने फेरि कि बनहि सिधाए। सुनत सचिव लोचन जल छाए॥
सोक बिकल पुनि पूँछ नरेसू। कहु सिय राम लखन संदेसू॥
राम रूप गुन सील सुभाऊ। सुमिरि सुमिरि उर सोचत राऊ॥
राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरषु हराँसू॥
सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना॥

सखा रामु सिय लखनु जहँ, तहाँ मोहि पहुँचाउ।
नाहिं त चाहत चलन अब, प्रान कहउँ सतिभाउ॥१४९॥

व्याख्या—राजा ने सुमन्त्र को हृदय से लगा लिया। मानो डूबते हुए आदमी को कुछ सहारा मिल गया हो। मन्त्री को स्नेह के साथ पास बैठाकर, नेत्रो मे जल भरकर राजा पूछने लगे हे मेरे प्रेमी सखा! श्रीराम की कुशल कहो। बताओ, श्रीराम, लक्ष्मण और जानकी कहाँ हैं? उन्हे लौटा लाये हो कि वे वन को चले गये? यह सुनते ही मन्त्री के नेत्रो मे जल भर आया। शोक से व्याकुल होकर राजा फिर पूछने लगे—सीता राम लक्ष्मण संदेशा तो कहो। श्रीरामचन्द्रजी के रूप, गुण, शील और स्वभाव को याद कर-करके राजा हृदय मे सोच करते हैं और कहते है मैंने राजा होने की बात सुनाकर वनवास दे दिया, यह सुनकर भी जिसके मन मे हर्ष और विषाद नही हुआ, ऐसे पुत्र के बिछुडने पर भी मेरे प्राण नही गये, तब मेरे समान बडा पापी कौन होगा?

हे सखा! श्रीराम, जानकी और लक्ष्मण जहाँ हैं, मुझे भी वही पहुंचा दो। नही तो मैं सत्य भाव से कहता हूँ कि मेरे प्राण अब चलना ही चाहते है।

अलकार—उत्प्रेक्षा।

पुनि पुनि पूँछत मन्त्रिहि राऊ। प्रियतम सुअन संदेश सुनाऊ॥
करहि सखा सोइ वेगि उपाऊ। रामु लखनु सिय नयन देखाऊ॥
सचिव धीर धरि कह मृदु बानी। महाराज तुम्ह पडित ज्ञानी॥
वीर सुधीर धुरधर देवा। साधु समाजु सदा तुम्ह सेवा॥
जनम मरन सब दुख सुख भोगा। हानि लाभु प्रिय मिलन वियोगा॥
काल करम बस होहिं गोसाईं। बरबस राति दिवस की नाईं॥
सुख हर षहि जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥
धीरज धरहु विवेक विचारी। छाडिअ सोच सकल हितकारी॥

प्रथम बासु तमसा भयउ, दूसर सुरसरि तीर।
न्हाइ रहे जलपानु करि, सिय समेत दोउ बीर॥१५०॥

व्याख्या—राजा बार-बार मन्त्री से पूछते है—मेरे प्रियतम पुत्रो का संदेशा सुनाओ। हे सखा! तुम तुरन्त वही उपाय करो जिससे, श्रीराम, लक्ष्मण और सीता को मैं आँखो से देख सकूँ। मन्त्री धीरज धर कर कोमल वाणी मे बोले—महाराज! आप पण्डित और ज्ञानी हैं। हे देव! आप शूरवीर तथा

उत्तम वंशवान पुरुषों में श्रेष्ठ हैं। आपने सदा साधुओं के समाज का सेवन किया है। जन्म-मरण, सुख-दुःख के भोग, हानि-लाभ, प्यारों का मिलना-बिछुड़ना—ये सब, हे स्वामी। काल और कर्म के अधीन रात और दिन की तरह बरबस होते रहते हैं। मूर्ख लोग सुख में हर्षित होते और दुःख में रोते हैं, पर धीर पुरुष अपने मन में दोनों को समान समझते हैं। सबके हितकारी! आप विवेक विचार कर धीरज धरिये और शोक का परित्याग कीजिये।

श्रीरामजी का पहला निवास तमसा के तट पर हुआ, दूसरा गंगातीर पर। सीताजी सहित दोनों भाई उस दिन स्नान करके जल पीकर ही रहे।

केवट कीन्हि बहुत सेवकाई। सो जामिनि सिंगरौर गवाँई॥
होत प्रात बट छीरु मगावा। जटा मुकुट निज सीस बनावा॥
राम सखाँ तब नाव मगाई। प्रिया चढ़ाइ चढ़े रघुराई॥
लखन बान धनु धरे बनाई। आपु चढ़े प्रभु आयसु पाई॥
बिकल बिलोकि मोहि रघुबीरा। बोले मधुर बचन धरि धीरा॥
तात प्रनामु तात सन कहेहू। बार बार पद पंकज गहेहू॥
करबि पायँ परि बिनय बहोरी। तात करिअ जनि चिंता मोरी॥
बन मग मंगल कुसल हमारें। कृपा अनुग्रह पुन्य तुम्हारें॥

तुम्हारें अनुग्रह तात कानन जात सब सुखु पाइहौं॥
प्रतिपालि आयसु कुसल देखन पाय पुनि फिरि आइहौं॥
जननीं सकल परितोषि परि परि पायँ करि बिनती घनी॥
तुलसी करेहु सोइ जतनु जेहिं कुसली रहहिं कोसल धनी॥

गुर सन कहब सँदेसु, बार बार पद पदुम गहि।
करब सोइ उपदेसु, जेहिं न सोच मोहि अवधपति॥१५१॥

व्याख्या—केवट ने बहुत सेवा की। वह रात शृंगवेरपुर में ही बितायी। दूसरे दिन सवेरा होते ही बड़का दूध मँगवाया और उससे श्रीराम-लक्ष्मण ने अपने सिरों पर जटाओं के मुकुट बनाये, तब श्रीरामचन्द्रजी के सखा निषादराज ने नाव मँगवायी। पहले प्रिया सीताजी को उस पर चढ़ाकर फिर श्रीरघुनाथजी चढ़े। फिर लक्ष्मणजी ने धनुष-बाण सजाकर रखे और प्रभु श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा पाकर स्वयं चढ़े। मुझे व्याकुल देखकर श्रीरामचन्द्रजी धीरज धरकर

मधुर वचन बोले—हे तात ! पिताजी से मेरा प्रणाम कहना और मेरी ओर से बार-बार उनके चरण-कमल पकडना, फिर पाँव पकड कर विनती करना कि हे पिताजी ! आप मेरी चिन्ता न कीजिये। आपकी कृपा, अनुग्रह और पुण्य से वन मे और मार्ग मे हमारा कुशल-मंगल होगा।

हे पिताजी ! आपके अनुग्रह से मैं वन जाते हुए सब प्रकार का सुख पाऊँगा। आज्ञा का भली-भाँति पालन करके चरणों का दर्शन करने कुशल-पूर्वक फिर लौट आऊँगा। सब माताओ के पैरो पड-पडकर उनका समाधान करके और उनसे बहुत विनती करके—तुलसीदास जी कहते हैं—तुम वही प्रयत्न करना जिसमे कोसलपति पिताजी कुशल रहे।

बार-बार चरण-कमलो को पकड कर गुरु वशिष्ठजी से मेरा संदेसा कहना कि वे वही उपदेश दें जिससे अवधपति पिताजी मेरा सोच न करे।

पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनाएहु बिनती मोरी॥
सोइ सब भाँति मोर हितकारी। जातें रह नरनाहु सुखारी॥
कहब संदेसु भरत के आएँ। नीति न तजिअ राजपदु पाएँ॥
पालेहु प्रजहि करम मन बानी। सेएहु मातु सकल सम जानी॥
ओर निबाहेहु भायप भाई। करि पितु मातु सुजन सेवकाई॥
तात भाँति तेहि राखब राऊ। सोच मोर जेहिं करै न काऊ॥
लखन कहे कछु बचन कठोरा। बरजि राम पुनि मोहि निहोरा॥
बार बार निज सपथ देवाई। कहबि न तात लखन लरिकाई॥

कहि प्रनामु कछु कहन लिय, सिय भइ सिथिल सनेह।
थकित बचन लोचन सजल, पुलक पल्लवित देह॥१५२॥

व्याख्या—हे तात ! सब पुरवासियो और कुटुम्बियो से अनुरोध करके मेरी विनती सुनाना कि वही मनुष्य मेरा सब प्रकार से हितकारी है, जिसकी चेष्टा से महाराज सुखी रहे।

भरत के आने पर उनको मेरा संदेसा कहना कि राजा का पद पा जाने पर नीति न छोड देना। कर्म, वचन और मन से प्रजा का पालन करना और सब माताओ को समान जानकर उनकी सेवा करना और हे भाई ! पिता, माता और स्वजनो की सेवा करके भाई पने को अन्त तक निवाहना। हे तात ! राजा

को उसी प्रकार से रखना जिससे वे कभी किसी तरह भी मेरा सोच न करें। लक्ष्मणजी ने कुछ कठोर वचन कहे। किन्तु श्रीरामजी ने उन्हें बरज कर फिर मुझसे अनुरोध किया और बारम्बार अपनी सौगन्ध दिलायी और कहा कि हे तात! लक्ष्मण का लड़कपन वहाँ न कहना।

प्रणाम कर सीताजी भी कुछ कहने लगी थीं, परन्तु स्नेहवश वे शिथिल हो गयीं। उनकी वाणी रुक गयी, नेत्रों में जल भर आया और शरीर रोमाञ्च से व्याप्त हो गया।

तेहि अवसर रघुबर रुख पाई। केवट पारहि नाव चलाई॥
रघुकुल तिलक चले एहि भाँती। देखउँ ठाढ़ कुलिस धरि छाती॥
मैं आपन किमि कहौं कलेसू। जिअत फिरेउँ लेइ राम सँदेसू॥
अस कहि सचिव बचन रहि गयऊ। हानि गलानि सोच बस भयऊ॥
सूत बचन सुनतहिं नरनाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू॥
तलफत बिषम मोह मन मापा। माजा मनहुँ मीन कहुँ ब्यापा॥
करि बिलाप सब रोवहिं रानी। महा बिपति किमि जाइ बखानी॥
सुनि बिलाप दुखहू दुखु लागा। धीरजहू कर धीरजु भागा॥

भयउ कोलाहलु अवध अति, सुनि नृप राउर सोरु।
बिपुल बिहग बन परेउ निसि, मानहुँ कुलिस कठोरु॥१५३॥

व्याख्या—उसी समय श्रीरामचन्द्रजी का रुख पाकर केवट ने पार जाने के लिये नाव चला दी। इस प्रकार रघुवंश तिलक श्रीरामचन्द्रजी चल दिये और मैं छाती पर वज्र रख कर खड़ा-खड़ा देखता रहा। मैं अपने क्लेश को कैसे कहूँ, जो श्रीरामजी का यह सँदेसा लेकर जीता ही लौट आया। ऐसा कह कर मन्त्री की वाणी रुक गयी वे चुप हो गये और वे हानि की ग्लानि और सोच के वश हो गये। सारथी सुमन्त्र के वचन सुनते ही राजा पृथ्वी पर गिर पड़े, उनके हृदय में भयानक जलन होने लगी। वे तड़पने लगे, उनका मन भीषण मोह से व्याकुल हो गया। मानो मछली को माँजा व्याप गया हो। सब रानियाँ विलाप करके रो रही हैं। उस महान् विपत्ति का कैसे वर्णन किया जाय? उस समय के विलाप को सुनकर दुःख को भी दुःख लगा और धीरज का भी धीरज भाग गया।

राजा के रनिवास मे रोने का शोर सुनकर अयोध्या भर मे बडा भारी कुहराम मच गया । ऐसा जान पडता था मानो पक्षियो के विशाल वन मे रात के समय कठोर वज्र गिरा हो ।

अलकार—उत्प्रेक्षा ।

प्रान कठगत भयउ भुआलू । मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू ॥
इद्रीं सकल बिकल भईं भारी । जनु सर सरसिज बनु बिनु बारी ॥
कौसल्याँ नृपु दीख मलाना । रबिकुल रबि अँथयउ जियँ जाना ॥
उर धरि धीर राम महतारी । बोली बचन समय अनुसारी ॥
नाथ समुझि मन करिअ बिचारू । राम बियोग पयोधि अपारू ॥
करनधार तुम्ह अवध जहाजू । चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू ॥
धीरजु धरिअ त पाइअ पारू । नाहिं त बूडिहि सबु परिवारू ॥
जौं जियँ धरिअ बिनय पिय मोरी । रामु लखनु सिय मिलहिं बहोरी ॥

प्रिया बचन मृदु सुनत नृपु, चितयउ आँखि उघारि ।
तलफत मीन मलीन जनु, सींचत सीतल बारि ॥१५४॥

व्याख्या—राजा के प्राण कण्ठ मे आ गये । मानो मणि के बिना साँप व्याकुल (मरणासन्न) हो गया हो । इन्द्रियाँ सब बहुत ही बिकल हो गयी, मानो बिना जल के तालाब मे कमलो का वन मुरझा गया हो । कौशल्याजी ने राजा को बहुत दुखी देखकर अपने हृदय मे जान लिया कि अब सूर्यकुल का सूर्य अस्त हो चला । तब श्रीरामचन्द्रजी की माता कौशल्या हृदय मे धीरज धरकर समय के अनुकूल वचन बोली । हे नाथ ! आप मन मे समझ कर विचार कीजिये कि श्रीरामचन्द्रजी का वियोग अपार समुद्र है । अयोध्या जहाज है और आप उसके खेनेवाले है । सब प्रियजन कुटुम्बी और प्रजा ही यात्रियो का समाज है, जो इस जहाज पर चढा हुआ है । आप धीरज धरियेगा, तो सब पार पहुँच जायँगे । नही तो सारा परिवार डूब जायगा । हे प्रिय स्वामी ! यदि मेरी विनती हृदय मे धारण कीजियेगा तो श्रीराम, लक्ष्मण, सीता फिर आ मिलेंगे ।

प्रिय पत्नी कौशल्या के कोमल वचन सुनते हुए राजा ने आँखे खोलकर देखा, मानो तडपती हुई दीन मछली पर कोई शीतल जल छिडक रहा हो ।

अलंकार—रूपक ।

धरि धीरजु उठि बैठ भुआलू। कहु सुमंत्र कहँ राम कृपालू॥
कहाँ लखनु कहँ रामु सनेही। कहँ प्रिय पुत्रबधू बैदेही॥
बिलपत राउ बिकल बहु भाँती। भइ जुग सरिस सिराति न राती॥
तापस अंध साप सुधि आई। कौसल्यहि सब कथा सुनाई॥
भयउ बिकल बरनत इतिहासा। राम रहित धिग जीवन आसा॥
सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहिं न प्रेम पनु मोर निबाहा॥
हा रघुनंदन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जिअत बहुत दिन बीते॥
हा जानकी लखन हा रघुबर। हा पितु हित चित चातक जलधर॥

राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबर बिरहँ राउ गयउ सुरधाम॥१५५॥

व्याख्या—धीरज धरकर राजा उठ बैठे और बोले—सुमन्त्र! कहो कृपालु श्रीराम कहाँ हैं? लक्ष्मण कहाँ हैं? स्नेही राम कहाँ हैं? और मेरी प्यारी बहू जानकी कहाँ है? राजा व्याकुल होकर बहुत प्रकार से विलाप कर रहे हैं। वह रात युग के समान बड़ी हो गयी, बीतती ही नहीं। राजा को अंधे तपस्वी श्रवणकुमार के पिता के शाप की याद आ गयी। उन्होंने सब कथा कौसल्या को कह सुनायी। उस इतिहास का वर्णन करते-करते राजा व्याकुल हो गये और कहने लगे कि श्रीराम के बिना जीने की आशा को धिक्कार है। मैं उस शरीर को रखकर क्या करूँगा जिसने मेरा प्रेमका प्रण नहीं निबाहा? हा रघुकुलको आनन्द देनेवाले मेरे प्राणप्यारे राम! तुम्हारे बिना जीते हुए मुझे बहुत दिन बीत गये। हा जानकी, लक्ष्मण! हा रघुवर! हा पिता के चित्त रूपी चातकके हित करने वाले मेघ राम!

राम-राम कहकर, फिर राम कहकर, फिर राम-राम कहकर और फिर राम कहकर राजा श्रीरामके विरहमें शरीर त्यागकर सुरलोकको सिधार गये।

अलंकार—वीप्सा, उपमा।

जिअन मरन फलु दसरथ पावा। अंड अनेक अमल जसु छावा॥
जिअत राम बिधु बदनु निहारा। राम बिरह करि मरनु सँवारा॥
सोक बिकल सब रोवहिं रानी। रूपु सीलु बलु तेजु बखानी॥

करहिं बिलाप अनेक प्रकारा। परहिं भूमितल बारहिं बारा ॥
बिलपहिं बिकल दास अरु दासी। घर घर रुदनु करहिं पुरबासी ॥
अँथयउ आजु भानुकुल भानू। धरम अवधि गुन रूप निधानू ॥
गारीं सकल कैकइहि देहीं। नयन बिहीन कीन्ह जग जेहीं ॥
एहि बिधि बिलपत रैनि बिहानी। आए सकल महामुनि ग्यानी ॥

तब बसिष्ठ मुनि समय सम, कहि अनेक इतिहास।
सोक नेवारेउ सबहि कर, निज बिग्यान प्रकास ॥१५६॥

व्याख्या—जीने और मरनेका फल तो दशरथजीने ही पाया, जिनका निर्मल यश अनेको ब्रह्माण्डोमे छा गया। जीते-जो तो श्रीरामचन्द्रजीके चन्द्रमाके समान मुखको देखा और श्रीरामके विरहको निमित्त बनाकर अपना मरण सुधार लिया। सब रानियाँ शोकके मारे व्याकुल होकर रो रही हैं। वे राजाके रूप, शील बल और तेजका बखान कर-करके अनेको प्रकारसे विलाप कर रही हैं और बार-बार धरती पर गिर-गिर पडती हैं। दास-दासी गण व्याकुल होकर विलाप कर रहे हैं और नगर-निवासी घर-घर रो रहे हैं। कहते है कि आज धर्मकी सीमा, गुण और रूपके भण्डार, सूर्यकुलके सूर्य अस्त हो गये। सब कैकेयीको गालियाँ देते हैं, जिसने ससार भर को बिना नेत्रका (अधा) कर दिया। इस प्रकार विलाप करते रात बीत गयी। प्रात काल सब बडे-बडे ज्ञानी मुनि आये।

तब वसिष्ठ मुनिने समयके अनुकूल अनेक इतिहास कहकर अपने विज्ञान के प्रकाश से सबका शोक दूर किया।

रस—करुणा।

अलकार—अनुप्रास, उपमा।

तेल नावँ भरि नृप तनु राखा। दूत बोलाइ बहुरि अस भाषा ॥
धावहु बेगि भरत पहिं जाहू। नृप सुधि कतहुँ कहहु जनि काहू ॥
एतनेइ कहेहु भरत सन जाई। गुरु बोलाइ पठयउ दोउ भाई ॥
सुनि मुनि आयसु धावन धाए। चले बेग बर बाजि लजाए ॥
अनरथु अवध अरभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें ॥

देखहिं राति भयानक सपना। जागि करहिं कटु कोटि कलपना॥
विप्र जेवांइ देहिं दिन दाना। सिव अभिषेक करहिं विधि नाना॥
मागहिं हृदयँ महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥

एहि विधि सोचत भरत मन, धावन पहुँचे आइ।
गुरु अनुसासन श्रवन सुनि, चले गनेसु मनाइ॥१५७॥

व्याख्या—वसिष्ठजी ने नाव मे तेल भरवा कर राजा के शरीर को उसमें रखवा दिया। फिर दूतोको बुलवाकर उनसे ऐसा कहा—तुमलोग जल्दी दौड़कर भरतके पास जाओ। राजा की मृत्यु का समाचार कहीं किसीसे न कहना। जाकर भरत से इतना कहना कि दोनों भाइयों को गुरुजी ने बुलवा भेजा है। मुनि की आज्ञा सुनकर दूत दौड़े। वे अपने वेग से उत्तम घोड़ों को भी लजाते हुए चले। जब से अयोध्या मे अनर्थ प्रारम्भ हुआ, तभी से भरतजी को अपशकुन होने लगे। वे रात को भयङ्कर स्वप्न देखते थे और जागने पर उन स्वप्नों के कारण अनकों तरह की बुरी-बुरी कल्पनाएं किया करते थे। अनिष्ट शान्ति के लिये वे प्रतिदिन ब्राह्मणों को भोजन कराकर दान देते थे। अनेकों विधियों से रुद्राभिषेक करते थे। महादेवजी को हृदय से मानकर उनसे माता-पिता, कुटुम्बी और भाइयों का कुशल-क्षेम मांगते थे।

भरतजी इस प्रकार मनमें चिन्ता कर रहे थे कि दूत आ पहुँचे। गुरुजी की आज्ञा कानों से सुनते ही वे गणेश जी को मानकर चल पड़े।

अलंकार—अनुप्रास, प्रतीप।

चले समीर बेग हय हांके। नांघत सरित सैल बन बाँके॥
हृदयँ सोचु बड़ कछु न सोहाई। अस जानहिं जिय जाउँ उड़ाई॥
एक निमेष बरष सम जाई। एहि बिधि भरत नगर निअराई॥
असगुन होहिं नगर पैठारा। रटहिं कुभांति कुखेत करारा॥
खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला। सुनि सुनि होइ भरत मन सूला॥
श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगरु बिसेषि भयावनु लागा॥
खग मृग हय गय जाहिं न जोए। राम बियोग कुरोग बिगोए॥
नगर नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब संपति हारी॥

पुरजन मिलहि न कहहिं कछु, गवँहि जोहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूँछि न सकहि, भय विषाद मन माहिं ॥१५८॥

व्याख्या—भरत हवा के समान वेगवाले घोड़ो को हांकते हुए वे विकट नदी, पहाड़ तथा जगलो को लांघते हुए चले। उनके हृदय मे बडा सोच था, कुछ सुहाता न था। मनमे ऐसा सोचते थे कि उडकर पहुँच जाऊँ। एक-एक निमेष वर्ष के समान वीत रहा था। इस प्रकार भरतजी नगर के निकट पहुँचे। नगर मे प्रवेश करते समय अपशकुन होने लगे। कौए बुरी जगह बैठकर बुरी तरह से कांव-कांव कर रहे है। गदहे और सियार विपरीत बोल रहे है। यह सुन-सुनकर भरत के मन मे वडी पीडा हो रही है। तालाव, नदी, वन, बगीचे सब शोभाहीन हो रहे हैं। नगर बहुत ही भयानक लग रहा है। श्रीरामजी के वियोगरूपी बुरे रोग से सताये हुए पक्षी-पशु, घोड़े-हाथी ऐसे दुखी होरहे हैं कि देखे नही जाते। नगर के स्त्री-पुरुष अत्यन्त दुखी हो रहे है। मानो सब अपनी सारी सम्पत्ति हार बैठे हो।

नगर के लोग मिलते है, पर कुछ कहते नही, चुपके से वन्दना करके चले जाते हैं। भरतजी भी किसी से कुशल नही पूछ सकते, क्योकि उनके मन मे भय और विषाद छा रहा है।

अलंकार—उपमा, उत्प्रेक्षा।

हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहँ दिसि लागि दवारी ॥
आवत सुत सुनि कैकयनंदिनी। हरषी रविकुल जलरुह चंदिनि ॥
सजि आरती मुदित उठि धाई। द्वारेहि भेंटि भवन लेइ आई ॥
भरत दुखित परिवारु निहारा। मानहुँ तुहिन वनज वन मारा ॥
कैकेई हरषित एहि भाँती। मनहुँ मुदित दव लाइ किराती ॥
सुतहि ससोच देखि मनु मारें। पूँछति नैहर कुसल हमारें ॥
कहु कहँ तात कहाँ सब माता। कहँ सिय राम लखन प्रिय भ्राता ॥

सुनि सुत बचन सनेहमय, कपट नीर भरि नैन।
भरत श्रवन मन सूल सम, पापिनि बोली बैन ॥१५९॥

व्याख्या—बाजार और रास्ते देखे नहीं जाते। मानो नगर मे दसो दिशाओ मे दावाग्नि लगी है। पुत्र को आते सुनकर सूर्यकुलरूपी कमल के लिये

चाँदनी-सी कैकेयी बड़ी हर्षित हुई। वह आरती सजाकर आनन्द में भरकर उठ दौड़ी और दरवाजे पर ही मिलकर भरत-शत्रुघ्न को महल में ले आयी। भरत ने सारे परिवार को दुखी देखा। मानो कमलों के वन को पाला मार गया हो। एक कैकेयी ही इस तरह हर्षित दीखती है, मानो भीलनी जंगल में आग लगाकर आनन्द में भर रही हो। पुत्र को सोच वश और मन मारे बहुत उदास देखकर वह पूछने लगी—हमारे नैहर में कुशल तो है?

भरतजी ने सब कुशल कह सुनाई। फिर अपने कुलकी कुशल-क्षेम पूछी। भरतजी ने कहा कहो, पिताजी कहाँ हैं? मेरी सब माताएँ कहाँ हैं? सीताजी और मेरे प्यारे भाई राम-लक्ष्मण कहाँ हैं।

पुत्र के स्नेहमय वचन सुनकर नेत्रों में कपटा जल भरकर पापिनी कैकेयी भरत के कानों में और मन में शूल के समान चुभनेवाले वचन बोली।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

तात बात मैं सकल सँवारी। भै मंथरा सहाय बिचारी॥
कछुक काज बिधि बीच बिगारेउ। भूपति सुरपति पुर पगु धारेउ॥
सुनत भरतु भए बिबस बिषादा। जनु सहमेउ करि केहरि नादा॥
तात तात हा तात पुकारी। परे भूमितल ब्याकुल भारी॥
चलत न देखन पायउँ तोही। तात न रामहि सौंपेहु मोही॥
बहुरि धीर धरि उठे सँभारी। कहु पितु मरन हेतु महतारी॥
सुनि सुत बचन कहति कैकेई। मरमु पाँछि जनु माहुर देई॥
आदिहु तें सब आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन बरनी॥

भरतहि बिसरेउ पितु मरन, सुनत राम बन गौनु॥
हेतु अपनपउ जानि जियँ, थकित रहे धरि मौनु॥१६०॥

व्याख्या—कैकेयी कहती है कि हे तात! मैंने सारी बात बना ली थी। बेचारी मन्थरा सहायक हुई। पर विधाता ने बीच में ज़रा-सा काम बिगाड़ दिया। वह यह कि राजा देवलोक को पधार गये भरत यह सुनते ही विषाद के मारे बेहाल हो गये। मानो सिंह की गर्जना सुनकर हाथी सहम गया हो। वे 'तात! तात! हा तात!' पुकारते हुए अत्यन्त व्याकुल होकर जमीन पर गिर पड़े। और विलाप करने लगे कि हे तात! मैं आपको स्वर्ग के लिये

चलते समय भी न देख सका। हाय आप मुझे श्रीरामजीको सौंप भी नहीं गये। फिर धीरज धरकर वे सम्हलकर उठे और बोले—माता! पिता के मरने का कारण तो बताओ। पुत्र का वचन सुनकर कैकेयी कहने लगी। मानो मर्मस्थान को पोछकर चाकू से चीरकर उसमें जहर भर रही हो। कुटिल और कठोर कैकेयी ने अपनी सब करनी शुरू से आखीर तक बड़े प्रसन्न मन से सुना दी।

श्रीरामचन्द्रजी का वन जाना सुनकर भरतजी पिता का मरण भूल गये और हृदय में इस सारे अनर्थ का कारण अपने को ही जानकर वे मौन होकर स्तम्भित रह गये अर्थात् उनकी बोली बंद हो गयी और वे सन्न रह गये।

१. अलंकार—वीप्सा, उपमा, उत्प्रेक्षा।

२ रस—करुणा—

विकल बिलोकि सुतहि समुझावति। मनहुँ जरे पर लोनु लगावति॥
तात राउ नहिं सोचै जोगू। बिढइ सुकृत जसु कीन्हेउ भोगू॥
जीवत सकल जनम फल पाए। अंत अमरपति सदन सिधाए॥
अस अनुमानि सोच परिहरहू। सहित समाज राज पुर करहू॥
सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू। पाकें छत जनु लाग अँगारू॥
धीरज धरि भरि लेहिं उसासा। पापिनि सबहि भाँति कुल नासा॥
जौं पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारे मोही॥
पेड़ काटि तैं पालउ सींचा। मीन जिअन निति बारि उलीचा॥

हंसबंसु दसरथु जनकु, राम लखन से भाइ।
जननी तू जननी भई, बिधि सन कछु न बसाइ॥१६१॥

व्याख्या—पुत्र को व्याकुल देखकर कैकयी समझाने लगी। मानो जले पर नमक लगा रही हो। वह बोली हे तात! राजा सोच करने योग्य नहीं है। उन्होंने पुण्य और यश कमाकर उसका पर्याप्त भोग किया। जीवन काल में ही उन्होंने जन्म लेने के सम्पूर्ण फल पा लिये और अन्त में वे इन्द्रलोक को चले गये। ऐसा विचारकर सोच छोड दो और समाज सहित नगर का राज्य करो राजकुमार भरतजी यह सुनकर बहुत ही सहम गये। मानो पके घावपर अंगार छू गया हो। उन्होंने धीरज धरकर बड़ी लंबी सांस लेते हुए कहा—पापिनी!

तूने सभी तरह से कुल का नाश कर दिया हाय ! यदि । तेरी ऐसी ही अत्यन्त बुरी रुचि थी, तो तूने जन्म से ही मुझे मार क्यों नहीं डाला ! अर्थात् मेरा हित करने जाकर उलटा तूने मेरा अहित कर डाला ।

मुझे सूर्यवंश दशरथजी सरीखे पिता और राम-लक्ष्मण से भाई मिले । पर हे जननी ! मुझे जन्म देनेवाली माता तू हुई ! क्या किया जाय ? विधाता से कुछ भी वश नहीं चलता ।

अलंकार—अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, वीप्सा, काकु वक्रोक्ति, स्वभाव ।

जब तैं कुमति कुमत जियँ ठयऊ । खंड खंड होइ हृदउ न गयऊ ॥
बर मागत मन भइ नहिं पीरा । गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा ॥
भूपँ प्रतीति तोरि किमि कीन्ही । मरन काल बिधि मति हरि लीन्ही ॥
बिधिहुँ न नारि हृदय गति जानी । सकल कपट अघ अवगुन खानी ॥
सरल सुसील धरम रत राऊ । सो किमि जानै तीय सुभाऊ ॥
अस को जीव जंतु जग माहीं । जेहि रघुनाथ प्रानप्रिय नाहीं ॥
भे अति अहित रामु तेउ तोही । को तू अहसि सत्य कहु मोही ॥
जो हसि सो हसि मुहँ मसि लाई । आँखि ओट उठि बैठहि जाई ॥

राम बिरोधी हृदय तें, प्रगट कीन्ह बिधि मोहि ।
मो समान को पातकी, बादि कहउँ कछु तोहि ॥१६२॥

व्याख्या—अरी कुमति ! जब से तेरे हृदय में राम को वन भेजने की बात आई, तब से तेरे हृदय के टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो गये ? वरदान माँगते समय तेरे मन में कुछ भी पीड़ा नहीं हुई ? तेरी जीभ गल नहीं गयी ? तेरे मुँह में कीड़े नहीं पड़ गये । राजा ने तेरा विश्वास कैसे कर लिया ? जान पड़ता है, विधाता ने मरने के समय उनकी बुद्धि हर ली थी । स्त्रियों के हृदय की गति विधाता भी नहीं जान सके । वह सम्पूर्ण कपट, पाप और अवगुणों की खान है । फिर राजा तो सीधे, सुशील और धर्मपरायण थे । वे भला स्त्री-स्वभाव को कैसे जानते ? अरे, जगत् के जीव-जन्तुओं में ऐसा कौन है । जिसे श्रीरघुनाथजी प्राणों के समान प्यारे नहीं हैं । वे श्रीरामजी भी तुझे अहित वैरी लगे, तू कौन है ? मुझे सच-सच कह । तू जो है, सो है, अब मुँह में स्याही पोतकर उठकर मेरी आँखों की ओट में जा बैठ ।

विधाता ने मुझे श्रीरामजी से विरोध करने वाले तेरे हृदय से उत्पन्न किया अथवा विधाता ने मुझे हृदय से राम का विरोधी जाहिर कर दिया। मेरे बराबर पापी दूसरा कौन है ? मैं व्यर्थ ही तुझे कुछ कहता हूँ।

अलकार—अनुप्राम।

सुनि सत्रुघन मातु कुटिलाई। जरहिं गात रिस कछु न बसाई॥
तेहि अवसर कुबरी तहँ आई। बसन विभूपन विविध बनाई॥
लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई। बरत अनल घृत आहुति पाई॥
हुमगि लात तकि कूबर मारा। परि मुँह भर महि करत पुकारा॥
कूबर टूटेउ फूट कपारू। दलित दसन मुख रुधिर प्रचारू॥
आह दइअ मैं काह नसावा। करत नीक फलु अनइस पावा॥
सुनि रिपुहन लखि नख सिख खोटी। लगे घसीटन धरि धरि झोंटी॥
भरत दयानिधि दीन्हि छुडाई। कौसल्या पहिं गे दोउ भाई॥
मलिन बसन बिवरन बिकल, कृस सरीर दुख भार।
कनक कलप बर बेलि बन, मानहुँ हनी तुसार॥१६३॥

व्याख्या—माता की कुटिलता सुनकर शत्रुघ्नजी के सब अङ्ग क्रोध से जल रहे हैं, पर कुछ वश नहीं चलता। उसी समय भाँति-भाँति के कपडो और गहनो से सजकर कुबरी (मन्थरा) वहाँ आयी। उसे सजी देखकर लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्नजी क्रोध मे भर गये। मानो जलती हुई आग को घी की आहुति मिल गयी हो। उन्होने जोर से तक कर कूबड पर एक लात जमा दी। वह चिल्लाती हुई मुँह के बल जमीन पर गिर पडी। उसका कूबड टूट गया, कपाल फूट गया, दाँत टूट गये और मुँह से खून बहने लगा। वह कराहती हुई बोली—हाय दैव ! मैने क्या बिगाडा ? जो भला करते बुरा फल पाया। उसकी यह बात सुनकर और उसे नख से शिखा तक दुष्ट जानकर शत्रुघ्नजी झोटा पकड-पकड कर उसे घसीटने लगे। तब दयानिधि भरतजी ने उसको छुडा दिया और दोनो भाई तुरंत कौसल्याजी के पास गये। कौसल्याजी मैले वस्त्र पहने है, चेहरे का रग बदला हुआ है। वे व्याकुल हो रही हैं, दुःख के बोझ से उनका शरीर सूख गया है। वे ऐसी दीख रही है मानो सोने की सुन्दर कल्पलता को वन मे पाला मार गया हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरछित अवनि परी भइँ आई॥
देखत भरतु बिकल भए भारी। परे चरन तन दसा बिसारी॥
मातु तात कहँ देहि देखाई। कहँ सिय रामु लखनु दोउ भाई॥
कैकइ कत जनमी जग माझा। जौं जनमि त भइ काहे न बाँझा॥
कुल कलंकु जेहिं जनमेउ मोही। अपजस भाजन प्रियजन द्रोही॥
को तिभुवन मोहि सरिस अभागी। गति असि तोरि मातु जेहि लागी।
पितु सुरपुर बन रघुबर केतू। मैं केवल सब अनरथ हेतू॥
धिग मोहि भयउँ बेनु बन आगी। दुसह दाह दुख दूषन भागी॥

मातु भरत के बचन मृदु, सुनि पुनि उठी सँभारि।
लिए उठाइ लगाइ उर, लोचन मोचति बारि॥१६४॥

व्याख्या—भरत को देखते ही माता कौसल्या जी उठ कर दौड़ीं, पर चक्कर आ जाने से मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं यह देखते ही भरतजी बड़े व्याकुल हो गये और शरीर की सुध भुलाकर चरणों में गिर पड़े। फिर बोले—माता! पिताजी कहाँ हैं? उन्हें दिखा दे। सीताजी तथा मेरे दोनों भाई श्रीराम लक्ष्मण कहाँ हैं? उन्हें दिखा दे। कैकेयी जगत् में क्यों जनमी? और यदि जनमी ही तो फिर बाँझ क्यों न हुई, जिसने कुल के कलंक, अपयश के भांडे और प्रियजनों के द्रोही मुझ जैसे पुत्र को उत्पन्न किया। तीनों लोकों में मेरे समान अभागा कौन है? जिसके कारण हे माता! तेरी यह दशा हुई। पिताजी स्वर्ग में हैं और श्रीरामजी वन में हैं! केतु के समान केवल मैं ही इन सब अनर्थों का कारण हूँ। मुझे धिक्कार है! मैं बाँस के वन में आग उत्पन्न हुआ और कठिन दाह, दुःख और दोषों का भागी बना।

भरतजी के कोमल वचन सुनकर माता कौसल्याजी फिर सँभलकर उठीं। उन्होंने भरत को उठा कर छाती से लगा लिया और नेत्रों से आँसू बहाने लगीं।

अलंकार—उपमा,

सरल सुभाय मायँ हियँ लाए। अति हित मनहुँ राम फिरि आए॥
भेंटेउ बहुरि लखन लघुभाई। सोकु सनेहु न हृदयँ समाई॥

देखि सुभाउ कहत सबु कोई। राम मातु अस काहे न होई।।
मातां भरतु गोद बैठारे। आंसु पोंछि मृदु बचन उचारे।।
अजहुँ बच्छ बलि धीरज धरहू। कुसमउ समुझि सोक परिहरहू।।
जनि मानहु हियँ हानि गलानी। काल करम गति अघटित जानी।।
काहुहि दोसु देहु जनि ताता। भा मोहि सब बिधि बाम बिधाता।।
जो एतेहुँ दुख मोहि जिआवा। अजहुँ को जानइ का तेहि भावा।।

पितु आयस भूषन बसन, तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदयँ, कछु पहिरे बलकल चीर।।१६५।।

व्याख्या—सरल स्वभाववाली माता ने बड़े प्रेम से भरतजी को छाती से लगा लिया, मानो, श्रीरामजी ही लौट कर आ गये हो। फिर लक्ष्मणजी के छोटे भाई शत्रुघ्न को हृदय से लगाया। शोक और स्नेह उनके हृदय मे समाता नही है। कौसल्याजी का स्वभाव देखकर सब कोई कह रहे है कि श्रीराम की माता का ऐसा स्वभाव क्यो न हो। माता ने भरतजी को गोद मे बैठा लिया और उनके आँसू पोंछकर कोमल वचन बोली। हे वत्स! मैं बलैया लेती हूँ, तुम अब भी धीरज धरो। बुरा समय जानकर शोक त्याग दो। काल और कर्म की गति अमिट जानकर हृदय मे हानि और ग्लानि मत मानो। हे तात! किसी को दोष मत दो। विधाता मुझको सब प्रकार से उलटा हो गया है, जो इतने दुःख पर भी मुझे जिला रहा है। अब भी कौन जानता है, उसे क्या भा रहा है?

हे तात! पिता की आज्ञा से श्रीरघुवीर ने भूषण-वस्त्र त्याग दिये और वल्कल-वस्त्र पहन लिये। उनके हृदय मे न कुछ विषाद था, न हर्ष।

मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सब कर सब बिधि करि परितोषू।।
चले बिपिन सुनि सिय सँग लागी। रहइ न राम चरन अनुरागी।।
सुनतहिं लखनु चले उठि साथा। रहहिं न जतन किए रघुनाथा।।
तब रघुपति सबही सिरु नाई। चले संग सिय अरु लघु भाई।।
रामु लखनु सिय बनहि सिधाए। गइउँ न संग न प्रान पठाए।।
यहु सबु भा इन्ह आँखिन्ह आगे। तउ न तजा तनु जीव अभागे।।

मोहि न लाज निज नेहु निहारी। राम सरिस सुत मैं महतारी॥
जिऐ मरै भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥

कौसल्या के बचन सुनि, भरत सहित रनिवासु।
ब्याकुल बिलपत राजगृह, मानहुँ सोक नेवासु॥१६६॥

व्याख्या—माता कौसल्या भरत से कहती हैं कि राम का मुख प्रसन्न था। मन में न आसक्ति थी, न रोष, तथा वे सबको सब प्रकार सन्तोष कराकर वन को चले। यह सुनकर सीता भी उनके साथ लग गयी। श्रीराम के चरणों की अनुरागिणी वे किसी तरह न रहीं। श्रीरामचन्द्र के बहुत रोकने पर लक्ष्मण घर पर न रहे। तब श्रीरघुनाथजी सबको सिर नवाकर सीता और छोटे भाई लक्ष्मण को साथ लेकर चले गये। श्रीराम, लक्ष्मण और सीता वन को चले गये। मैं न तो साथ ही गयी और न मैंने अपने प्राण ही उनके साथ भेजे। यह सब इन्हीं आँखों के सामने हुआ, तो भी अभागे जीव ने शरीर नहीं छोड़ा। अपने स्नेह की ओर देखकर मुझे लाज भी नहीं आती, क्या मैं राम सरीखे पुत्र की माता होने योग्य हूँ? जीना और मरना तो राजा ने खूब जाना। मेरा हृदय तो सैकड़ों वज्रों के समान कठोर है।

कौसल्याजी के वचनों को सुनकर भरत-सहित सारा रनिवास व्याकुल होकर विलाप करने लगा। राजमहल मानो शोक का निवास बन गया।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

२—रस—करुण।

बिलपहिं बिकल भरत दोउ भाई। कौसल्याँ लिए हृदयँ लगाई॥
भाँति अनेक भरतु समुझाए। कहि बिबेकमय बचन सुनाए॥
भरतहुँ मातु सकल समुझाईं। कहि पुरान श्रुति कथा सुहाईं॥
छल बिहीन सुचि सरल सुबानी। बोले भरत जोरि जुग पानी॥
जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥
ते पातक मोहि होहुँ बिधाता। जौं यहु होइ मोर मत माता॥

जे परिहरि हरि हर चरन, भजहिं भूतगन घोर।
तेहि कइ गति मोहि देउ विधि, जौं जननी मत मोर ॥१६७॥

व्याख्या—भरत, शत्रुघ्न दोनो भाई विकल होकर विलाप करने लगे, तब कौसल्याजी ने उनको हृदय से लगा लिया। अनेको प्रकार से भरतजी को समझाया और बहुत-सी विवेक भरी बातें उन्हे कहकर सुनायी। भरतजी ने भी सब माताओ को पुराण और वेदो की सुन्दर कथाएं कहकर समझाया। फिर दोनो हाथ जोडकर छल रहित पवित्र और सीधी सुन्दर वाणी बोले। जो पाप माता-पिता और पुत्र के मारने से होते हैं और जो गोशाला और ब्राह्मणो के नगर जलाने से होते है, जो पाप स्त्री और बालक की हत्या करने से होते हैं और जो मित्र और राजा को जहर देने से होते हैं। कर्म, वचन और मन से होने वाले जितने पातक एव बडे छोटे पाप हैं, जिनको कवि लोग कहते हैं, हे विधाता ! यदि इस काम मे मेरा मत हो, तो वे सब पाप मुझे लगें।

जो लोग श्रीहरि और श्री शकरजी के चरणो को छोडकर भयानक भूत-प्रेतो को भजते है, हे माता ! यदि इसमे मेरा मत हो तो विधाता मुझे उनकी गति दे।

बेचहिं बेदु धरमु दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं ॥
कपटी कुटिल कलह प्रिय क्रोधी। बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी ॥
लोभी लपट लोलुपचारा। जे ताकहिं परधनु परदारा ॥
पावौं मै तिन्ह कै गति घोरा। जौं जननी यहु संमत मोरा ॥
जे नहिं साधु संग अनुरागे। परमारथ पथ बिमुख अभागे ॥
जे न भजहिं हरि नरतनु पाई। जिन्हहि न हरि हर सुजसु सोहाई ॥
तजि श्रुति पथु बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेष जगु छलहीं ॥
तिन्ह कै गति मोहि सकर देऊ। जननी जौं यहु जानौं भेऊ ॥

मातु भरत के बचन सुनि, सांचे सरल सुभायँ।
कहति राम प्रिय तात तुम्ह, सदा बचन मन कायँ ॥१६८॥

व्याख्या—भरत आत्म-ग्लानि से भर कौसल्या से कहते हैं कि र
ोग वेदो को बेचते है, धर्म को दुह लेते हैं, चुगलखोर हैं, दूसरो

पापों को कह देते हैं, जो कपटी, कुटिल, कलह प्रिय और क्रोधी है तथा जो वेदो की निन्दा करने वाले और विश्व भर के विरोधी हैं और जो लोभी, लम्पट और लालचियों का आचरण करने वाले है, जो पराये धन और परायी स्त्री की ताक मे रहते है, हे जननी ! यदि इस काम मे मेरी सम्मति हो तो मैं उनकी भयानक गति को पाऊँ, तथा जिनका सत्सग मे प्रेम नही है, जो अभागे परमार्थ के मार्ग से विमुख हैं, जो मनुष्य शरीर पाकर श्रीहरि का भजन नही करते, जिनको भगवान् विष्णु और शकरजी का सुयश नही सुहाता और जो वेदमार्ग को छोड़कर वाम और वेद प्रतिकूल मार्ग पर चलते हैं, जो ठग हैं और वेष बनाकर जगत को छलते है, हे माता यदि मैं इस भेद को जानता भी होऊँ तो शकरजी मुझे उन लोगों की गति दें।

माता कौसल्याजी भरतजी के स्वाभाविक ही सच्चे और सरल वचनो को सुनकर कहने लगी—हे तात ! तुम तो मन, वचन और शरीर से सदा ही श्रीरामचन्द्र के प्यारे हो।

राम प्रानहु तें प्रान तुम्हारे। तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे॥
बिधु बिष चवै स्रवै हिमु आगी। होइ बारिचर बारि बिरागी॥
भएँ ग्यानु बरु मिटै न मोहू। तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू॥
मत तुम्हार यहु जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥
करत बिलाप बहुत यहि भाँती। बैठेहिं बीति गई सब राती॥
बामदेउ बसिष्ठ तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए॥
मुनि बहु भाँति भरत उपदेसे। कहि परमारथ बचन सुदेसे॥
तात हृदयँ धीरजु धरहु, करहु जो अवसर आजु।
उठे भरत गुर बचन सुनि, करन कहेउ सबु साजु॥१६९॥

व्याख्या—भरत के वचनों को सुनकर कौसल्या कहती है कि श्रीराम तुम्हारे प्राणों से भी बढ़कर प्रिय हैं और तुम भी श्रीरघुनाथ को प्राणो से भी अधिक प्यारे हो। चन्द्रमा चाहे विष चुआने लगे और पाला आग बरसाने लगे, जलचर जीव जल से विरक्त हो जाँय, और ज्ञान हो जाने पर भी चाहे मोह न मिटे, पर तुम श्रीरामचन्द्र के प्रतिकूल कभी नही हो सकते। इसमें

तुम्हारी सम्मति है, जगत मे जो कोई ऐसा कहते है, वे स्वप्न मे भी सुख और शुभगति नही पावेंगे। ऐसा कहकर माता कौसल्या ने भरतजी को हृदय से लगा लिया। उनके स्तनो से दूध वहने लगा और नेत्रो मे प्रेमाश्रुओ का जल छा गया। इस प्रकार बहुत विलाप करते हुए सारी रात बैठे-ही बैठे बीत गयी तब वामदेवजी और वशिष्ठजी आये। उन्होने सब मन्त्रियो तथा महाजनो को बुलवाया। फिर मुनि वशिष्ठजी ने परमार्थ के सुन्दर समयानुकूल वचन कहकर बहुत प्रकार से भरतजी को उपदेश दिया।

वशिष्ठ जी ने कहा कि हे तात! हृदय मे धीरज धरो और आज जिस कार्य के करने का अवसर है, उसे करो। गुरुजी के वचन सुनकर भरत जी उठे और उन्होने सब तैयारी करने के लिये कहा।

अलंकार—दृष्टान्त।

नृप तनु वेद विदित अन्हवावा। परम विचित्र बिमानु बनावा॥
गहि पद भरत मातु सब राखी। रहीं रानि दरसन अभिलाषी॥
चंदन अगर भार बहु आए। अमित अनेक सुगंध सुहाए॥
सरजु तीर रचि चिता बनाई। जनु सुरपुर सोपान सुहाई॥
एहि बिधि दाह क्रिया सब कीन्ही। बिधिवत न्हाइ तिलांजुलि दीन्ही॥
सोधि सुमृति सब वेद पुराना। कीन्ह भरत दसगात बिधाना॥
जहँ जस मुनिवर आयसु दीन्हा। तहँ तस सहज भाँति सबु कीन्हा॥
भए बिसुद्ध दिए सब दाना। धेनु बाजि गज बाहन नाना॥

सिंघासन भूषन बसन, अन्न धरिनि धन धाम।
दिए भरत लहि भूमिसुर, भे परिपूरन काम॥१७०॥

व्याख्या—वेदो मे बतायी हुई विधि से राजा की देह को स्नान कराया गया और परम विचित्र विमान बनाया गया। भरतजी ने सब माताओ को प्रार्थना करके उनको सती होने से रोक लिया। वे भी श्रीराम के दर्शन की अभिलाषा मे रह गयी। चन्दन और अगर के तथा और भी अनेको प्रकार के अपार सुगन्ध-द्रव्यो के बहुत से बोझ आये। सरयू जी के तट पर सुन्दर चिता रचकर बनायी गयी, जो ऐसी मालूम होती थी मानो स्वर्ग की सुन्दर सीढी हो। इस प्रकार सब दाह क्रिया की गयी और सबने विधिपूर्वक स्नान करके

तिलाञ्जलि दी। फिर वेद, स्मृति और पुराण सबका मत निश्चय करके उसके अनुसार भरतजी ने पिता का दशगात्र-विधान किया मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठजी ने जहाँ जैसी आज्ञा दी, वहाँ भरतजी ने सब वैसा ही हजारों प्रकार से किया। शुद्ध हो जाने पर विधिपूर्वक सब दान दिये। गौएँ तथा घोड़े, हाथी आदि अनेक प्रकार की सवारियाँ उन्होंने दान में दी।

सिंहासन, गहने, कपड़े अन्न, पृथ्वी, धन और मकान भरतजी ने दिये, भूदेव ब्राह्मण दान पाकर परिपूर्ण काम हो गये।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी। सो मुख लाख जाइ नहिं बरनी॥
सुदिनु सोधि मुनिबर तब आए। सचिव महाजन सकल बोलाए॥
बैठे राजसभाँ सब जाई। पठए बोलि भरत दोउ भाई॥
भरतु बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति धरममय बचन उचारे॥
प्रथम कथा सब मुनिबर बरनी। कैकइ कुटिल कीन्हि जसि करनी॥
भूप धरम ब्रतु सत्य सराहा। जेहिं तनु परिहरि प्रेमु निबाहा॥
कहत राम गुन सील सुभाऊ। सजल नयन पुलकेउ मुनिराऊ॥
बहुरि लखन सिय प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनि ग्यानी॥

सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि लाभु जीवनु मरनु, जसु अपजसु बिधि हाथ॥१७१॥

व्याख्या—पिताजी के लिए भरतजी ने जैसी करनी की; वह लाखों मुखों से भी वर्णन नहीं की जा सकती। तब शुभ दिन शोधकर श्रेष्ठ मुनि वशिष्ठजी आये और उन्होंने मन्त्रियों तथा सब महाजनों को बुलवाया सब लोग राजसभा में जाकर बैठ गये। तब मुनि ने भरतजी तथा शत्रुघ्नजी दोनों को बुलवा भेजा। भरत को वशिष्ठ जी ने अपने पास बैठा लिया और नीति तथा धर्म से भरे हुए वचन कहे। पहले तो कैकेयी ने जैसी कुटिल करनी की थी, श्रेष्ठ मुनि ने वह सारी कथा कही। फिर राजा का धर्मव्रत और सत्य की सराहना की, जिन्होंने शरीर त्याग कर प्रेम को निबाहा श्री रामचन्द्रजी के गुण, शील और स्वभाव वर्णन करते-करते तो मुनिराज के नेत्रों में जल भर आया और वे शरीर से

पुलकित हो गये। फिर लक्ष्मणजी और सीताजी के प्रेम की बडाई करते हुए ज्ञानी मुनि शोक और स्नेह मे मग्न हो गये।

मुनिनाथ ने दुखी होकर कहा—हे भरत! सुनो, होनहार बडी बलवान् है। हानि-लाभ, जीवन-मरण और यश-अपयश—ये सब विधाता के हाथ है।

अस विचारि केहि देइअ दोसू। ब्यरथ काहि पर कीजिअ रोसू॥
तात बिचारु करहु मन माहीं। सोच जोगु दसरथु नृपु नाहीं॥
सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धरमु बिषय लयलीना॥
सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना
सोचिअ बयसु कृपन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥
सोचिअ सूद्र बिप्र अवमानी। मुखर मान प्रिय ग्यान गुमानी॥
सोचिअ पुनि पति बंचक नारी। कुटिल कलहप्रिय इच्छाचारी॥
सोचिअ बटु निज ब्रतु परिहरई। जो नहिं गुर आयसु अनुसरई॥

सोचिअ गृही जो मोह बस, करइ करम पथ त्याग।
सोचिअ जती प्रपंच रत, बिगत बिबेक बिराग॥१७२॥

व्याख्या—ऐसा विचारकर किसे दोष दिया जाय? और व्यर्थ किसपर क्रोध किया जाय? हे तात्! मन मे विचार करो, राजा दशरथ सोच करने के योग्य नही है। सोच उस ब्राह्मण का करना चाहिये, जो वेद नही जानता और जो अपना धर्म छोडकर विषय-भोग मे ही लीन रहता है। उस राजा का सोच करना चाहिए जो नीति नही जानता और जिस को प्रजा प्राणो के समान प्यारी नही है। उस वैश्य का सोच करना चाहिए जो धनवान् होकर भी कजूस है और जो अतिथ्य सत्कार तथा शिवजी की भक्ति करने मे कुशल नही है। उस शूद्र का सोच करना चाहिये जो ब्राह्मणो का अपमान करनेवाला, बहुत बोलने वाला, मान-बडाई चाहने वाला और ज्ञान का घमंड रखनेवाला है। पुनः उस स्त्री का सोच करना चाहिये जो पति को छलनेवाली, कुटिल, कलह प्रिय और स्वेच्छाचरिणी है। उस ब्रह्माचारी का सोच करना चाहिये जो अपने ब्रह्मचर्य-व्रत को छोड देता है और गुरु की आज्ञानुसार नही चलता।

उस गृहस्थ का सोच करना चाहिए जो मोहवश कर्म मार्ग का त्याग कर देता है, उस सन्यासी का सोच करना चाहिए जो दुनियाँ के प्रपंच मे फँसा हुआ है और ज्ञान-वैराग्य से हीन है।

अलंकार—दृष्टान्त अर्थान्तरन्यास ।

बैखानस सोइ सोचै जोगू । तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू ॥
सोचिअ पिसुन अकारन क्रोधी । जननि जनक गुर बंधु बिरोधी ॥
सब बिधि सोचिअ पर अपकारी । निज तनु पोषक निरदय भारी ॥
सोचनीय सबहीं बिधि सोई । जो न छाड़ि छलु हरि जन होई ॥
सोचनीय नहिं कोसलराऊ । भुवन चारिदस प्रगट प्रभाऊ ॥
भयउ न अहइ न अब होनिहारा । भूप भरत जस पिता तुम्हारा ॥
बिधि हरि हरु सुरपति दिसि नाथा । बरनहिं सब दसरथ गुन गाथा ॥

कहहु तात केहि भाँति कोउ, करिहि बड़ाई तासु ।
राम लखन तुम्ह सत्रुहन, सरिस सुअन सुचि जासु ॥१७३॥

व्याख्या—वशिष्ठ जी भरत को समझाते हुए कहते हैं । वानप्रस्थी वह सोच करने योग्य है, जिसको तपस्या छोड़कर भोग अच्छे लगते हैं । सोच उसका करना चाहिये जो चुगलखोर है, बिना ही कारण क्रोध करनेवाला है तथा माता, पिता, गुरु एवं भाई-बन्धुओं के साथ विरोध रखनेवाला है । सब प्रकार से उसका सोच करना चाहिये जो दूसरों का अनिष्ट करता है, अपने ही शरीर का पोषण करता है और बड़ा भारी निर्दयी है और वह तो सभी प्रकार से सोच करने योग्य है । जो छल छोड़कर हरि का भक्त नहीं होता । कोसलराज दशरथजी सोच करने योग्य नहीं हैं, जिनका प्रभाव चौदहों लोकों में प्रकट है । हे भरत ! तुम्हारे पिता-जैसा राजा तो न हुआ, न अब होने का ही है ।

ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र और दिक्पाल सभी दशरथजी के गुणों की कथाएँ कहा करते हैं ।

हे तात ! कहो, उनकी बड़ाई कोई किस प्रकार करेगा जिनके श्रीराम, लक्ष्मण तुम और शत्रुघ्न-सरीखे पवित्र पुत्र हैं ?

अलंकार—दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास ।

सब प्रकार भूपति बड़भागी । बादि बिषादु करिअ तेहि लागी ॥
यहु सुनि समुझि सोचु परिहरहू । सिर धरि राज रजायसु करहू ॥
रायँ राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा । पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा ॥
तजे रामु जेहिं बचनहि लागी । तनु परिहरेउ राम बिरहागी ॥

नृपहि वचन प्रिय नहिं प्रिय प्राना । करहु तात पितु वचन प्रवाना ।।
करहु सीस धरि भूप रजाई । हइ तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई ।।
परसुराम पितु अग्या राखी । मारी मातु लोक सब साखी ।।
तनय जजातिहि जौबनु दयऊ । पितु अग्याँ अघ अजसु न भयऊ ।।
अनुचित उचित बिचारु तजि, जे पालहिं पितु बैन ।
ते भाजन सुख सुजस के, बसहिं अमरपति ऐन ।।१७४।।

व्याख्या—राजा सब प्रकार से बडभागी थे । उनके लिये विषाद करना व्यर्थ है । यह सुन और समझकर सोच त्याग दो और राजा की आज्ञा सिर चढाकर तदनुसार कार्य करो । राजा ने राजपद तुमको दिया है । पिता का वचन तुम्हें सत्य करना चाहिये, जिन्होने वचन के लिये ही श्रीरामचन्द्रजी को त्याग दिया है । और राम विरह की अग्नि मे अपने शरीर की आहुति दे दी । राजा को वचन प्रिय थे, प्राण प्रिय नही थे । इसलिये हे तात ! पिता के वचनो को प्रमाण (सत्य) करो । राजा की आज्ञा सिर चढाकर पालन करो, इसमे तुम्हारी सब तरह भलाई है । परशुरामजी ने पिता की आज्ञा रक्खी और माता को मार डाला, सब लोक इस बात के साक्षी हैं । राजा ययाति के पुत्र ने पिता को अपनी जवानी दे देदी । पिता की आज्ञा का पालन करने से उन्हें पाप और अपयश नही हुआ । जो अनुचित और उचित का विचार छोडकर पिता के वचनो का पालन करते है, वे सुख और सुयश के पात्र होकर अन्त मे स्वर्ग में निवास करते हैं ।

अलकार—दृष्टान्त ।

अवसि नरेस बचन फुर करहू । पालहु प्रजा सोकु परिहरहू ।।
सुरपुर नृपु पाइहि परितोषू । तुम्ह कहुँ सुकृतु सुजसु नहिं दोषू ।।
वेद विदित समत सबही का । जेहि पितु देइ सो पावइ टीका ।।
करहु राजु परिहरहु गलानी । मानहु मोर बचन हित जानी ।।
सुनि सुखु लहब राम बैदेहीं । अनुचित कहब न पडित केहीं ।।
कौसल्यादि सकल महतारीं । तेउ प्रजा सुख होहिं सुखारीं ।।
मरम तुम्हार राम कर जानिहि । सो सब बिधि तुम्ह सन भल मानिहि ।।
सौंपेहु राजु राम के आएँ । सेवा करेहु सनेह सुहाएँ ।।

कीजिअ गुर आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि।
रघुपति आएँ उचित जस, तस तब करब बहोरि ॥१७५॥

व्याख्या—हे भरत राजा का वचन अवश्य सत्य करो। शोक त्याग दो और प्रजा का पालन करो। ऐसा करने से स्वर्ग में राजा सन्तोष पावेंगे और तुमको पुण्य और सुन्दर यश मिलेगा, दोष नहीं लगेगा यह वेद में प्रसिद्ध है और स्मृति-पुराणादि सभी शास्त्रों के द्वारा सम्मत है कि पिता जिसको दे वही राज तिलक पाता है। इसलिये तुम राज्य करो, ग्लानि का त्याग कर दो। मेरे वचन को हित समझकर मानो। इस बात को सुनकर श्रीरामचन्द्रजी और जानकी जी सुख पावेंगे और कोई पण्डित इसे अनुचित नही कहेगा। कौसल्या जी आदि तुम्हारी सब माताएँ भी प्रजा के सुख से सुखी होंगी। जो तुम्हारे और श्रीरामचन्द्रजी के श्रेष्ठ सम्बन्ध को जान लेगा, वह सभी प्रकार से तुमसे भला मानेगा। श्रीरामचन्द्रजी के लौट आने पर राज्य उन्हें सौंप देना और सुन्दर स्नेह से उनकी सेवा करना।

मन्त्री हाथ जोड कर कह रहे हैं—गुरुजी की आज्ञा का अवश्य ही पालन कीजिये। श्रीरघुनाथजी के लौट आने पर जैसे उचित हो, तब फिर वैसा ही कीजियेगा।

कौसल्या धरि धीरजु कहई। पूत पथ्य गुर आयसु अहई॥
सो आदरिअ करिअ हित मानी। तजिअ बिषादु काल गति जानी॥
बन रघुपति सुरपति नरनाहू। तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू॥
परिजन प्रजा सचिव सब अंबा। तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा॥
लखि बिधि बाम कालु कठिनाई। धीरजु धरहु मातु बलि जाई॥
सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू॥
गुर के बचन सचिव अभिनंदनु। सुने भरत हिय हित जनु चंदनु॥
सुनी बहोरि मातु मृदु बानी। सील सनेह सरल रस सानी॥

सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरतु ब्याकुल भए।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नए॥
सो दसा देखत समय तेहिं बिसारी सबहि सुधि देह की।
तुलसी सराहत सकल सादर सीवँ सहज सनेह की॥

भरतु कमल कर जोरि, धीर धुरधर धीर धरि।
वचन अमिअँ जनु बोरि, देत उचित उत्तर सबहि ॥१७६॥

व्याख्या—कौसल्याजी भरत से धीरज धरकर कह रही है, हे पुत्र ! गुरु जी की आज्ञा पथ्यरूप है। उसका आदर करना चाहिये और हित मानकर उसका पालन करना चाहिये। काल की गति को जानकर विषाद का त्याग कर देना चाहिये श्रीरघुनाथजी वन मे है, महाराज स्वर्ग का राज्य करने चले गये और हे तात ! तुम इस प्रकार कातर हो रहे हो। हे पुत्र ! कुटुम्ब, प्रजा, मन्त्री और सब माताओ के सब के एक तुम ही सहारे हो। विधाता को प्रतिकूल और काल को कठोर देखकर धीरज धरो, माता तुम्हारी बलिहारी जाती है। गुरु की आज्ञा को सिर चढाकर उसीके अनुसार कार्य करो और प्रजा का पालन कर कुटुम्बियो का दु ख हरो। भरतजी ने गुरु के वचनो और मन्त्रियो के अनुमोदन को सुना, जो उनके हृदय के लिये मानो चन्दन के समान शीतल था। फिर उन्होने शील, स्नेह और सरलता के रस मे सनी हुई माता कौसल्या की कोमल वाणी सुनी।

सरलता के रस मे सनी हुई माता की वाणी सुनकर भरतजी व्याकुल हो गये। उनके नेत्र कमल जल बहाकर हृदय के विरह रूपी नवीन अकुर को सीचने लगे। नेत्रो के आँसुओ ने उनके वियोग-दु ख को बहुत ही बढकार उन्हे अत्यन्त व्याकुल कर दिया। उनकी वह दशा देखकर उस समय सबको अपने शरीर की सुध भूल गयी। तुलसीदासजी कहते हैं—स्वाभाविक प्रेम की सीमा श्रीभरतजी की सब लोग आदरपूर्वक सराहना करने लगे।

धैर्य की धुरी को धारण करने वाले भरतजी धीरज धर कर, कमल के समान हाथो को जोडकर, वचनो को मानो अमृत मे डुबाकर सबको उचित उत्तर देने लगे।

अलकार—उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा।

मोहि उपदेसु दीन्ह गुर नीका। प्रजा सचिव समत सबही का ॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा। अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा ॥
गुर पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी ॥
उचित की अनुचित किएँ बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू ॥

तुम्ह तौ देहु सरल सिख सोई। जो आचरत मोर भल होई॥
यद्यपि यह समुझत हउँ नीकें। तदपि होत परितोषु न जी कें॥
अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावनु देहू॥
ऊतरु देउँ छमब अपराधू। दुखित दोष गुन गनहिं न साधू॥

पितु सुरपुर सिय रामु बन, करन कहहु मोहि राजु।
एहि तें जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काजु॥१७७॥

व्याख्या—भरतजी कहते हैं कि गुरुजी ने मुझे सुन्दर उपदेश दिया फिर प्रजा, मन्त्री आदि सभी की यही राय है। माता ने भी उचित समझ कर ही आज्ञा दी है और मैं भी अवश्य उनको सिर चढ़ाकर वैसा ही करना चाहता हूँ क्योंकि गुरु, पिता, माता, स्वामी और मित्र की वाणी सुनकर प्रसन्न मन से उसे अच्छी समझ कर मानना चाहिये। उचित,अनुचित का विचार करने से धर्म जाता है और सिर पर पाप का भार चढ़ता है। आप तो मुझे वही सरल शिक्षा दे रहे हैं, जिसके आचरण करने से मेरा भला हो। यद्यपि मैं इस बात को भली-भाँति समझता हूँ, तथापि मेरे हृदय को सन्तोष नहीं होता। अब आप लोग मेरी विनती सुन लीजिए और मेरी योग्यता के अनुसार मुझे शिक्षा दीजिये। मैं उत्तर दे रहा हूँ, यह अपराध क्षमा कीजिये। साधु पुरुष दुखी मनुष्य के दोष-गुणों को नहीं गिनते।

पिताजी स्वर्ग में हैं, श्रीसीतारामजी वन में हैं और मुझे आप राज्य करने के लिये कह रहे हैं। इसमें आप मेरा कल्याण समझते हैं या अपना कोई बड़ा काम होने की आशा रखते हैं।

अलंकार—वृत्यनुप्रास।

हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥
मैं अनुमानि दीख मन माहीं। आन उपायँ मोर हित नाहीं॥
सोक समाजु राजु केहि लेखें। लखन राम सिय बिनु पद देखें॥
बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्मबिचारू॥
सरुज सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरिभगति जायँ जप जोगा॥
जायँ जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सबु बिनु रघुराई॥

जाउँ राम पहिं आयसु देहू । एकहिं आँक मोर हित एहू ॥
मोहि नृप करि भल आपन चहहू । सोउ सनेह जडता बस कहहू ॥
कैकेई सुअ कुटिलमति, राम विमुख गतलाज ।
तुम्ह चाहत सुखु मोह बस, मोहि से अधम कें राज ॥१७८॥

शब्दार्थ—लेखे=गिनती । वदि=व्यर्थ । सरुज=रोगी । एकहिं अक=निश्चय पूवक ।

व्याख्या—भरतजी कहते है कि मेरा कल्याण तो सीतापति श्रीरामजी की सेवा मे है, सो उसे माताकी कुटिलता ने छीन लिया । मैने अपने मनमे अनुमान करके देख लिया है कि दूसरे किसी उपाय से मेरा कल्याण नही है । यह शोक का समुदाय राज्य लक्ष्मण, श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी के चरणो को देखे विना किस गिनती मे है ? जैसे कपड़ो के विना गहनो का बोझ व्यर्थ है, वैराग्य के विना ब्रह्म विचार व्यर्थ है, रोगी शरीर के लिये नाना प्रकार के भोग व्यर्थ हैं, श्रीहरि की भक्ति के विना जप और योग व्यर्थ हैं, जीव के विना सुन्दर देह व्यर्थ है, वैसे ही रघुनाथजी के विना मेरा सब कुछ व्यर्थ है । मुझे आज्ञा दीजिये, मैं श्रीरामजी के पास जाऊँ । एक ही आँक (निश्चयपूर्वक) मेरा हित इसी मे है । और मुझे राजा बनाकर आप अपना भला चाहते हैं, यह भी आप स्नेह की जडता के वश होकर ही कह रहे है ।

कैकेयी के पुत्र, कुटिलबुद्धि, रामविमुख और निर्लज मुझसे अधम के राज्य से आप मोह के वश होकर ही सुख चाहते हैं ।

अलकार—दृष्टान्त ।

कहउँ साँचु सब सुनि पतिआहू । चाहिअ धरमसील नरनाहू ॥
मोहि राजु हठि देइहहु जबहीं । रसा रसातल जाइहि तबहीं ॥
मोहि समान को पाप निवासू । जेहि लगि सीय राम बनवासू ॥
रायँ राम कहुँ काननु दीन्हा । बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा ॥
मै सठु सब अनरथ कर हेतु । बैठ बात सब सुनउँ सचेतू ॥
बिनु रघुबीर बिलोकि अवासू । रहे प्रान सहि जग उपहासू ॥
राम पुनीत विषय रस रूखे । लोलुप भूमि भोग के भूखे ॥
कहँ लगि कहौं हृदय कठिनाई । निदरि कुलिस जेहिं लही बडाई ॥

कारन तें कारजु कठिन, होइ दोसु नहिं मोर।
कुलिस अस्थि तें उपल तें, लोह कराल कठोर ॥१७६॥

व्याख्या—मैं सत्य कहता हूँ, आप सब सुनकर विश्वास करें, धर्मशील को राजा होना चाहिये। आप मुझे हठ करके ज्यों ही राज्य देंगे, त्यों ही पृथ्वी पाताल में धँस जायगी। मेरे समान पापों का घर कौन होगा, जिसके कारण सीताजी और श्रीरामजी का वनवास हुआ? राजा ने श्रीरामजी को वन भेज दिया और उनके बिछुड़ते ही स्वयं ही स्वर्ग को गमन किया। और मैं दुष्ट, जो सारे अनर्थों का कारण हूँ, होश-हवास से बैठा सब बातें सुन रहा हूँ। श्रीरघुनाथजी से रहित घर को देखकर और जगत् का उपहास सहकर भी ये प्राण बने हुए हैं, इसका यही कारण है कि ये प्राण श्रीरामरूपी पवित्र विषय-रस में आसक्त नहीं हैं। ये लालची भूमि और भोगों के ही भूखे हैं। मैं अपने हृदय की कठोरता कहाँ तक कहूँ? जिसने वज्र का भी तिरस्कार करके बड़ाई पायी है।

कारण से कार्य कठिन होता ही है, इसमें मेरा दोष नहीं। हड्डी से वज्र और पत्थर से लोहा भयानक और कठोर होता है।

विशेष—भरत की आत्मग्लानि का सुन्दर निरूपण है।

कैकेई भव तनु अनुरागे। पावँर प्रान अघाइ अभागे॥
जौं प्रिय बिरहँ प्रान प्रिय लागे। देखब सुनब बहुत अब आगे॥
लखन राम सिय कहुँ बनु दीन्हा। पठइ अमरपुर पति हित कीन्हा॥
लीन्ह बिधवपन अपजसु आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोकु संतापू॥
मोहि दीन्ह सुखु सुजसु सुराजू। कीन्ह कैकईं सब कर काजू॥
एहि तें मोर काह अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम्ह टीका॥
कैकइ जठर जनमि जग माहीं। यह मोहि कहँ कछु अनुचित नाहीं॥
मोरि बात सब बिधिहिं बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई॥

ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
तेहि पिआइअ बारुनी, कहहु काह उपचार ॥१८०॥

व्याख्या—कैकेयी से उत्पन्न देह में प्रेम करनेवाले ये पामर प्राण पूरी तरह अभागे हैं। जब प्रिय के वियोग में भी मुझे प्राण प्रिय लग रहे हैं, तब अभी

आगे मैं और भी बहुत कुछ देखूँ-सुनूँगा। लक्ष्मण, श्रीरामजी और सीताजी को वन दिया, स्वर्ग भेजकर पति का कल्याण किया, स्वय विधवापन और अपयश लिया, प्रजा को शोक और सन्ताप दिया और मुझे सुख, सुन्दर यश और उत्तम राज्य दिया। कैकेयी ने सभी का काम बना दिया, इससे अच्छा अब मेरे लिये और क्या होगा ? उसपर भी आप लोग मुझे राजतिलक देने को कहते हो। कैकेयी के पेट से जगत् मे जन्म लेकर यह मेरे लिये कुछ भी अनुचित नही है। मेरी सब बात तो विधाता ने ही बना दी है, फिर उसमे प्रजा और आपलोग क्यो सहायता कर रहे हैं।

जिसे कुग्रह लगे हो अथवा जो पिशाचग्रस्त हो, । फिर जो वायुरोग पीडित हो और उसी को फिर बिच्छू डक मार दे, फिर उसको यदि मदिरा पिलायी जाय, तो कहिए यह कैसा इलाज है।

अलंकार—दृष्टान्त, काकु वक्रोक्ति।

कैकइ सुअन जोग जग जोई। चतुर विरचि दीन्ह मोहि सोई॥
दसरथ तनय राम लघु भाई। दीन्हि मोहि विधि वादि बडाई॥
तुम्ह सब कहहु कढ़ावन टीका। राय रजायसु सब कहँ नीका॥
उतरु देउँ केहि विधि केहि केही। कहहु सुखेन जथा रुचि जेही॥
मोहि कुमातु समेत विहाई। कहहु कहिहि के कीन्ह भलाई॥
मो विनु को सचराचर माहीं। जेहि सिय रामु प्रानप्रिय नाहीं॥
परम हानि सब कहँ बड लाहू। अदिनु मोर नहि दूषन काहू॥
ससय सील प्रेम वस अहहू। सबइ उचित सब जो कछु कहहू॥

राम मतु सुठि सरल चित, मो पर प्रेमु विसेपि।
कहइ सुभाय सनेह वस, मोरि दीनता देखि॥१८१॥

व्याख्या—कैकेयी के लडके के लिये संसार मे जो कुछ योग्य था, चतुर ता ने मुझे वही दिया। पर 'दशरथजी का पुत्र' और राम का छोटा भाई' होने की बढ़ाई मुझे विधाता ने व्यर्थ ही दी। आप सब लोग भी टीका चढाने के लिए कह रहे है। राजा की आज्ञा सभी के लिये अच्छी है। मैं किस-किस को किस-किस प्रकार से उत्तर दूँ। जिसकी जैसी रुचि हो आप लोग सुख पूर्वक वही कहे। मेरी कुमाता कैकेयी समेत मुझे छोडकर, कहिये और कौन कहेगा

कि यह काम अच्छा किया गया ? जड़-चेतन जगत् में मेरे सिवा और कौन है जिसको श्रीसीतारामजी प्राणों के समान प्यारे न हों। जो परम हानि है, उसी में बड़ा लाभ दीख रहा है। मेरा बुरा दिन है, किसी का दोष नहीं। आप, सब जो कुछ कहते हैं, सो सब उचित है, क्योंकि आप लोग सज्जन और मेरे प्रेम के वश हैं।

श्रीरामचन्द्रजी की माता बहुत ही सरल हृदय हैं और मुझ पर उनका विशेष प्रेम है। इसलिए मेरी दीनता देखकर वे स्वाभाविक स्नेहवश ही ऐसा कह रही हैं।

गुरु विवेक सागर जगु जाना। जिन्हहिं विस्व कर बदर समाना॥
मो कहँ तिलक साज सज सोऊ। भएँ विधि विमुख विमुख सबु कोऊ॥
परिहरि रामु सिय जग माहीं। कोउ न कहिहि मोर मत नाहीं॥
सो मैं सुनब सहब सुखु मानी। अंतहुँ कीच तहाँ जहँ पानी॥
डरु न मोहि जग कहिहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू॥
एकइ उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सिय रामु दुखारी॥
जीवन लाहु लखन भल पावा। सबु तजि राम चरन मनु लावा॥
मोर जनम रघुवर बन लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी॥
आपनि दारुन दीनता, कहउँ सबहि सिर नाइ।
देखें बिनु रघुनाथ पद, जिय कै जरनि न जाइ॥१८२॥

शब्दा—बदर=हथेली पर रखे बेर।

व्याख्या—गुरुजी ज्ञान के समुद्र हैं, इस बात को सारा जगत् जानता है, जिनके लिये विश्व हथेली पर रखे हुए बेर के समान है, वे भी मेरे लिये राजतिलक का साज सजा रहे हैं। सच है, विधाता के विपरीत होने पर सब कोई विपरीत हो जाते हैं। श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी को छोड़कर जगत् में कोई यह नहीं कहेगा कि इस अनर्थ में मेरी सम्मति नहीं है। मैं इसे सुखपूर्वक सुनूँगा और सहूँगा। क्योंकि जहाँ पानी होता है, वहाँ अन्त में कीचड़ होता ही है, मुझे इसका डर नहीं है कि जगत् मुझे बुरा कहेगा और न मुझे परलोक का ही सोच है। मेरे हृदय में तो बस एक ही दुःसह दावानल धधक रहा है कि मेरे कारण श्रीसीतारामजी दुखी हुए। जीवन का उत्तम लाभ तो लक्ष्मण ने

पाया, जिन्होने सब कुछ तजकर श्रीरामजी के चरणो मे मन लगाया। मेरा जन्म तो श्रीरामजी के वनवास के लिये ही हुआ था। मैं अभागा झूठ-मूठ क्या पछताता हूँ ?

सबको सिर झुका कर मैं अपनी दारुण दीनता कहता हूँ। श्रीरघुनाथजी के चरणो के दर्शन किये बिना मेरे जी की जलन न जायगी।

अलंकार—उपमा, दृष्टान्त।

आन उपाउ मोहि नहिं सूझा। को जिय कै रघुबर बिनु बूझा॥
एकहिं आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥
जद्यपि मै अनुभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेषी॥
सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥
अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मै सिसु सेवक जद्यपि बामा॥
तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥
जेहिं सुनि विनय मोहि जनु जानी। आवहिं बहुरि रामु रजधानी॥

जद्यपि जनमु कुमातु तें, मै सठु सदा सदोष।
आपन जानि न त्यागिहहिं, मोहि रघुबीर भरोस॥१८३॥

व्याख्या—मुझे दूसरा कोई उपाय नही सूझता। श्रीराम के विना मेरे हृदय की बात कौन जान सकता है। मन मे निश्चयपूर्वक यही है कि प्रातःकाल प्रभु श्रीरामजी के पास चल दूँगा। यद्यपि मैं बुरा और अपराधी हूँ और मेरे ही कारण यह सब उपद्रव हुआ है, तथापि श्रीरामजी मुझे शरण मे सम्मुख आया हुआ देखकर सब अपराध क्षमा करके मुझ पर विशेष कृपा करेंगे। श्रीरघुनाथजी शील, सकोच, अत्यन्त सरल स्वभाव, कृपा और स्नेह के घर हैं। श्रीरामजी ने कभी शत्रु का भी अनिष्ट नही किया। मैं यद्यपि टेढा हूँ, पर हूँ तो उनका बच्चा और गुलाम ही। आप सब लोग भी इसी मे मेरा कल्याण मानकर सुन्दर वाणी से आज्ञा और आशीर्वाद दीजिये, जिसमे मेरी विनती सुनकर और मुझे अपना दास जान कर श्रीरामचन्द्रजी राजधानी को लौट आवें।

यद्यपि मेरा जन्म कुमाता से हुआ है और मैं दुष्ट तथा सदा दोषयुक्त भी हूँ, तो भी मुझे श्रीरामजी का भरोसा है कि वे मुझे अपना जानकर त्यागेंगे नहीं।

भरत वचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधा जनु पागे॥
लोग वियोग विषम विष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥
मातु सचिव गुर पुर नर नारी। सकल सनेहँ विकल भए भारी॥
भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम प्रेम मूरति तनु आही॥
तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान राम प्रिय अहहू॥
जो पावँरु अपनी जड़ताई। तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई॥
सो सठु कोटिक पुरुष समेता। बसिहि कलप सत नरक निकेता॥
अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई॥

अवसि चलिअ बन रामु जहँ, भरत मंत्रु भल कीन्ह।
सोक सिंधु बूडत सबहि, तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥१८४॥

व्याख्या—भरतजी के वचन सबको प्यारे लगे। मानो वे श्रीरामजी के प्रेमरूपी अमृत में पगे हुए थे। श्रीराम वियोगरूपी भीषण विष से सब लोग जले हुए थे। वे मानो बीज सहित मन्त्र को सुनते ही जाग उठे। माता, मन्त्री, गुरु, नगर के स्त्री-पुरुष सभी स्नेह के कारण बहुत ही व्याकुल हो गये। सब भरतजी को सराह-सराह कर कहते हैं कि आपका शरीर श्रीराम प्रेम की साक्षात् मूर्ति ही है। हे तात भरत! आप ऐसा क्यों न कहें। श्रीरामजी को आप प्राणों के समान प्यारे हैं। जो नीच अपनी मूर्खता से आपकी माता कैकेयी की कुटिलता को लेकर आप पर सन्देह करेगा वह दुष्ट करोड़ों पुरुषों सहित सौ कल्पों तक नरक के घर में निवास करेगा। साँप के पाप और अवगुण को मणि ग्रहण नहीं करती। बल्कि वह विष को हर लेती है और दुःख तथा दरिद्रता को भस्म कर देती है।

हे भरतजी! वन को अवश्य चलिये, जहाँ श्रीरामजी हैं, आपने बहुत अच्छी सलाह विचारी। शोक—समुद्र में डूबते हुए सब लोगों को आपने बड़ा सहारा दे दिया।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त ।

भा सब कें मन मोदु न थोरा । जनु घन धुनि सुनि चातक मोरा ॥
चलत प्रात लखि निरनउ नीके । भरतु प्रानप्रिय भे सबही के ॥
मुनिहि बंदि भरतहि सिरु नाई । चले सकल घर बिदा कराई ॥
धन्य भरत जीवनु जग माहीं । सीलु सनेहु सराहत जाहीं ॥
कहहिं परसपर भा बड़ काजू । सकल चलै कर साजहिं साजू ॥
जेहि राखहिं रहु घर रखवारी । सो जानइ जनु गरदनि मारी ॥
कोउ कह रहन कहिअ नहिं काहू । को न चहइ जग जीवन लाहू ॥

जरउ सो संपति सदन सुख, सुहृद मातु पितु भाइ ।
सनमुख होत जो राम पद, करै न सहस सहाइ ॥१८५॥

व्याख्या—भरत के वचनों को सुनकर सब के मन में अर्थात् बहुत ही आनन्द हुआ, मानो मेघो की गर्जना सुनकर चातक और मोर आनन्दित हो रहे हो । दूसरे दिन प्रातःकाल चलने का सुन्दर निर्णय देखकर भरतजी सभी को प्राणप्रिय हो गये । मुनि वशिष्ठजी की वन्दना करके और भरतजी को सिर नवाकर, सब लोग विदा लेकर अपने-अपने घर को चले । जगत् मे भरतजी का जीवन धन्य है, इस प्रकार कहते हुए वे उनके शील और स्नेह की सराहना करते जाते है । आपस मे कहते है, बडा काम हुआ । सभी चलने की तैयारी करने लगे । जिसको भी घर को रखवाली के लिये रखो, वही समझता है, मानो मेरी गर्दन मारी गयी । कोई-कोई कहते हैं—रहने के लिये किसी को भी मत कहो, जगत् मे जीवन का लाभ कौन नही चाहता ? वह सम्पत्ति, घर, सुख, मित्र, माता, पिता, भाई जल जाय, जो श्रीरामजी के चरणो के सम्मुख होने मे हँसते हुए प्रसन्नता पूर्वक सहायता न करे ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त ।

घर घर साजहिं बाहन नाना । हरषु हृदयँ परभात पयाना ॥
भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू । नगरु बाजि गज भवन भँडारू ॥
संपति सब रघुपति कै आही । जौं बिनु जतन चलौं तजि ताही ॥
तौ परिनाम न मोरि भलाई । पाप सिरोमनि साइँ दोहाई ॥
करइ स्वामि हित सेवकु सोई । दूषन कोटि देइ किन कोई ॥

अस विचारि सुचि सेवक बोले । जे सपनेहुँ निज धरम न डोले ॥
कहि सबु मरमु धरमु भल भाखा । जो जेहि लायक सो तेहिं राखा ॥
करि सबु जतनु राखि रखवारे । राम मातु पहिं भरतु सिधारे ॥

आरत जननी जानि सब, भरत सनेह सुजान ।
कहेउ बनावन पालकीं, सजन सुखासन जान ॥१८६॥

व्याख्या—घर घर लोग अनेकों प्रकार की सवारियाँ सजा रहे हैं। हृदय में बड़ा हर्ष है कि सवेरे चलना है। भरतजी ने घर जाकर विचार किया कि नगर घोड़े, हाथी, महल-खजाना आदि सारी सम्पत्ति श्रीरघुनाथजी की है। यदि उनकी रक्षा की व्यवस्था किये बिना उसे ऐसे ही छोड़कर चल दूँ, तो परिणाम में मेरी भलाई नहीं है। क्योंकि स्वामी का द्रोह सब पापों में शिरोमणि है। सेवक वही है जो स्वामी का हित करे चाहे कोई करोड़ों दोष क्यों न दे। भरतजी ने ऐसा विचारकर ऐसे विश्वासपात्र सेवकों को बुलाया, जो कभी स्वप्न में भी अपने धर्म से नहीं डिगे थे। भरतजी ने उनको सब भेद समझाकर फिर उत्तम धर्म बतलाया, और जो जिस योग्य था, उसे उसी कामपर नियुक्त कर दिया। सब व्यवस्था करके, रक्षकों को रखकर भरतजी राममाता कौसल्याजी के पास गये।

स्नेह सुजान भरतजी ने सब माताओं को दुखी जानकर उनके लिये पालकियाँ तैयार करके तथा सुखपाल सजाने के लिये कहा।

चक्क चक्कि जिमि पुर नर नारी । चहत प्रात उर आरत भारी ॥
जागत सब निसि भयउ बिहाना । भरत बोलाए सचिव सुजाना ॥
कहेउ लेहु सबु तिलक समाजू । बनहिं देब मुनि रामहि राजू ॥
बेगि चलहु सुनि सचिव जोहारे । तुरत तुरग रथ नाग सँवारे ॥
अरुंधती अरु अगिनि समाऊ । रथ चढ़ि चले प्रथम मुनिराऊ ॥
बिप्र बृंद चढ़ि बाहन नाना । चले सकल तप तेज निधाना ॥
नगर लोग सब सजि सजि जाना । चित्रकूट कहँ कीन्ह पयाना ॥
सिबिका सुभग न जाहिं बखानी । चढ़ि चढ़ि चलत भईं सब रानी ॥

सौंपि नगर सुचि सेवकनि, सादर सकल चलाइ ।
सुमिरि राम सिय चरन तब, चले भरत दोउ भाइ ॥१८७॥

व्याख्या— नगर के नर-नारी चकवे-चकवी की भाँति हृदय में अत्यन्त आर्त होकर प्रातःकाल का होना चाहते हैं। सारी रात जागते सवेरा हो गया, तब भरतजी ने चतुर मन्त्रियों को बुलवाया और कहा—तिलक का सामान ले चलो। वन में ही मुनि वशिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजी को राज्य देंगे, जल्दी चलो। यह सुनकर मन्त्रियों ने वन्दना की और तुरत घोड़े, रथ और हाथी सजवा दिये।

सबसे पहले मुनिराज वशिष्ठजी अरुन्धती और अग्निहोत्र की सब सामग्री सहित रथपर सवार होकर चले। फिर ब्राह्मणों के समूह, जो सब के सब तपस्या और तेज के भण्डार थे, अनेकों सवारियों पर चढ़कर चले। नगर के सब लोग रथों को सजाकर चित्रकूट को चल पड़े, जिनका वर्णन नहीं हो सकता, ऐसी सुन्दर पालकियों पर चढ़-चढ़कर सब रानियाँ चलीं।

विश्वासपात्र सेवकों को नगर सौंपकर और सबको आदरपूर्वक रवाना करके, तब श्रीसीता और रामजी के चरणों को स्मरण करके भरत-शत्रुघ्न दोनों भाई चले।

अलंकार—उपमा।

राम दरस बस सब नर नारी। जनु करि करिनि चले तकि बारी॥
बन सिय रामु समुझि मन माहीं। सानुज भरत पयादेहिं जाहीं॥
देखि सनेहु लोग अनुरागे। उतरि चले हय गय रथ त्यागे॥
जाइ समीप राखि निज डोली। राम मातु मृदु बानी बोली॥
तात चढ़हु रथ बलि महतारी। होइहि प्रिय परिवारु दुखारी॥
तुम्हरें चलत चलिहि सबु लोगू। सकल सोक कृस नहिं मग जोगू॥
सिर धरि बचन चरन सिरु नाई। रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई॥
तमसा प्रथम दिवस करि बासू। दूसर गोमति तीर निवासू॥

पय अहार फल असन एक, निसि भोजन एक लोग।
करत राम हित नेम व्रत, परिहरि भूषन भोग॥१८८॥

व्याख्या—श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन की अनन्य लालसा से सब नर-नारी ऐसे चले, मानो प्यासे हाथी-हथिनी जलको बड़ी तेजी से बावले-से हुए जा रहे हों। श्रीसीता और रामजी सब सुखों को छोड़कर वन में हैं, मन में ऐसा विचार करके छोटे

भाई शत्रुघ्नजी सहित भरतजी पैदल ही चले जा रहे हैं। उनका स्नेह देखकर लोग प्रेम में मग्न हो गये और सब घोड़े, हाथी, रथों को छोड़कर उनसे उतर कर पैदल चलने लगे। तब श्रीरामचन्द्रजी की माता कौशल्याजी भरतजी के पास जाकर और अपनी पालकी उनके समीप खड़ी करके कोमल वाणी से बोलीं— हे बेटा! माता बलैया लेती है, तुम रथपर चढ़ जाओ, नहीं तो सारा प्यारा परिवार दुःखी हो जायगा। तुम्हारे पैदल चलने से सभी पैदल चलेंगे। शोक के मारे सब दुर्बल हो रहे हैं, पैदल चलने के योग्य नहीं हैं। माता की आज्ञा को सिर चढ़ाकर और उनके चरणों में सिर नवाकर दोनों भाई रथपर चढ़कर चलने लगे। पहले दिन तमसापर वास करके दूसरा मुकाम गोमती के तीर पर किया।

कोई दूध ही पीते, कोई फलाहार करते और कुछ लोग रात को एक ही बार भोजन करते हैं। भूषण और भोग विलास को छोड़कर सब लोग श्रीराम-चन्द्रजी के लिये नियम और व्रत करते हैं।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

सई तीर बसि चले बिहाने। सृंगबेरपुर सब निअराने॥
समाचार सब सुने निषादा। हृदयँ बिचार करइ सबिषादा॥
कारन कवन भरतु बन जाहीं। है कछु कपट भाउ मन माहीं॥
जौं पै जियँ न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई॥
जानहिं सानुज रामहि मारी। करउँ अकंटक राजु सुखारी॥
भरत न राजनीति उर आनी। तब कलंकु अब जीवन हानी॥
सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा। रामहि समर न जीतनिहारा॥
का आचरजु भरतु अस करहीं। नहिं बिष बेलि अमिअ फल फरहीं॥

अस बिचारि गुहँ ग्याति सन, कहेउ सजग सब होहु।
हथवाँसहु बोरहु तरनि, कीजिअ घाटारोहु॥१८९॥

व्याख्या—रातभर सई नदी के तीर पर निवास करके सवेरे वहाँ से चल दिये और सब शृंगवेरपुर के समीप जा पहुँचे। निषादराज ने सब समाचार सुने, तो वह दुःखी होकर हृदय में विचार करने लगा कि क्या कारण है जो भरत वन को जारहे हैं, मनमें कुछ कपट-भाव अवश्य है। यदि मनमें कुटिलता न

होती, तो साथ मे सेना क्यो ले चले है। समझते है कि छोटे भाई लक्ष्मण सहित श्रीराम को मारकर सुख से निष्कण्टक राज्य करूँगा। भरत ने हृदय मे राजनीति को स्थान नही दिया। तब पहले तो कलक ही लगा था अब तो जीवन से ही हाथ धोना पडेगा। सम्पूर्ण देवता और दैत्य वीर जुट जांय तो भी श्रीराम को जीतने वाला कोई नही है। भरत जो ऐसा कर रहे हैं, इसमे आश्चर्य ही क्या है ? विप की बेलें अमृतफल कभी नही फलती।

ऐसा विचार निषादराज ने अपनी जाति वालो से कहा कि सब लोग सावधान हो जाओ। नावो को हाथ मे कर लो और फिर उन्हे डुबो दो, तथा सब घाटो को रोक दो।

अलंकार - दृष्टान्त।

होहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरै के ठाटा॥
सनमुख लोह भरत सन लेऊँ। जिअत न सुरसरि उतरन देऊँ॥
समर मरनु पुनि सुरसरि तीरा। राम काजु छनभगु सरीरा॥
भरत भाइ नृपु मैं जन नीचू। बडे भाग असि पाइअ मीचू॥
स्वामि काज करिहउँ रन रारी। जस धवलिहउँ भुवन दस चारी॥
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें॥
साधु समाज न जाकर लेखा। राम भगत महुँ जासु न रेखा॥
जायँ जिअत जग सो महि भारू। जननी जौबन बिटप कुठारू॥
बिगत विषाद निषादपति, सबहि बढाइ उछाहु।
सुमिरि राम मांगेउ तुरत, तरकस धनुष सनाहु॥१९०॥

व्याख्या—सुसज्जित होकर घाटो को रोक लो और सब लोग मरने के साज सजालो। मैं भरत से मैदान मे लोहा लूँगा, मुठभेड करूगा और जीते-जी उन्हे गङ्गापार न उतरने दूगा। युद्ध मे मरण, फिर गङ्गाजीका तट, श्रीरामजी का काज और क्षणभगुर शरीर, भरत श्रीरामजी के भाई और राजा उनके हाथ से मरना और मैं नीच सेवक। बडे भाग्य से ऐसी मृत्यु मिलती है। मैं स्वामी के काम के लिये रण मे लडाई करूँगा और चौदहो लोको को अपने यश से उज्जवल कर दूँगा। श्रीरघुनाथजी के निमित्त प्राण त्याग दूगा। मेरे तो दोनो

अतएव हे वीरो ! तुम लोग इकट्ठे होकर सब घाटो को रोक लो, मैं जाकर भरतजी से मिलकर उनका भेद लेता हूँ। उनका भाव मित्र का है या शत्रु का या उदासीनता का, यह जानकर तब आकर उसी के अनुसार प्रबन्ध करूँगा।

लखब सनेहु सुभायँ सुहाएँ। बैरु प्रीति नहिं दुरइँ दुराएँ ॥
अस कहि भेंट संजोवन लागे। कंद मूल फल खग मृग मागे ॥
मीन पीन पाठीन पुराने। भरि भरि भार कहारन्ह आने ॥
मिलन साजु सजि मिलन सिधाए। मंगल मूल सगुन सुभ पाए ॥
देखि दूर तें कहि निज नामू। कीन्ह मुनीसहि दंड प्रनामू ॥
जानि रामप्रिय दीन्हि असीसा। भरतहि कहेउ बुझाइ मुनीसा ॥
राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा ॥
गाउँ जाति गुहँ नाउँ सुनाई। कीन्ह जोहारु माथ महि लाई ॥

करत दंडवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाइ।
मनहुँ लखन सन भेंट भइ, प्रेमु न हृदयँ समाइ ॥१९३॥

व्याख्या—उनके सुन्दर स्वभाव से मैं उनके स्नेह को पहचान लूँगा। वैर और प्रेम छिपाने से नहीं छिपते। ऐसा कहकर उसने भेंट का सामान माँगा। उसने कंद, मूल, फल, पक्षी और हिरन मँगवाये। कहार लोग पुरानी और मोटी पहिना नामक मछलियों के भार भर-भर कर लाये। भेंट का सामान सजाकर मिलने के लिये चले, तो मङ्गलदायक शुभ शकुन मिले। निषादराज ने मुनिराज वशिष्ठजी को देखकर अपना नाम बतला कर दूर ही से दण्डवत् प्रणाम किया। मुनीश्वर वशिष्ठजी ने उसको राम का प्यारा जानकर आशीर्वाद दिया और भरतजी को समझा कर कहा कि यह श्रीरामजी का मित्र है इतना सुनते ही भरतजी ने रथ त्याग दिया। वे रथ से उतर कर प्रेम से उमँगते हुए चले। निषादराज गुह ने अपना गाँव, जाति और नाम सुनाकर पृथ्वी पर माथा टेककर जोहार की।

दण्डवत् करते देखकर भरतजी ने उठाकर उसको छाती से लगा लिया। हृदय में प्रेम समाता नहीं है, मानो स्वयं लक्ष्मणजी से भेंट हो गयी हो।

भेंटत भरतु ताहि अति प्रीती । लोग सिहाहिं प्रेम कै रीती ॥
धन्य धन्य धुनि मंगल मूला । सुर सराहि तेहि बरिसहिं फूला ॥
लोक बेद सब भाँतिहिं नीचा । जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा ॥
तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता । मिलत पुलक परिपूरित गाता ॥
राम राम कहि जे जमुहाहीं । तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं ॥
यह तौ राम लाइ उर लीन्हा । कुल समेत जगु पावन कीन्हा ॥
करमनास जलु सुरसरि परई । तेहि को कहहु सीस नहिं धरई ॥
उलटा नामु जपत जगु जाना । बालमीकि भए ब्रह्म समाना ॥

स्वपच सबर खस जमन जड़, पावँर कोल किरात ।
रामु कहत पावन परम, होत भुवन बिख्यात ॥१९४॥

व्याख्या—भरतजी गुह को अत्यन्त प्रेम से गले लगा रहे हैं। प्रेम की रीति की सब लोग ईर्ष्या पूर्वक प्रशंसा कर रहे है। मङ्गल की मूल 'धन्य-धन्य' की ध्वनि करके देवता उसकी सराहना करते हुए फूल बरसा रहे हैं। वे कहते हैं जो लोक और वेद दोनो मे सब प्रकार का नीचा माना जाता है, जिसकी छाया के छू जाने से भी स्नान करना होता है, उसी निषाद से अंकवार भर कर हृदय से चिपटा कर श्रीरामचन्द्रजी के छोटे भाई भरतजी आनन्द और प्रेमवश शरीर मे पुलकावली से परिपूर्ण हो कर मिल रहे हैं। जो लोग राम-राम कह कर जँभाई लेते हैं अर्थात् आलस्य से भी जिनके मुँह से राम-नाम का उच्चारण हो जाता है, उनके सामने नही आते। फिर इस गुह को तो स्वयं श्रीरामचन्द्रजी ने हृदय से लगा लिया और कुल समेत इसे जगत् को पवित्र करने वाला बना दिया। कर्मनाशा नदी का जल गङ्गाजी मे मिल जाता है, तब कहिये, उसे कौन सिर पर धारण नही करता ? जगत् जानता है कि उलटा नाम (मरा-मरा) जपते-जपते वाल्मीकिजी ब्रह्म के समान हो गये।

मूर्ख और पामर चाण्डाल, शबर, खस, यवन, कोल और किरात भी राम-नाम कहते ही परम पवित्र और त्रिभुवन मे विख्यात हो जाते है।

अलंकार—दृष्टान्त ।

नहिं अचिरिजु जुग जुग चलि आई । केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई ॥
राम नाम महिमा सुर कहहीं । सुनि सुनि अवध लोग सुखु लहहीं ॥

राम सखहि मिलि भरत सप्रेमा। पूँछी कुसल सुमंगल खेमा॥
देखि भरत कर सीलु सनेहू। भा निषाद तेहि समय बिदेहू॥२
सकुच सनेहु मोदु मन बाढ़ा। भरतहि चितवत एकटक ठाढ़ा॥
धरि धीरजु पद बंदि बहोरी। बिनय सप्रेम करत कर जोरी॥
कुसल मूल पद पंकज पेखी। मैं तिहुँ काल कुसल निज लेखी॥
अब प्रभु परम अनुग्रह तोरें। सहित कोटि कुल मंगल मोरें॥८

समुझि मोरि करतूति कुलु प्रभु महिमा जियँ जोई।
जो न भजइ रघुबीर पद जग बिधि बंचित सोइ॥१९५॥

व्याख्या—इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, युग-युगान्तर से यही रीति चली आ रही है। श्रीरघुनाथजी ने किस को बड़ाई नहीं दी? इस प्रकार देवता रामनाम की महिमा कह रहे हैं और उसे सुन-सुनकर अयोध्या के लोग सुख पा रहे हैं। रामसखा निषादराज से प्रेम के साथ मिलकर भरतजी ने कुशल मङ्गल और क्षेम पूछी। भरतजी का शील और प्रेम देखकर निषाद उस समय प्रेम-मुग्ध होकर देह की सुध भूल गया। उसके मन में संकोच, प्रेम और आनन्द इतना बढ़ गया कि वह खड़ा-खड़ा टकटकी लगाये भरतजी को देखता रहा। फिर धीरज धरकर भरतजी के चरणों की वन्दना करके प्रेम के साथ हाथ जोड़कर विनती करने लगा। हे प्रभो! कुशल के मूल आपके चरण कमलों के दर्शन कर मैंने तीनों कालों में अपना कुशल जान लिया। अब आपके परम अनुग्रह से करोड़ों पीढ़ियों सहित मेरा मङ्गल हो गया।

मेरी करतूत और कुल को समझ कर प्रभु श्रीरामचन्द्रजी की महिमा को मन में विचार कर अर्थात् कहाँ तो मैं नीच जाति और नीच कर्म करने वाला जीव और कहाँ अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के स्वामी भगवान् श्रीरामचन्द्रजी! पर उन्होंने मुझ जैसे नीच को भी अपनी अहैतुकी कृपा वश अपना लिया—यह समझकर जो रघुवीर श्रीरामजी के चरणों का भजन नहीं करता, वह जगत् में विधाता के द्वारा ठगा गया है।

कपटी कायर कुमति कुजाती। लोक बेद बाहेर सब भाँती॥
राम कीन्ह आपन जबही तें। भयउँ भुवन भूषन तबही तें॥
देखि प्रीति सुनि बिनय सुहाई। मिलेउ बहोरि भरत लघु भाई॥

कहि निषाद निज नाम सुबानी। सादर सकल जोहारीं रानी॥
जानि लखन सम देहिं असीसा। जिअहु सुखी सय लाख बरीसा॥
निरखि निषादु नगर नर नारी। भए सुखी जनु लखनु निहारी॥
कहहिं लहेउ एहिं जीवन लाहू। भेंटेउ रामभद्र भरि बाहू॥
सुनि निषादु निज भाग बड़ाई। प्रमुदित मन लइ चलेउ लेवाई॥

सनकारे सेवक सकल, चले स्वामि रुख पाइ।
घर तरु तर सर बाग वन, वास बनाएन्हि जाइ॥१९६॥

व्याख्या—मैं कपटी, कायर, कुबुद्धि और कुजाति हूँ और लोक वेद दोनों से सब प्रकार से बाहर हूँ। पर जब से श्रीरामचन्द्रजी ने मुझे अपनाया है, तभी से मैं विश्व का भूषण हो गया निषादराज की प्रीति को देखकर और सुन्दर विनय सुनकर फिर भरतजी के छोटे भाई शत्रुघ्नजी उससे मिले। फिर निषाद ने अपना नाम ले-लेकर सुन्दर वाणी से सब रानियों को आदरपूर्वक जोहार की। रानियाँ उसे लक्ष्मण के समान समझकर आशीर्वाद देती हैं कि तुम सौ लाख वर्षों तक सुखपूर्वक जिओ। नगर के स्त्री-पुरुष निषाद को देखकर ऐसे सुखी हुए मानो, लक्ष्मणजी को देख रहे हों। सब कहते हैं कि जीवन का लाभ तो इसने पाया है, जिसे कल्याणस्वरूप श्रीरामचन्द्रजी ने भुजाओं में बाँधकर गले लगाया है। निषाद अपने भाग्य की बढ़ाई सुनकर मन में परम आनन्दित हो सबको अपने साथ लिवा ले चला।

उसने अपने सब सेवकों को इशारे से कह दिया। वे स्वामी का रुख पाकर चले और उन्होंने घरों में, वृक्षों के नीचे, तालाबों पर तथा बगीचों और जंगलों में ठहरने के लिये स्थान बना दिये।

सृंगबेरपुर भरत दीख जब। भे सनेहँ सब अंग सिथिल तब॥
सोहत दिएँ निषादहि लागू। जनु तनु धरें बिनय अनुरागू॥
एहि बिधि भरत सेनु सबु संगा। दीखि जाइ जग पावनि गंगा॥
रामघाट कहँ कीन्ह प्रनामू। भा मनु मगनु मिले जनु रामू॥
करहिं प्रनाम नगर नर-नारी। मुदित ब्रह्ममय बारि निहारी॥
करि मज्जनु मागहिं करजोरी। रामचंद्र पद प्रीति न थोरी॥

भरत कहेउ सुरसरि तव रेनू। सकल सुखद सेवक सुरधेनू ॥
जोरि पानि वर मागउँ एहू। सीय राम पद सहज सनेहू ॥

एहि विधि मज्जनु भरत करि, गुर अनुसासन पाइ।
मातु नहानीं जानि सव, डेरा चले लवाइ ॥१९७॥

व्याख्या—भरतजी ने जब शृङ्गबेर पुर को देखा, तब उनके सब अङ्ग प्रेम के कारण शिथिल हो गये। वे निषाद के कंधे पर हाथ रखकर चलते हुए ऐसे शोभा दे रहे हैं मानो विनय और प्रेम शरीर धारण किये हुए हों। इस प्रकार भरतजी ने सब सेना को साथ में लिये हुए जगत् को पवित्र करने वाली गङ्गाजी के दर्शन किये। श्रीराम घाट को [जहाँ श्रीरामजी ने स्नान-सन्ध्या की थी] प्रणाम किया। उनका मन इतना आनन्दमग्न हो गया, मानो उन्हें स्वयं श्रीरामजी मिल गये हों। नगर के नर-नारी प्रणाम कर रहे हैं और गगाजी के ब्रह्म रूप जल को देख-देखकर आनन्दित हो रहे हैं। गङ्गाजी में स्नान कर हाथ जोडकर सब यही वर माँगते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी चरणों में हमारा प्रेम कम न हो (अर्थात् बहुत अधिक हो) भारतजी ने कहा—हे गगे ! आपकी रज सबको सुख देने वाली तथा सेवक के लिये तो कामधेनु ही है। मैं हाथ जोड़कर यही वरदान माँगता हूँ कि श्रीसीतारामजी के चरणों में मेरा स्वाभाविक प्रेम हो।

इस प्रकार भरतजी स्नान कर और गुरुजी की आज्ञा पाकर तथा यह जानकर कि सब माताएँ स्नान कर चुकी हैं, डेरा उठा ले चले।

जहँ तहँ लोगन्ह डेरा कीन्हा। भरत सोधु सबही कर लीन्हा ॥
सुर सेवा करि आयसु पाई। राम मातु पहिं गे दोउ भाई ॥
चरन चाँपि कहि कहि मृदु बानी। जननीं सकल भरत सनमानी ॥
भाइहि सौंपि मातु सेवकाई। आपु निषादहि लीन्ह बोलाई ॥
चले सखा कर सों कर जोरें। सिथिल सरीरु सनेह न थोरें ॥
पूँछत सखहि सो ठाउँ देखाऊ। नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ ॥
जहँ सिय रामु लखनु निसि सोए। कहत भरे जल लोचन कोए ॥
भरत बचन सुनि भयउ बिषादू। तुरत तहाँ लइ गयउ निषादू ॥

जहँ सिंसुपा पुनीत तर, रघुबर किय बिश्रामु।
अति सनेहँ सादर भरत, कीन्हेउ दंड प्रनामु ॥१९८॥

व्याख्या—लोगो ने जहाँ-तहाँ डेरा डाल दिया। भरतजी ने सभी का पता लगाया कि सब लोग आकर आराम से टिक गये है या नही। फिर देवपूजन करके आज्ञा पाकर दोनो भाई श्रीरामचन्द्रजी की माता कौसल्याजी के पास गये। चरण दबाकर और कोमल वचन कह-कहकर भरतजी ने सब माताओ का सत्कार किया। फिर भाई शत्रुघ्न को माताओ की सेवा सौंप कर आपने निषाद को बुला लिया सखा निषादराज के हाथ-से-हाथ मिलाये हुए भरतजी चले। प्रेम कुछ थोडा नही है अर्थात् बहुत अधिक प्रेम है, जिससे उनका शरीर शिथिल हो रहा है। भरतजी सखा से पूछते है कि मुझे वह स्थान दिखला कर मेरे नेत्र और मन की जलन कुछ ठडी करो, जहाँ सीताजी, श्रीरामजी और लक्ष्मण रात को सोये थे। ऐसा कहते ही उनके नेत्रो के कोयो मे प्रेमाश्रुओ का जल भर आया। भरतजी के वचन सुन कर निषाद को बडा विषाद हुआ। वह तुरन्त ही उन्हे वहाँ ले गया। जहाँ पवित्र अशोक के वृक्ष के नीचे श्रीरामजी ने विश्राम किया था। भरतजी ने वहाँ अत्यन्त प्रेम से आदर पूर्वक दण्डवत्-प्रणाम किया।

कुस साँथरी निहारि सुहाई। कीन्ह प्रनामु प्रदच्छिन जाई॥
चरन रेख रज आँखिन्ह लाई। बनइ न कहत प्रीति अधिकाई॥
कनक बिंदु दुइ चारिक देखे। राखे सीस सीय सम लेखे॥
सजल बिलोचन हृदयँ गलानी। कहत सखा सन बचन सुबानी॥
श्रीहत सीय बिरहँ दुतिहीना। जथा अवध नर नारि बिलीना॥
पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोगु जोगु जग जेही॥
ससुर भानुकुल भानु भुआलू। जेहि सिहात अमरावति पालू॥
प्राननाथु रघुनाथ गोसाईं। जो बड होत सो राम बडाईं॥

पति देवता सुतीय मनि, सीय साँथरी देखि।
बिहरत हृदउ न हहरि हर, पबि तें कठिन बिसेषि ॥१९९॥

व्याख्या—कुशो की सुन्दर साथरी देखकर उनकी प्रदक्षिणा करके प्रणाम किया। श्रीरामचन्द्रजी के चरणचिन्हो की रज आँखो मे लगायी उस समय के

प्रेम की अधिकता कहते नहीं बनती। भरतजी ने दो-चार स्वर्णबिन्दु-सोने के कण या तारे आदि जो सीताजी के गहने-कपड़ों से गिर पड़े थे देखे, तो उनको सीताजी के समान समझ कर सिर पर रख लिया। उनके नेत्र प्रेमाश्रु के जल से भरे हैं और हृदय में ग्लानि भरी है। वे सखा से सुन्दर वाणी में ये वचन बोले—ये स्वर्ण कण या तारे भी सीताजी के विरह से ऐसे शोभाहीन एवं कान्तिहीन हो रहे हैं जैसे राम-वियोग से अयोध्या के नर नारी दुखी हो रहे हैं। जिन सीताजी के पिता राजा जनक हैं, इस जगत् में भोग और योग दोनों ही जिनकी मुट्ठी में हैं, उन जानकी जी का मैं किसकी उपमा दूँ। सूर्यकुल के सूर्य राजा दशरथ जी जिनके ससुर हैं, जिनको अमरावती के स्वामी इन्द्र भी सिहाते थे अर्थात ईर्ष्या पूर्वक उनके जैसा ऐश्वर्य और प्रताप पाना चाहते थे। और प्रभु श्रीरघुनाथजी जिनके प्राणनाथ हैं, जो इतने बड़े हैं कि जो कोई भी बड़ा होता है वह श्रीरामचन्द्रजी की दी हुई बड़ाई से ही होता है।

उन श्रेष्ठ पतिव्रता स्त्रियों में शिरोमणि सीताजी की कुश शय्या देखकर मेरा हृदय हहराकर दहलाकर फट नहीं जाता। हे शङ्कर! वह वज्र से भी अधिक कठोर है!

अलङ्कार—उत्प्रेक्षा, अनुप्रास।

लालन जोगु लखन लघु लोने। भे न भाइ अस अहहिं न होने॥
पुरजन प्रिय पितु मातु दुलारे। सिय रघुबीरहि प्रानपिआरे॥
मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। तात बाउ तन लाग न काऊ॥
ते बन सहहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस एहिं छाती॥
राम जनमि जगु कीन्ह उजागर। रूप सील सुख सब गुन सागर॥
पुरजन परिजन गुर पितु माता। राम सुभाउ सबहि सुखदाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं॥
सारद कोटि कोटि सत सेषा। करि न सकहिं प्रभु गुन गन लेखा॥

सुख स्वरूप रघुबंसमनि, मंगल मोद निधान।
ते सोवत कुस डासि महि, बिधि गति अति बलवान॥२००॥

व्याख्या—मेरे छोटे भाई लक्ष्मण बहुत ही सुन्दर और प्यार करने योग्य हैं। ऐसे भाई न तो किसी के हुए, न हैं, न होने के ही। जो अवध के लोगों के प्यारे, माता-पिता के दुलारे और श्रीसीता रामजी के प्राण प्यारे हैं, जिनकी

कोमल मूर्ति और सुकुमार स्वभाव है, जिनको ...
नही लगी, वे वन मे सब प्रकार की विपत्तियाँ ...
छाती ने करोडो वज्रो का भी निरादर कर दिया ...
गयी होती श्रीरामचन्द्रजी ने जन्म लेकर जगत् को ...
वे रूप शील, सुख और समस्त गुणो के समुद्र है। ...
माता-पिता सभी को श्रीरामजी का स्वभाव सुख दे... है। शत्रु भी
श्रीरामजी की बडाई करते है। बोल-चाल, मिलने के ढग और विनय से वे
मनको हर लेते है। करोडो सरस्वती और अरबो शेषजी भी श्रीरामचन्द्रजी
के गुणसमूहो की गिनती नही कर सकते।

जो सुख-स्वरूप रघुवश शिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी मङ्गल और आनन्द के भण्डार है, वे पृथ्वी पर कुशा बिछाकर सोते है। विधाता की गति बडी ही बलवान् है।

राम सुना दुखु कान न काऊ। जीवनतरु जिमि जोगवइ राऊ॥
पलक नयन फनि मनि जेहि भाँती। जोगवहिं जननि सकल दिन राती॥
ते अब फिरत बिपिन पदचारी। कद मूल फल फूल अहारी॥
धिग कैकेई अमगल मूला। भइसि प्रान प्रियतम प्रतिकूला॥
मै धिग-धिग अघ उदधि अभागी। सबु उतपातु भयउ जेहि लागी॥
कुल कलकु करि सृजेउ बिधाताँ। साइँ दोह मोह कीन्ह कुमाताँ॥
सुनि सप्रेम समुझाव निषादू। नाथ करिअ कत बादि बिषादू॥
राम प्रिय तुम्ह प्रिय रामहि। यह निरदोसु दोसु बिधि बामहि॥

बिधि बाम की करनी कठिन जेहिं मातु कीन्ही बावरी।
तेहि राति पुनि पुनि करहिं प्रभु सादर सरहना रावरी॥
तुलसी न तुम्ह सो राम प्रीतमु कहतु हौं सौंहें किएँ।
परिनाम मगल जानि अपने आनिए धीरजु हिएँ॥
अतरजामी रामु सकुच, सप्रेम कृपायतन।
चलिअ करिअ बिश्रामु यह बिचारि दृढ आन, मन॥२०१॥

व्याख्या—श्रीरामचन्द्रजी ने कानो से भी दु.ख का नाम नही सुना। महाराज स्वयं जीवन-वृक्ष की तरह उनकी सार-सँभाल किया करते थे। सब माताएँ भी रात-दिन उनकी सार-सँभाल करती थी जैसे पलक नेत्रो की और

प्रेम की अधिकता प्रकट करते हैं। वही श्रीरामचन्द्रजी अब जंगलों में पैदल फिरते करते या कन्द-मूल तथा फल फूलों का भोजन करते हैं। अमङ्गल की मूल कैकेयी को धिक्कार है, जो अपने प्राण-प्रियतम पति से भी प्रतिकूल हो गयी। मुझ पापी के समुद्र और अभागे को धिक्कार है, जिसके कारण ये सब उत्पात हुए। विधाता ने मुझे कुल का कलङ्क बनाकर पैदा किया और कुमाता ने मुझे स्वामि-द्रोही बना दिया। यह सुनकर निषादराज प्रेमपूर्वक समझाने लगा—हे नाथ! आप व्यर्थ विषाद किसलिये करते हैं? श्रीरामचन्द्रजी आपको प्यारे हैं और आप श्रीरामचन्द्रजी को प्यारे हैं। यही निचोड़ है, दोष तो प्रतिकूल विधाता का है।

केवट भरत से कहता है कि प्रतिकूल विधाता की करनी बड़ी कठोर है, जिसने माता कैकेयी को बावली बनाकर आपकी मति फेर दी। उस रात को प्रभु श्रीरामचन्द्रजी बार-बार आदर पूर्वक आपकी बड़ी सराहना करते थे। निषाद कहता है कि श्रीरामचन्द्रजी को आपके समान अतिशय प्रिय और कोई नहीं है, मैं सौगन्ध खाकर कहता हूँ। परिणाम में मङ्गल होगा, यह जानकर आप अपने हृदय में धारण कीजिये।

श्रीरामचन्द्रजी अन्तर्यामी तथा संकोच, प्रेम और कृपा के धाम हैं, यह विचारकर और मन में दृढ़ता लाकर चलिये और विश्राम कीजिये।

अलंकार—दृष्टान्त, वीप्सा।

सखा बचन सुनि उर धरि धीरा। बास चले सुमिरत रघुबीरा॥
यह सुधि पाइ नगर नर नारी। चले बिलोकन आरत भारी॥
परदखिना करि करहिं प्रनामा। देहिं कैकइहि खोरि निकामा॥
भरि भरि बारि बिलोचन लेहीं। बाम बिधातहि दूषन देहीं॥
एक सराहहिं भरत सनेहू। कोउ कह नृपति निबाहेउ नेहू॥
निंदहिं आपु सराहि निषादहि। को कहि सकइ बिमोह बिषादहि॥
एहि बिधि राति लोगु सबु जागा। भा भिनुसार गुदारा लागा॥
गुरहि सुनाव चढ़ाइ सुहाई। नईं नाव सब मातु चढ़ाईं॥
दंड चारि महँ भा सबु पारा। उतरि भरत तब सबहि सँभारा॥

प्रातक्रिया करि मातु पद, बंदि गुरहि सिरु नाइ।
आगें किए निषाद गन, दीन्हेउ कटकु चलाइ॥२०२॥

व्याख्या—सखा के वचन सुनकर, हृदय में धीरज धरकर श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण करते हुए भरतजी डेरे को चले। नगर के सारे स्त्री-पुरुष यह समाचार पाकर बड़े आतुर होकर उस स्थान को देखने चले। वे उस स्थान की परिक्रमा करके प्रणाम करते हैं और कैकेयी को बहुत दोष देते हैं। नेत्रों में जल भर-भर लेते हैं और प्रतिकूल विधाता को दूषण देते हैं। कोई भरतजी के स्नेहकी सराहना करते हैं और कोई कहते हैं कि राजा ने अपना प्रेम खूब निबाहा। सब अपनी निन्दा करके निषाद की प्रशंसा करते हैं। उस समय के विमोह और विषाद को कौन कह सकता है। इस प्रकार रातभर सब लोग जागते रहे। सवेरा होते ही खेवा लगा। सुन्दर नाव पर गुरुजी को चढाकर फिर नयी नाव पर माताओं को चढाया। चार घड़ी में सब गङ्गा के पार उतर गये। तब भरतजीने उतरकर सबको सँभाला।

प्रातः काल की क्रियाओं को करके माता के चरणों की वन्दना कर और गुरुजी को सिर नवाकर भरतजी ने निषाद गणों को रास्ता दिखलाने के लिये आगे कर लिया और सेना चला दी।

अलंकार—वृत्यनुप्रास।

कियउ निषादनाथु अगुआई। मातु पालकीं सकल चलाई॥
साथ बोलाइ भाइ लघु दीन्हा। बिप्रन्ह सहित गवनु गुर कीन्हा॥
आपु सुरसरिहि कीन्ह प्रनामू। सुमिरे लखन सहित सिय रामू॥
गवने भरत पयादेहिं पाए। कोतल संग जाहिं डोरिआए॥
कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइअ नाथ अस्व असवारा॥
रामु पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥
देखि भरत गति सुनि मृदु बानी। सब सेवक गन गरहिं गलानी॥

भरत तीसरे पहर कहँ, कीन्ह प्रबेसु प्रयाग।
कहत राम सिय राम सिय, उमगि उमगि अनुराग॥२०३॥

व्याख्या—निषादराज को आगे करके पीछे सब माताओं की पालकियाँ चलायी। छोटे भाइ शत्रुघ्न-जी को बुलाकर उनके साथ कर दिया। फिर

ब्राह्मणो सहित गुरुजी ने गमन किया। तदनन्तर भरतजी ने गङ्गाजी को प्रणाम किया और लक्ष्मणसहित श्रीसीता-रामजी का स्मरण किया। भरतजी पैदल ही चले। उनके साथ बिना सवार के घोडे बागडोर से बंधे हुए चले जा रहे हैं। उत्तम सेवक बार-बार कहते हैं कि हे नाथ! आप घोडे पर सवार हो लीजिये। भरतजी उत्तर देते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी तो पैदल ही गये और हमारे लिये रथ हाथी और घोडे बनाये गये हैं। मुझे उचित तो ऐसा है कि मैं सिरके बल चलकर जाऊँ। सेवक का धर्म सबसे कठिन होता है। भरतजी की दशा देख कर और कोमल वाणी सुनकर सब सेवक गण ग्लानि के मारे गले जा रहे हैं।

प्रेम से उमँग-उमँगकर सीताराम सीताराम कहते हुए भरतजी ने तीसरे पहर प्रयाग मे प्रवेश किया।

अलंकार—अनुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश।

झलका झलकत पायन्ह कैसें। पंकज कोस ओस कन जैसें॥
भरत पयादेहि आए आजू। भयउ दुखित सुनि सकल समाजू॥
खबरि लीन्ह सब लोग नहाए। कीन्ह प्रनामु त्रिबेनिहि आए॥
सबिधि सितासित नीर नहाने। दिए दान महिसुर सनमाने॥
देखत स्यामल धवल हलोरे। पुलकि सरीर भरत कर जोरे॥
सकल काम प्रद तीरथराऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ॥
मागउँ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करइ कुकरमू॥
अस जियँ जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचक बानी॥

अरथ न धरम न काम रुचि, गति न चहउँ निरबान।
जनम जनम रति राम पद, यह बरदानु न आन॥२०४॥

व्याख्या—भरतजी के चरणो में छाले ऐसे चमकते हैं, मानो कमल की कली पर ओस की बूँदें चमकती हो। भरतजी आज पैदल ही चलकर आये हैं, यह समाचार सुनकर सारा समाज दुखी हो गया। जब भरतजी ने यह पता पा लिया कि सब लोग स्नान कर चुके, तब त्रिवेणी पर आकर उन्हें प्रणाम किया। फिर विधिपूर्वक गङ्गा-यमुना के श्वेत और श्याम जल मे स्नान किया और दान देकर ब्राह्मणो का सम्मान किया। यमुनाजी और गङ्गाजी की लहरो को देखकर भरतजी का शरीर पुलकित हो उठा और उन्होंने हाथ जोडकर

कहा—हे तीर्थराज ! आप समस्त कामनाओ को पूर्ण करने वाले है। आपका प्रभाव वेदो मे प्रसिद्ध और ससार मे प्रकट है। मै अपना न मांगने का क्षत्रिय-धर्म त्यागकर आपसे भीख मांगता हूँ। आर्त्त मनुष्य कौन-सा कुकर्म नही करता ? ऐसा हृदय मे जानकर सुजान उत्तम दानी जगत् मे मांगनेवाले की वाणी को सफल किया करते हैं अर्थात् वह जो मांगता हैं सो दे देते है।

मुझे न अर्थ की रुचि है, न धर्म की, न काम की और न मैं मोक्ष ही चाहता हूँ। जन्म-जन्म मे मेरा श्रीरामजी के चरणो मे प्रेम हो, बस यही वरदान मांगता हूँ, दूसरा कुछ नही।

अलंकार—उत्प्रेक्षा, अनुप्रास।

जानहुँ रामु कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुर साहिब द्रोही॥
सीता राम चरन रति मोरें। अनुदिन बढउ अनुग्रह तोरें॥
जलदु जनम भरि सुरति बिसारउ। जाचत जलु पवि पाहन डारउ॥
चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढें प्रेम सब भाँति भलाई॥
कनकहिं बान चढइ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें॥
भरत बचन सुनि माझ त्रिबेनी। भइ मृदु बानि सुमगल देनी॥
तात भरत तुम्ह सब बिधि साधू। राम चरन अनुराग अगाधू॥
बादि गलानि करहु मन माहीं। तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं॥

तनु पुलकेउ हिय हरषु, सुनि बेनि-बचन अनुकूल।
भरत धन्य कहि धन्य सुर, हरषित बरषहि फूल॥२०५॥

व्याख्या—भरतजी गगा से विनय करते हुए कहते हैं स्वय श्रीरामचन्द्रजी भी भले ही मुझे गुरुद्रोही तथा स्वामिद्रोही भले ही कहे, पर श्रीसीतारामजी के चरणो मे मेरा प्रेम आपकी कृपा से दिन-दिन बढता ही रहे। मेघ चाहे जन्मभर चातक की सुध भुला दे और जल मांगने पर वह चाहे वज्र और ओले ही गिरावे। पर चातक को रटन घटने से तो उसकी बात ही घट जायगी। उसकी तो प्रेम बढने मे ही सब तरह से भलाई है जैसे तपाने से सोने पर चमक आ जाती है वैसे ही प्रियतम के चरणो मे प्रेम का नियम निवाहने से प्रेमी सेवक का गौरव बढ जाता है। भरतजी के वचन सुनकर बीच त्रिवेणी मे से सुन्दर मङ्गल देनेवाली कोमल वाणी हुई। हे तात भरत ! तुम सब प्रकार

से साधु हो। श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में तुम्हारा अथाह प्रेम है। तुम व्यर्थ ही मनमें ग्लानि कर रहे हो। श्रीरामचन्द्र को तुम्हारे समान प्रिय कोई नहीं है।

त्रिवेणीजी के अनुकूल वचन सुनकर भरतजी का शरीर पुलकित हो गया, हृदय में हर्ष छा गया। भरतजी धन्य हैं, धन्य हैं, कहकर देवता हर्षित होकर फूल बरसाने लगे।

अलंकार—दृष्टान्त, पुनरुक्तिप्रकाश।

प्रमुदित तीरथराज निवासी। बैखानस बटु गृही उदासी॥
कहहिं परसपर मिलि दस पाँचा। भरत सनेहु सीलु सुचि साँचा॥
सुनत राम गुन ग्राम सुहाए। भरद्वाज मुनिबर पहिं आए॥
दंड प्रनामु करत मुनि देखे। मूरतिमंत भाग्य निज लेखे॥
धाइ उठाइ लाइ उर लीन्हे। दीन्हि असीस कृतारथ कीन्हे॥
आसनु दीन्ह नाइ सिरु बैठे। चहत सकुच गृहँ जनु भजि पैठे॥
मुनि पूँछब कछु यह बड़ सोचू। बोले रिषि लखि सीलु सँकोचू॥
सुनहु भरत हम सब सुधि पाई। बिधि करतब पर किछु न बसाई॥
तुम्ह गलानि जियँ जनि करहु, समुझि मातु करतूति।
तात कैकइहि दोसु नहिं, गई गिरा मति धूति॥२०६॥

व्याख्या—तीर्थराज प्रयाग में रहनेवाले वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी, गृहस्थ और संन्यासी सब बहुत ही आनन्दित हैं और दस-पाँच मिलकर आपसमें कहते हैं कि भरतजी का प्रेम और शील पवित्र और सच्चा है। श्रीरामचन्द्रजी के सुन्दर गुण-समूहोंको सुनते हुए वे मुनि श्रेष्ठ भरद्वाजीके पास आये। मुनि ने भरतजीको दण्डवत्-प्रणाम करते देखा और उन्हें अपना मूर्तिमान सौभाग्य समझा। उन्होंने दौड़कर भरतजी को उठाकर हृदय से लगा लिया और आशीर्वाद देकर कृतार्थ किया। मुनिने उन्हें आसन दिया। वे सिर नवाकर इस तरह बैठे मानो भागकर संकोचके घरमें घुस जाना चाहते हैं। उनके मनमें यह बड़ा सोच है कि मुनि कुछ पूछेंगे तो मैं क्या उत्तर दूँगा। भरतजीके शील और संकोचको देखकर ऋषि बोले—भरत! सुनो, हम सब खबर पा चुके हैं। विधाताके कर्तव्यपर कुछ वश नहीं चलता।

माताकी करतूत को समझकर तुम हृदयमे ग्लानि मत करो। हे तात! कैकेयीका कोई दोष नहीं है, उसकी बुद्धि तो सरस्वती बिगाड गयी थी।

यहउ कहत भल कहिहि न कोऊ। लोकु वेदु बुध समत दोऊ॥
तात तुम्हार विमल जसु गाई। पाइहि लोकउ वेदु बडाई॥
लोक वेद समत सबु कहई। जेहि पितु देइ राजु सो लहई॥
राउ सत्यव्रत तुम्हहि बोलाई। देत राजु सुखु धरमु बडाई॥
राम गवनु वन अनरथ मूला। जो सुनि सकल विस्व भइ सूला॥
सो भावी वस रानि अयानी। करि कुचालि अनहुँ पछितानी॥
तहँउँ तुम्हार अलप अपराधू। कहै सो अधम अयान असाधू॥
करतेहु राजु त तुम्हहि न दोषू। रामहि होत सुनत संतोषू॥
अब अति कीन्हेहु भरत भल, तुम्हहि उचित मत एहु।
सकल सुमंगल मूल जग, रघुवर चरन सनेहु॥२०७

व्याख्या—भरद्वाज जी भरत से कहते है कि यह कहते भी कोई भला न कहेगा, क्योंकि लोक और वेद दोनों ही विद्वानोको मान्य हैं। किन्तु हे तात! तुम्हारा निर्मल यश गाकर तो लोक और वेद दोनो बडाई पावेगे। यह लोक और वेद दोनोंको मान्य है और सब यही कहते हैं कि पिता जिसको राज्य दे वही पाता है। राजा सत्यव्रती थे, तुमको बुलाकर राज्य देते, तो सुख मिलता, धर्म रहता और बडाई होती। सारे अनर्थ की जड तो श्रीरामचन्द्रजीका वन-गमन है, जिसे सुनकर समस्त संसारको पीडा हुई। वह श्रीरामका वन-गमन भी भावी-वश हुआ। बेसमझ रानी तो भावीवश कुचाल करके अन्तमे पछतायी उसमें भी तुम्हारा कोई तनिक-सा भी अपराध कहे, तो वह अधम, अज्ञानी और असाधु है। यदि तुम राज्य करते तो भी तुम्हे दोष न होता। सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको भी संतोष ही होता।

हे भरत! अब तो तुमने बहुत ही अच्छा किया, यही मत तुम्हारे लिये उचित था। श्रीरामचन्द्रजीके चरणोमे प्रेम होना ही संसारमे समस्त सुन्दर मङ्गलोका मूल है।

अलंकार—अनुप्रास

सो तुम्हार धनु जीवनु प्राना। भूरिभाग को तुम्हहि समाना॥
यह तुम्हार आचरजु न ताता। दसरथ सुअन राम प्रिय भ्राता॥
सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। प्रेम पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥
लखन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥
जाना मरमु नहात प्रयागा। मगन होहिं तुम्हरें अनुरागा॥
तुम्ह पर अस सनेहु रघुबर कें। सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥
यह न अधिक रघुबीर बड़ाई। प्रनत कुटुंब पाल रघुराई॥
तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

तुम्ह कहँ भरत कलंक यह, हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित, भा यह समउ गनेसु॥२०८॥

व्याख्या—सो वह श्रीरामचन्द्रजीके चरणों का प्रेम तो तुम्हारा धन, जीवन और प्राण ही है, तुम्हारे समान बड़भागी कौन है? हे तात! तुम्हारे लिये यह आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि तुम दशरथजीके पुत्र और श्रीरामचन्द्रजीके प्यारे भाई हो। हे भरत! सुनो, श्रीरामचन्द्रजीके मनमें तुम्हारे समान प्रेमपात्र दूसरा कोई नहीं है। लक्ष्मणजी, श्रीरामजी और सीताजी तीनोंकी सारी रात उस दिन अत्यन्त प्रेमके साथ तुम्हारी सराहना करते ही बीती। प्रयागराजमें जब वे स्नान कर रहे थे। उस समय मैंने उनका यह मर्म जाना। वे तुम्हारे प्रेम में मग्न हो रहे थे। तुम पर श्रीरामचन्द्रजीका ऐसा ही अगाध स्नेह है, जैसा विषयासक्त मनुष्यका संसारमें सुखमय जीवन पर होता है। यह श्रीरघुनाथजी की बहुत बड़ाई नहीं है, क्योंकि श्रीरघुनाथजी तो शरणागतके कुटुम्बभरको पालनेवाले हैं। हे भरत! मेरा यह मत है कि तुम तो मानो शरीरधारी श्रीरामजीके प्रेम ही हो।

हे भरत! तुम्हारी समझमें यह कलङ्क है, पर सबके लिये तो उपदेश है। श्रीरामभक्ति रूपी रस की सिद्धि के लिये यह समय बड़ा शुभ हुआ है।

अलङ्कार—उदाहरण, उत्प्रेक्षा।

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥

कोक तिलोक प्रीति अति करिही । प्रभु प्रताप रवि छबिहि न हरिही ॥
निसि दिन सुखद सदा सब काहू । ग्रसिहि न कैकइ करतबु राहू ॥
पूरन राम सुपेम पियूषा । गुर अवमान दोष नहिं दूषा ॥
राम भगत अब अमिअँ अघाहूँ । कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहूँ ॥
भूप भगीरथ सुरसरि ,आनी । सुमिरत सकल सुमंगल खानी ॥
दसरथ गुन गन बरनि न जाहीं । अधिकु कहा जेहि सम जग नाहीं ॥

जासु सनेह सकोच बस, राम प्रगट भए आइ ।
जे हर हिय नयननि कबहुँ, निरखे नहीं अघाइ ॥२०९॥

शब्दार्थ—विधु=चन्द्रमा । किंकर=दास ।

संदर्भ—भरद्वाज मुनि भरत के महत्व का वर्णन करते हुए कहते है कि राम-वन गमन मे उसका कोई दोष नही है—

व्याख्या—हे तात ! तुम्हारा यश निर्मल नवीन चन्द्रमा है और श्रीराम-चन्द्रजी के दास कुमुद और चकोर हैं वह चन्द्रमा तो प्रतिदिन अस्त होता और घटता है, जिससे कुमुद और चकोर को दुःख होता है, परन्तु यह तुम्हारा यशरूपी चन्द्रमा सदा उदय रहेगा, कभी अस्त होगा ही नही । जगत्‌रूपी आकाश मे यह घटेगा नही, वरन् दिन-दिन दूना होगा । त्रैलोक्य रूपी चकवा इस यश रूपी चन्द्रमा पर अत्यन्त प्रेम करेगा और प्रभु श्रीरामचन्द्रजी का प्रताप रूपी सूर्य इसकी छवि को हरण नही करेगा । यह चन्द्रमा रात-दिन सदा सब किसी को सुख देने वाला होगा, कैकेयी का कुकर्म रूपी राहु इसे ग्रास नहीं करेगा यह चन्द्रमा श्रीरामचन्द्रजी के सुन्दर प्रेम रूपी अमृत से पूर्ण है । यह गुरु के अपमान रूपी दोष से दूषित नही है । तुमने इस यश रूपी चन्द्रमा की सृष्टि करके पृथ्वी पर भी अमृत को सुलभ कर दिया । अब श्रीरामजी के भक्त इस अमृत से तृप्त हो ले राजा भगीरथ गङ्गाजी को लाये, जिन गङ्गाजी का स्मरण ही सम्पूर्ण सुन्दर मङ्गलो की खान है । दशरथजी के गुण समूहो का वर्णन ही नही किया जा सकता, अधिक क्या, जिनकी बराबरी का जगत् मे कोई नही है ।

जिनके प्रेम और शील के वश मे होकर स्वयं सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीराम आकर प्रकट हुए, जिन्हे श्रीमहादेवजी अपने हृदय के नेत्रो से कभी

अघाकर नहीं देख पाये अर्थात् जिनका स्वरूप हृदय में देखते-देखते शिवजी कभी तृप्त नहीं हुए।

अलंकार—रूपक।

कीरति बिधु तुम्ह कीन्ह अनूपा। जहँ बस राम प्रेम मृगरूपा॥
तात गलानि करहु जियँ जाएँ। डरहु दरिद्रहि पारसु पाएँ॥
सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सीय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥
भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ। कहि अस प्रेम मगन मुनि भयऊ॥
सुनि मुनि बचन सभासद हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे॥
धन्य धन्य धुनि गगन पयागा। सुनि सुनि भरतु मगन अनुरागा॥

पुलक गात हियँ रामु सिय, सजल सरोरुह नैन।
करि प्रनामु मुनि मंडलिहि, बोले गदगद बैन॥२१०॥

व्याख्या—भरद्वाज जी भरत का महत्त्व वर्णन करते हुए उनसे कहते हैं तुमने कीर्ति रूप अनुपम चन्द्रमा को उत्पन्न किया, जिसमें श्रीराम प्रेम ही हिरन के चिह्न के रूप में बनता है। हे तात! तुम व्यर्थ ही हृदय में ग्लानि कर रहे हो। पारस पाकर भी तुम दरिद्रता से डर रहे हो। हे भरत! सुनो, हम झूठ नहीं कहते। हम उदासीन हैं किसी का पक्ष नहीं करते हम तपस्वी हैं, किसी की मुँह देखी नहीं कहते और वन में रहते हैं, किसी से कुछ प्रयोजन नहीं रखते। सब साधनों का उत्तम फल हमें लक्ष्मणजी, श्रीरामजी और सीताजी का दर्शन प्राप्त हुआ। सीता-लक्ष्मण सहित श्रीराम दर्शन रूप उस महान् फल का परम फल यह तुम्हारा दर्शन है! प्रयागराज समेत हमारा बड़ा भाग्य है। हे भरत! तुम धन्य हो, तुमने अपने यश से जगत को जीत लिया है। ऐसा कहकर मुनि प्रेम में मग्न हो गये। भरद्वाज मुनि के वचन सुनकर सभासद हर्षित हो गये। साधु-साधु कह कर सराहना करते हुए देवताओं ने फूल बरसाये। आकाश में और प्रयागराज में धन्य, धन्य की ध्वनि सुन-सुनकर भरत जी प्रेम मग्न हो रहे हैं।

भरतजी का शरीर पुलकित है, हृदय मे श्री सीतारामजी हैं और कमल के समान नेत्र प्रेमाश्रु के जल से भरे हैं। वे मुनियो की मण्डली को प्रणाम करके गदगद वचन बोले।

अलकार—रूपक, सार, वृत्यनुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश।

मुनि समाजु अरु तीरथराजू। साँचिहुँ सपथ अघाइ अकाजू॥
एहिं थल जौं किछु कहिअ बनाई। एहि सम अधिक न अघ अधमाई॥
तुम्ह सर्बग्य कहउँ सतिभाऊ। उर अंतरजामी रघुराऊ॥
मोहि न मातु करतब कर सोचू। नहिं दुख जियँ जगु जानिहि पोचू॥
नाहिन डरु बिगरिहि परलोकू। पितहु मरन कर मोहि न सोकू॥
सुकृत सुजस भरि भुअन सुहाए। लछिमन राम सरिस सुत पाए॥
राम बिरहँ तजि तनु छनभंगू। भूप सोच कर कवन प्रसंगू॥
राम लखन सिय बिनु पग पनहीं। करि मुनि बेष फिरहिं बन बनही॥

अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुस पात।
बसि तरु तर नित सहत हिम, आतप बरषा बात॥ २११॥

व्याख्या—भरतजी कहते है कि मुनियो का समाज है और फिर तीर्थराज है। यहाँ सच्ची सौगन्ध खाने से भी भरपूर हानि होती है। इस स्थान मे यदि कुछ बनाकर कहा जाय तो इनके समान कोई बडा पाप और नीचता न होगी। मैं सच्चे भाव से कहता हूँ। आप सर्वज्ञ हैं, और श्रीरघुनाथजी हृदय के भीतर की जानने वाले हैं मैं कुछ भी असत्य कहूँगा तो आपसे और उनसे छिपा नही रह सकता। मुझे माता कैकेयी की करनी का कुछ भी सोच नही है और न मेरे मन मे इसी बात का दु.ख है कि जगत् मुझे नीच समझेगा, न यही डर है कि मेरा परलोक बिगड जायगा और न पिताजी के मरने का ही मुझे शोक है। क्योंकि उनका सुन्दर पुण्य और सुयश विश्व भर में सुशोभित है। उन्होंने श्रीराम-लक्ष्मण सरीखे पुत्र पाये, फिर जिन्होंने श्रीरामचन्द्रजी के विरह मे अपने क्षणभंगुर शरीर को त्याग दिया, ऐसे राजा के लिये सोच करने का कौन प्रसंग हैं? सोच इसी बात का है कि श्रीरामजी, लक्ष्मणजी और सीताजी पैरो मे बिना जूती के मुनियो का वेश बनाये वन-वन मे फिरते हैं।

वे वल्कल वस्त्र पहनते हैं, फलों का भोजन करते हैं, पृथ्वी पर कुश और पत्ते बिछाकर सोते हैं और वृक्षों के नीचे निवास करके नित्य सर्दी-गर्मी, वर्षा और हवा सहते हैं।

अलंकार—अनुप्रास।

एहि दुख दाहँ दहइ दिन छाती। भूख न बासर नींद न राती॥
एहि कुरोग कर औषधु नाहीं। सोधेउँ सकल बिस्व मन माहीं॥
मातु कुमत बढ़ई अघ मूला। तेहिं हमार हित कीन्ह बँसूला॥
कलि कुकाठ कर कीन्ह कुजंत्रू। गाड़ि अवधि पढ़ि कठिन कुमंत्रू॥
मोहि लगि यहु कुठाटु तेहिं ठाटा। घालेसि सब जगु बारहबाटा॥
मिटइ कुजोगु राम फिरि आएँ। बसइ अवध नहिं आन उपाएँ॥
भरत बचन सुनि मुनि सुखु पाई। सबहिं कीन्हि बहु भाँति बड़ाई॥
तात करहु जनि सोचु बिसेषी। सब दुखु मिटिहि राम पग देखी॥

करि प्रबोध मुनिबर कहेउ, अतिथि प्रेमप्रिय होहु।
कंद मूल फल फूल हम, देहिं लेहु करि छोहु॥२१२॥

व्याख्या—भरतजी कहते हैं कि इसी दुख की जलन से निरन्तर मेरी छाती जलती रहती है। मुझे न दिन में भूख लगती है, न रात को नींद आती है। मैंने मन-ही मन समस्त विश्व को खोज डाला, पर इस कुरोग की औषधि कहीं नहीं है। माता का बुरा विचार पापों का मूल बढ़ई है। उसने हमारे हित का बसूला बनाया। उसमें कलह रूपी कुकाठ का कुयन्त्र बनाया और चौदह वर्ष की अवधि रूपी कठिन कुमन्त्र पढ़कर उस यन्त्र को गाढ़ दिया मेरे लिये उसने यह सारा बुरा साज रचा और सारे जगत् को छिन्न-भिन्न करके नष्ट कर डाला। यह कुयोग श्रीरामचन्द्रजी के लौट आने पर ही मिट सकता है और तभी अयोध्या बस सकती है, दूसरे किसी उपाय से नहीं। भरतजी के वचन सुनकर मुनिने सुख पाया और सभी ने उनकी बहुत प्रकार से बड़ाई की। मुनि ने कहा हे तात! अधिक सोच मत करो। श्रीरामचन्द्रजी के चरणों का दर्शन करते ही सारा दुःख मिट जायगा।

इस प्रकार मुनिश्रेष्ठ भरद्वाज जी ने उनका समाधान करके कहा—अब आप लोग हमारे प्रेमप्रिय अतिथि बनिये और कृपा करके कन्द-मूल, फल-फूल जो कुछ हम दें, स्वीकार कीजिये।

अलंकार—रूपक।

सुनि मुनि बचन भरत हियँ सोचू। भयउ कुअवसर कठिन संकोचू॥
जानि गरुइ गुर गिरा बहोरी। चरन बंदि बोले कर जोरी॥
सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरम यहु नाथ हमारा॥
भरत बचन मुनिवर मन भाए। सुचि सेवक सिष निकट बोलाए॥
चाहिअ कीन्हि भरत पहुनाई। कंद मूल फल आनहु जाई॥
भलेहिं नाथ कहि तिन्ह सिर नाए। प्रमुदित निज निज काज सिधाए॥
मुनिहि सोच पाहुन बड़ नेवता। तसि पूजा चाहिअ जस देवता॥
सुनि रिधि सिधि अनिमादिक आई। आयसु होइ सो करहिं गोसाईं॥
राम बिरह ब्याकुल भरतु, सानुज सहित समाज।
पहुनाई करि हरहु श्रम, कहा मुदित मुनिराज॥२१३॥

व्याख्या—मुनि के वचन सुनकर भरत के हृदय में सोच हुआ कि वह बेमौके बड़ा बेढब संकोच आ पड़ा। फिर गुरुजनों की वाणी को आदरणीय समझकर, चरणों की वन्दना करके हाथ जोड़कर बोले हे नाथ! आपकी आज्ञा को सिर चढ़ाकर उसका पालन करना, यह हमारा परम धर्म है। भरत जी के ये वचन मुनिश्रेष्ठ के मन को अच्छे लगे। उन्होंने विश्वासपात्र सेवकों और शिष्यों को पास बुलाया और कहा कि भरत की पहुनई करनी चाहिए। जाकर कन्द, मूल और फल लाओ। उन्होंने 'हे नाथ! बहुत अच्छा' कहकर सिर नवाया और तब वे बड़े आनन्दित होकर अपने-अपने काम को चल दिये। मुनि को चिन्ता हुई कि हमने बहुत बड़े मेहमानों को न्योता है। अब जैसा देवता हो, वैसी ही उसकी पूजा भी होनी चाहिये। यह सुनकर ऋद्धियाँ और अणिमादि सिद्धियाँ आ गयीं और बोलीं—हे गोसाईं! जो आपकी आज्ञा हो सो हम करें।

मुनिराज ने प्रसन्न होकर कहा—छोटे भाई शत्रुघ्न और समाज सहित भरतजी श्रीरामचन्द्रजी के विरह में व्याकुल हैं, अतिथ्य-सत्कार करके इनके श्रम को दूर करो।

अलंकार—अनुप्रास।

रिधि सिधि सिर धरि मुनि वर बानी। बड़भागिनि आपुहि अनुमानी॥
कहहिं परसपर सिधि समुदाई। अतुलित अतिथि राम लघु भाई॥
मुनि पद बंदि करिअ सोइ आजू। होइ सुखी सब राज समाजू॥
अस कहि रचेउ रुचिर गृह नाना। जेहि बिलोकि बिलखाहिं बिमाना॥
भोग बिभूति भूरि भरि राखे। देखत जिन्हहि अमर अभिलाषे॥
दासीं दास साजु सब लीन्हें। जोगवत रहहिं मनहि मनु दीन्हें॥
सब समाजु सजि सिधि पल माहीं। जे सुख सुरपुर सपनेहुँ नाहीं॥
प्रथमहिं बास दिए सब केही। सुंदर सुखद जथा रुचि जेही॥

बहुरि सपरिजन भरत कहुँ, रिषि अस आयसु दीन्ह।
बिधि बिसमय दायकु बिभव मुनिबर तपबल कीन्ह॥२१५॥

व्याख्या—ऋद्धि-सिद्धि ने मुनिराज की आज्ञा को सिर चढ़ाकर अपने को बड़भागिनी समझा। सब सिद्धियाँ आपस में कहने लगीं कि श्रीरामचन्द्रजी के छोटे भाई भरत ऐसे अतिथि हैं जिनकी तुलना में कोई नहीं आ सकता। अतः मुनि के चरणों की वन्दना करके आज वही करना चाहिये जिससे सारा राज-समाज सुखी हो। ऐसा कहकर उन्होंने बहुत से सुन्दर घर बनाये, जिन्हें देखकर विमान भी बिलखते हैं। उन घरों में बहुत से भोग और ठाट-बाट का सामान भरकर रख दिया, जिन्हें देखकर देवता भी ललचा गये। दासी-दास सब प्रकार की सामग्री लिये हुए मन लगाकर उनके मनों को देखते रहते हैं। जो सुख के समान स्वर्ग में भी स्वप्न में भी नहीं है, ऐसे सब सामान सिद्धियों ने पल भर में सजा दिये। पहले तो उन्होंने सब किसी को, जिसकी जैसी रुचि थी वैसे ही सुन्दर सुखदायक निवास्थान दिये।

और फिर कुटुम्बसहित भरतजी को दिये, क्योंकि ऋषि भरद्वाजजी ने ऐसी ही आज्ञा दे रक्खी थी। भरतजी चाहते थे कि उनके सब साथियों को आराम मिले, इसलिये उनके मनकी बात जानकर मुनि ने पहले उन लोगों को स्थान देकर पीछे सपरिवार भरतजी को स्थान देने के लिये आज्ञा दी थी। मुनिश्रेष्ठ ने तपोबल से ब्रह्मा को भी चकित कर देने वाला वैभव रच दिया।

अलंकार—प्रतीप, अनुप्रास।

मुनि प्रभाउ जब भरत बिलोका । सब लघु लगे लोकपति लोका ॥
सुख समाजु नहिं जाइ बखानी । देखत बिरति बिसारहिं ग्यानी ॥
आसन सयन सुबसन बिताना । बन बाटिका बिहग मृग नाना ॥
सुरभि फूल फल अमिअ समाना । बिमल जलासय बिबिध बिधाना ॥
असन पान सुचि अमिअ अमी से । देखि लोग सकुचात जमी से ॥
सुर सुरभी सुरतरु सबही कें । लखि अभिलाषु सुरेस सची कें ॥
रितु बसंत बह त्रिबिध बयारी । सब कहँ सुलभ पदारथ चारी ॥
स्रक चंदन बनितादिक भोगा । देखि हरष बिसमय बस लोगा ॥

सपंति चकई भरतु चक, मुनि आयस खेलवार ।
तेहि निसि आश्रम पिंजराँ, राखे भा भिनुसार ॥२१५॥

व्याख्या—जब भरतजी ने मुनि के प्रभाव को देखा, तो उनके सामने उन्हें इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर आदि सभी लोकपालो के लोक तुच्छ जान पडे। सुख की सामग्री का वर्णन नही हो सकता, जिसे देखकर ज्ञानी लोग भी वैराग्य भूल जाते हैं। आसन, सेज सुन्दर वस्त्र, चँदोवे, वन, बगीचे, भाँति-भाँति के पक्षी और पशु, सुगन्धित फूल और अमृत के समान स्वादिष्ट फल, अनेको प्रकार के तालाब, कुँए, बावली आदि निर्मल जलाशय, तथा अमृत के भी अमृत-सरीखे पवित्र खान-पान के पदार्थ थे, जिन्हे देखकर सब लोग सयमी पुरुषो की भाँति सकुचा रहे हैं। सभी के डेरे मे मनोवाञ्छित वस्तु देनेवाले कामधेनु और कल्पवृक्ष है, जिन्हे देखकर इन्द्र और इन्द्राणी को भी अभिलाषा होती है वसन्त ऋतु है। शीतल, मन्द, सुगन्ध तीन प्रकार की हवा बह रही है। सभी को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पदार्थ सुलभ हैं। माला, चन्दन, स्त्री आदिक भोगो को देखकर सब लोग हर्ष और विषाद के वश हो रहे है। हर्ष की भोग-सामग्रियो को और मुनि के तप प्रभाव को देखकर होता है और विषाद इस बात मे होता है कि श्रीराम के वियोग मे नियम-व्रत से रहने वाले हमलोग भोग-विलास मे क्यो आ फँसे, कही इनमे आसक्त होकर हमारा मन नियम-व्रतो को न त्याग दे। भोग-विलास की सामग्री चकवी है और भरतजी चकवा हैं और मुनिकी आज्ञा खेल है, जिसने उस रात को आश्रमरूपी पिंजडे मे दोनो को बंद कर रक्खा और ऐसे ही सवेरा होगया जैसे किसी बहेलिया

के द्वारा एक पिंजडे मे रक्खे जाने पर भी चकवी-चक्वे का रात को सयोग नही होता, वैसे ही भरद्वाजजी की आज्ञा मे रातभर भोग-सामग्रियो के साथ रहने पर भी भरतजी ने मनसे भी उनका स्पर्श तक नही किया।

अलकार—रूपक, प्रतीप, अनुप्रास।

कीन्ह निमज्जनु तीरथराजा। नाइ मुनिहि सिरु सहित समाजा॥
रिषि आयसु असीस सिर राखी। करि दडवत् विनय बहु भाषी॥
पथ गति कुसल साथ सब लीन्हे। चले चित्रकूटहि चितु दीन्हे॥
रामसखा कर दीन्हें लागू। चलत देह धरि जनु अनुरागू॥
नहि पद त्रान सीस नहि छाया। पेमु नेमु व्रतु धरमु अमाया॥
लखन राम सिय पथ कहानी। पूछत सखहि कहत मृदु बानी॥
राम वास थल विटप विलोकें। उर अनुराग रहत नहि रोकें॥
देखि दसा सुर वरिसहि फूला। भइ मृदु महि मगु मगल मूला॥

किए जाहि छाया जलद, सुखद वहइ वर वात।
तस मगु भयउ न राम कहँ, जस भा भरतहि जात॥२१६॥

व्याख्या—प्रात काल भरतजी ने तीर्थ राज मे स्नान किया और समाज सहित मुनि को सिर नवाकर और ऋषि की आज्ञा तथा आशीर्वाद को सिर चढाकर दण्डवत् करके बहुत विनती की। तदनन्तर रास्ते की पहचान रखने वाले लोगो के साथ सब लोगो को लिये हुए भरतजी चित्रकूट में चित्त लगाये चले। भरतजी राम सखा गुह के हाथ-मे-हाथ दिये हुए ऐसे जा रहे है, मानो साक्षात् प्रेम ही शरीर धारण किये हुए हो। न तो उनके पैरों मे जूते हैं और न सिर पर छाया है। उनका प्रेम, नियम, व्रत और धर्म सच्चा है। वे सखा निषादराज से लक्ष्मणजी, श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी के रास्ते की बातें पूछते हैं, और वह कोमल वाणी से कहता है। श्रीरामचन्द्रजी के ठहरने की जगहो और वृक्षो को देखकर उनके हृदय में प्रेम रोके नही रुकता। भरतजी की यह दशा देखकर देवता फूल बरसाने लगे। पृथ्वी कोमल हो गयी और मार्ग मङ्गल का मूल बन गया।

बादल छाया किये जा रहे हैं। सुख देने वाली सुन्दर हवा वह रही है। भरतजी के जाते समय मार्ग जैसा सुखदायक हुआ, वैसा श्रीरामचन्द्रजी को भी नही हुआ था।

अलंकार—वृत्यनुप्रास ।

जड़ चेतन मग जीव घनेरे । जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे ॥
ते सब भए परम पर जोगू । भरत दरस मेटा भव रोगू ॥
यह बड़ि बात भरत कइ नाहीं । सुमिरत जिनहि रामु मन माहीं ॥
बारक राम कहत जग जेऊ । होत तरन तारन नर तेऊ ॥
भरतु राम प्रिय पुनि लघु भ्राता । कस न होइ मगु मगलदाता ।
सिद्ध साधु मुनिवर अस कहहीं । भरतहि निरखि हरषु हियँ लहहीं ।
देखि प्रभाउ सुरेसहि सोचू । जगु भल भलेहि पोच कहुँ पोचू ॥
गुर सन कहेउ करिअ प्रभु सोई । रामहि भरतहि भेट न होई ।

रामु मंकोची प्रेम बस, भरत सपेम पयोधि ।
बनी बात बेगरन चहति, करिअ जतनु छलु सोधि ॥२१७॥

व्याख्या—रास्ते में असंख्य जड़-चेतन जीव थे। उनमे से जिनको प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने देखा वे सब उसी समय परम पद के अधिकारी हो गये। परन्तु अब भरतजी के दर्शन ने तो उनका जन्म-मरण रूपी रोग मिटा ही दिया। श्रीराम दर्शन से तो वे परम पद के अधिकारी ही हुए थे, परन्तु भरत दर्शन से उन्हें वह परम पद प्राप्त हो गया। भरतजी के लिये यह कोई बडी बात नही है, जिन्हे श्रीरामजी स्वय अपने मन मे स्मरण करते रहते है। जगत् मे जो भी मनुष्य एक बार 'राम' कह लेते हैं, वे भी तरने-तारने वाले हो जाते हैं। फिर भरतजी तो श्रीरामचन्द्रजी के प्यारे तथा उनके छोटे भाई ठहरे। तब भला उनके लिये मार्ग मङ्गल दायक कैसे न हो? सिद्ध, साधु और श्रेष्ठ मुनि ऐसा कह रहे हैं और भरतजी को देखकर हृदय मे हर्ष लाभ करते हैं। भरतजी के इस प्रेम के प्रभाव को देख कर देवराज इन्द्र को सोच हो गया कि कही इनके प्रेमवश श्रीरामजी लौट न जायँ और हमारा बना-बनाया काम बिगड़ जाय। ससार भले के लिये भला और बुरे के लिये बुरा है। मनुष्य जैसा आप होता है, जगत् उसे वैसा ही दीखता है। उसने गुरु बृहस्पतिजी से कहा—हे प्रभो! वही उपाय कीजिये जिससे श्रीरामचन्द्रजी और भरतजी की भेंट ही न हो।

श्रीरामचन्द्रजी सकोची और प्रेम के वश हैं और भरतजी प्रेम के समुद्र हैं। बनी बनायी बात बिगड़ना चाहती है। इसलिये कुछ छल ढूँढकर इसका उपाय कीजिये।

अलकार—अनुप्रास, दृष्टान्त।

बचन सुनत सुरगुरु मुसुकाने। सहस नयन बिनु लोचन जाने॥
मायापति सेवक सन माया। करइ त उलटि परइ सुरराया॥
तब किछु कीन्ह राम रुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी॥
सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराधु भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥
लोकहूँ बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥
भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥
मनहुँ न आनिअ अमरपति, रघुबर भगत अकाजु।
अजसु लोक परलोक दुख, दिन दिन सोक समाजु॥२१८॥

व्याख्या—इन्द्र के वचन सुनते ही देवगुरु बृहस्पतिजी मुसकराये। उन्होंने हजार नेत्रोंवाले इन्द्र को ज्ञान रूपी नेत्रों से रहित समझा और कहा—हे देवराज! माया के स्वामी श्रीरामचन्द्रजी के सेवक के साथ कोई माया करता है तो वह उलट कर अपने ही ऊपर आ पड़ती है। उस समय पिछली बार तो श्रीरामचन्द्रजी का रुख जानकर कुछ किया था। परन्तु इस समय कुचाल करने से हानि ही होगी। हे देवराज! श्रीरघुनाथजी का स्वभाव सुनो, वे अपने प्रति किये हुए अपराध से कभी रुष्ट नहीं होते। पर जो कोई उनके भक्तका अपराध करता है, वह श्रीरामकी क्रोधाग्नि में जल जाता है। लोक और वेद दोनों मे कथा प्रसिद्ध है। इस महिमा को दुर्वासाजी जानते हैं। सारा जगत् श्रीराम को जपता है, वे श्रीरामजी जिनको जपते हैं उन भरतजी के समान श्रीरामजी का प्रेमी कौन होगा।

हे देवराज! रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजी के भक्त का काम बिगाड़ने की बात मनमे भी न लाइये। ऐसा करने से लोक में अपयश और परलोक में दुःख होगा और शोक का सामान दिनों दिन बढ़ता ही चला जायगा।

अलंकार—विनोक्ति अनुप्रास।

सुनु सुरेस उपदेसु हमारा। रामहि सेवकु परम पिआरा॥
मानत सुखु सेवक सेवकाई। सेवक बैर बैरु अधिकाई॥
जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पुन्य गुन दोषू॥
करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥
अगुन अलेप अमान एकरस। रामु सगुन भए भगत प्रेम बस॥
राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी॥
अस जियँ जानि तजहु कुटिलाई। करहु भरत पद प्रीति सुहाई॥

राम भगत परहित निरत, पर दुख दुखी दयाल।
भगत सिरोमनि भरत तें, जनि डरपहु सुरपाल॥२१९॥

व्याख्या—हे देवराज! हमारा उपदेश सुनो। श्रीरामजी को अपना सेवक परम प्रिय है। वे अपने सेवक की सेवा से सुख मानते है और सेवक के साथ वैर करने मे बडा भारी वैर मानते हैं। यद्यपि वे सम हैं—उनमे न राग है, न रोष है और न वे किसी का पाप-पुण्य और गुण-दोष ही ग्रहण करते हैं। उन्होंने विश्व मे कर्म को ही प्रधान कर रक्खा है। जो जैसा करता है, वह वैसा ही फल भोगता तथापि वे भक्त और अभक्त के हृदय के अनुसार सम और विषम व्यवहार करते भक्त को प्रेम मे गले लगा लेते है और अभक्त को मारकर तार देते है। गुणरहित, निर्लेप, मान रहित और सदा एकरस भगवान् श्रीराम भक्त के प्रेमवश ही सगुण हुए हैं। श्रीराम सदा अपने सेवको की रुचि रखते आये है। वेद, पुराण, साधु और देवता इसके साक्षी है। ऐसा हृदय मे जानकर कुटिलता छोड दो और भरतजी के चरणो मे सुन्दर प्रीति करो।

देवराज इन्द्र! श्रीरामचन्द्रजी के भक्त सदा दूसरो के हित मे लगे रहते हैं, वे दूसरों के दु:ख मे दुखी और दयालु होते है। फिर, भरतजी तो भक्तो के शिरोमणि है, उनसे बिल्कुल न डरो।

अलकार—दृष्टान्त, अनुप्रास।

सत्यसंघ प्रभु सुर हितकारी। भरत राम आयस अनुसारी॥
स्वारथ बिबस बिकल तुम्ह होहू। भरत दोसु नहिं राउर मोहू॥

सुनि सुरवर सुरगुर बर बानी । भा प्रमोदु मन मिटी गलानी ॥
बरषि प्रसून हरषि सुरराऊ । लगे सराहन भरत सुभाऊ ॥
एहि बिधि भरत चले मग जाहीं । दसा देखि मुनि सिद्ध सिहाहीं ॥
जबहिं रामु कहि लेहिं उसासा । उमगत प्रेमु मनहुँ चहु पासा ॥
द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना । पुरजन प्रेमु न जाइ बखाना ॥
बीच बास करि जमुनहिं आए । निरखि नीरु लोचन जल छाए ॥

रघुबर बरन बिलोकि बर, बारि समेत समाज ।
होत मगन बारिधि बिरह, चढ़े बिबेक जहाज ॥२२०॥

व्याख्या—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी सत्य प्रतिज्ञ और देवताओं का हित करने वाले हैं। और भरतजी श्रीरामजी की आज्ञा के अनुसार चलने वाले हैं। तुम व्यर्थ ही स्वार्थ के विशेष वश होकर व्याकुल हो रहे हो। इसमें भरतजी का कोई दोष नहीं, तुम्हारा ही मोह है। देवगुरु बृहस्पतिजी की श्रेष्ठ वाणी सुनकर इन्द्र के मन में बड़ा आनन्द हुआ और उनकी चिन्ता मिट गयी। तब हर्षित होकर देवराज फूल बरसाकर भरतजी के स्वभाव की सराहना करने लगे। इस प्रकार भरतजी मार्ग में चले जा रहे हैं। उनकी प्रेममयी दशा देखकर मुनि और सिद्ध लोग भी सिहाते हैं। भरतजी जभी 'राम' कहकर लंबी सांस लेते हैं, तभी मानो चारों ओर प्रेम उमड़ पड़ता है। उनके प्रेम और दीनता के वचनों को सुनकर वज्र और पत्थर भी पिघल जाते हैं। अयोध्यावासियों का प्रेम कहते नहीं बनता। बीच में निवास करके भरतजी यमुनाजी के तट पर आये। यमुना जी का जल देखकर उनके नेत्रों में जल भर आया।

श्रीरघुनाथजी के श्याम रंग का सुन्दर जल देखकर सारे समाज सहित भरतजी प्रेम विह्वल होकर श्रीरामजी के विरहरूपी समुद्र में डूबते-डूबते विवेक-रूपी जहाज पर चढ़ गये अर्थात् यमुनाजी का श्यामवर्ण जल देखकर सब लोग श्यामवर्ण भगवान् के प्रेम में विह्वल हो गये और उन्हें न पाकर विरह व्यथा से पीड़ित हो गये, तब भरतजी को यह ध्यान आया कि जल्दी चलकर उनके साक्षात् दर्शन करेंगे, इस विवेक से वे फिर उत्साहित हो गये।

अलंकार—उपमा, रूपक।

जमुन तीर तेहि दिन करि बासू । भयउ समय सम सबहि सुपासू ॥
रातहिं घाट घाट की तरनी । आई अगनित जाहिं न बरनी ॥
प्रात पार भए एकहि खेवाँ । तोषे राम सखा की सेवाँ ॥
चले नहाइ नदिहि सिर नाई । साथ निषादनाथ दोउ भाई ॥
आगें मुनिबर बाहन आछें । राजसमाज जाइ सबु पाछें ॥
तेहि पाछें दोउ बंधु पयादें । भूषन बसन बेष सुठि सादें ॥
सेवक सुहृद सचिव सुत साथा । सुमिरत लखनु सीय रघुनाथा ॥
जहँ जहँ राम बास बिश्रामा । तहँ तहँ करहिं सप्रेम प्रनामा ॥

मगबासी नर नारि सुनि, धाम काम तजि धाइ ।
देखि सरूप सनेह सब, मुदित जनम फलु पाइ ॥२०१॥

व्याख्या—उस दिन यमुनाजी के किनारे निवास किया । समयानुसार सब के लिये खान-पान आदि की सुन्दर व्यवस्था हुई । निषादराज का सकेत पाकर रात-ही-रात मे घाट-घाट की अगणित नावें वहाँ आ गयी, जिनका वर्णन नही किया जा सकता सवेरे एक ही खेवे मे सब लोग पार हो गये और श्रीरामचन्द्रजी के सखा निषादराज की इस सेवा से सन्तुष्ट हुए । फिर स्नान करके और नदी को सिर नवाकर निषादराज के साथ दोनो भाई चले । आगे अच्छी-अच्छी सवारियो पर श्रेष्ठ मुनि हैं, उनके पीछे सारा राजसमाज जा रहा है । उनके पीछे दोनो भाई बहुत सादे भूषण-वस्त्र और वेष से पैदल चल रहे हैं । सेवक, मित्र और मन्त्री के पुत्र उनके साथ हैं । लक्ष्मण, सीताजी और श्रीरघुनाथजी का स्मरण करते जा रहे है । जहाँ-जहाँ श्रीरामजी ने निवास और विश्राम किया था, वहाँ वहाँ वे प्रेम सहित प्रणाम करते है ।

मार्ग मे रहने वाले स्त्री-पुरुष यह सुनकर घर और काम-काज छोडकर दौड पडते है और उनके सौन्दर्य और प्रेम को देखकर वे सब जन्म लेने का फल पाकर आनन्दित होते हैं ।

अलंकार—वृत्यनुप्रास ।

कहहिं सप्रेम एक एक पाहीं । रामु लखनु सखि होहिं कि नाहीं ॥
बय बपु बरन रूप सोइ आली । सीलु सनेहु सरिस सम चाली ॥

वेषु न सो सखि सीय न संगा। आगें अनी चली चतुरंगा॥
नहिं प्रसन्न मुख मानस खेदा। सखि संदेहु होइ एहिं भेदा॥
तासु तरक तियगन मन मानी। कहहिं सकल तेहि सम न सयानी॥
तेहि सराहि बानी फुरि पूजी। बोली मधुर बचन तिय दूजी॥
कहि सप्रेम सब कथाप्रसंगू। जेहि बिधि राम राज रस भंगू॥
भरतहि बहुरि सराहन लागी। सील सनेह सुभाय सुभागी॥
चलत पयादें खात फल, पिता दीन्ह तजि राजु।
जात मनावन रघुबरहि, भरत सरिस को आजु॥२२२॥

व्याख्या—गाँवों की स्त्रियाँ एक दूसरी से प्रेमपूर्वक कहती हैं—सखी! ये राम-लक्ष्मण हैं कि नहीं? हे सखी! इनकी अवस्था, शरीर और रंग-रूप तो वही है। शील, स्नेह उन्हीं के सदृश है और चाल भी उन्हीं के समान है परन्तु हे सखी! इनका न तो वह वल्कलवस्त्रधारी मुनि-वेष है, न सीताजी ही संग हैं। और इनके आगे चतुरङ्गिणी सेना चली जा रही है। फिर इनके मुख प्रसन्न नहीं हैं, इनके मन में खेद है। हे सखी! इसी भेद के कारण सन्देह होता है। उसका तर्क अन्य स्त्रियों के मन भाया। सब कहती हैं कि इसके समान सयानी कोई नहीं है। उसकी सराहना करके और 'तेरी वाणी सत्य है' इस प्रकार उसका सम्मान करके दूसरी स्त्री मीठे वचन बोली। श्रीरामजी के राजतिलक का आनन्द जिस प्रकार से भंग हुआ था, वह सब कथा-प्रसङ्ग प्रेमपूर्वक कह कर फिर वह भरतजी के शील, स्नेह और सौभाग्य की सराहना करने लगी।

वह बोली—देखो, ये भरतजी पिता के दिये हुए राज्य को त्याग कर पैदल चलते और फलाहार करते हुए श्रीरामजी को मनाने के लिये जा रहे हैं। इनके समान आज कौन है?

अलंकार—सन्देह, वृत्यनुप्रास।

नायप सगति भरत आचरनू। कहत सुनत दुख दूषन हरनू॥
जो किछु कहब थोर सखि सोई। राम बंधु अस काहे न होई॥
हम सब सानुज भरतहि देखें। भइन्ह धन्य जुबती जन लेखें॥
सुनि गुन देखि दसा पछिताहीं। कैकइ जननि जोग सुत नाहीं॥

कोउ कह देषनु रानिहि नाहिन । विधि सबु कीन्ह हमहि जो दाहिन ।।
कहँ हम लोक बेद बिधि हीनी । लघु तिय कुल करतूति मलीनी ।।
बसहिं कुदेस कुगांव कुबामा । कहँ यह दरसु पुन्य परिनामा ।।
अस अनदु अचिरिजु प्रतिग्रामा । जनु मरु भूमि कलपतरु र

भरत दरसु देखत खुलेउ, मग लोगन्ह कर भागु
जनु सिघलवासिन्ह भयउ, विधि बस सुलभ प्रयागु ।।२२३।।

व्याख्या—भरतजी का भाईपना, भक्ति और उनके आचरण कहने और सुनने से दुःख और दोषों के हरने वाले हैं। हे सखी ! उनके सम्बन्ध मे जो कुछ भी कहा जाय, वह थोड़ा है। श्रीरामचन्द्रजी के भाई ऐसे क्यों न हों ? छोटे भाई शत्रुघ्न-सहित भरतजी को देखकर हम सब भी आज धन्य (बड़भागिनी) स्त्रियों की गिनती मे हो गयी। इस प्रकार भरतजी के गुण सुनकर और उनकी दशा देखकर स्त्रियाँ पछताती हैं और कहती हैं—यह पुत्र कैकेयी जैसी माता के योग्य नहीं है। कोई कहती हैं—इसमें रानी का भी दोष नहीं है। यह सब विधाता ने ही किया है, जो हमारे अनुकूल है। कहाँ तो हम लोक और वेद दोनों की मर्यादा से हीन, कुल और करतूत दोनों से मलिन तुच्छ स्त्रियाँ जो जगली प्रान्त और बुरे गाँव मे बसती हैं और स्त्रियों मे भी नीच स्त्रियाँ हैं और कहाँ यह महान् पुण्यों का परिणाम स्वरूप इनका दर्शन ! ऐसा ही आनन्द और आश्चर्य गाँव-गाँव हो रहा है। मानो मरुभूमि मे कल्पवृ उग गया हो।

भरत जी का स्वरूप देखते ही रास्ते मे रहने वाले लोगों के भाग्य खुल गये। मानो दैव योग से सिंहलद्वीप के बसने वालों को तीर्थराज प्रयाग सुलभ हो गया हो।

अलंकार— वृत्यनुप्रास, काकु वक्रोक्ति, उत्प्रेक्षा।

निज गुन सहित राम गुन गाथा । सुनत जाहिं सुमिरत रघुनाथा ।।
तीरथ मुनि आश्रम सुरधामा । निरखि निमज्जहिं करहिं प्रनामा ।।
मनहीं मन मागहिं बरु एहू । सीय राम पद पदुम सनेहू ।।
मिलहिं किरात कोल बनवासी । बैखानस बटु जती उदासी ।।

करि प्रनामु पूँछहिं जेहि तेही। केहि बन लखनु रामु वैदेही ॥
ते प्रभु समाचार सब कहहीं। भरतहि देखि जनम फलु लहहीं ॥
जे जन कहहिं कुसल हम देखे। ते प्रिय राम लखन सम लेखे ॥
एहि बिधि बूझत सबहि सुबानी। सुनत राम बनवास कहानी ॥

तेहि बासर बसि प्रातहीं, चले सुमिरि रघुनाथ।
राम दरस की लालसा, भरत सरिस सब साथ ॥२२४॥

व्याख्या—इस प्रकार अपने गुणों सहित श्रीरामचन्द्रजी के गुणों की कथा सुनते और श्रीरघुनाथजी को स्मरण करते हुए भरतजी चले जा रहे हैं। वे तीर्थ देखकर स्नान और मुनियों के आश्रम तथा देवताओं के मन्दिर देखकर प्रणाम करते हैं और मन-ही-मन यह वरदान माँगते हैं कि श्रीसीतारामजी के चरण कमलों में प्रेम हो। मार्ग में भील, कोल आदि वनवासी तथा वनप्रस्थ, ब्रह्मचारी, सन्यासी और विरक्त मिलते हैं, उनमें से जिस-तिससे प्रणाम करके पूछते हैं कि लक्ष्मणजी, श्रीरामजी और जानकीजी किस वन में हैं? वे प्रभु के सब समाचार कहते हैं और भरतजी को देखकर जन्म का फल पाते हैं। जो लोग कहते हैं कि हमने उनको कुशलपूर्वक देखा है, उनको वे श्रीराम-लक्ष्मण के समान ही प्यारा मानते हैं। इस प्रकार सबसे सुन्दर वाणी से पूछते और श्रीरामजी के वनवास की कहानी सुनाते जाते हैं।

उस दिन वहीं ठहर कर दूसरे दिन प्रातःकाल ही श्रीरघुनाथजी का स्मरण करके चले। साथ के सब लोगों को भी भरतजी के समान ही श्रीरामजी के दर्शन की लालसा लगी हुई है।

अलंकार—वृत्यनुप्रास।

मंगल सगुन होहिं सब काहू। फरकहिं सुखद बिलोचन बाहू ॥
भरतहि सहित समाज उछाहू। मिलिहहिं रामु मिटिहि दुख दाहू ॥
करत मनोरथ जस जियँ जाके। जाहिं सनेह सुराँ सब छाके ॥
सिथिल अंग पग मग डगि डोलहिं। बिहवल बचन प्रेम बस बोलहिं ॥
रामसखाँ तेहि समय देखावा। सैल सिरोमनि सहज सुहावा ॥
प्रभु समीप सरित पय तीरा। सीय समेत बसहिं दोउ बीरा ॥

देखि करहिं सब दंड प्रनामा। कहि जय जानकि जीवन रामा॥
प्रेम मगन अस राज समाजू। जनु फिरि अवध चले रघुराजू॥

भरत प्रेमु तेहि समय जस, तस कहि सकइ न सेषु।
कविहि अगम जिमि ब्रह्मसुख, अह मम मलिन जनेषु॥२२५॥

व्याख्या—सबको मङ्गलसूचक शकुन हो रहे हैं। सुख देनेवाले और नेत्र और भुजाएँ फडक रही हैं। समाज-सहित भरतजी को उत्साह हो रहा है कि श्रीरामचन्द्रजी मिलेंगे और दुःख का दाह मिट जायगा जिसके जीमे जैसा है वैसा ही मनोरथ करता है। सब स्नेह रूपी मदिरा से छके चले जा रहे हैं। अङ्ग शिथिल हैं, पैर डगमगा रहे हैं और प्रेमवश विह्वल वचन बोल रहे हैं। रामसखा निषादराज ने उसी समय स्वाभाविक ही सुहावना पर्वत शिरोमणि कामदगिरि दिखलाया, जिनके निकट ही पयस्विनी नदी के तटपर सीताजी समेत दोनों भाई निवास करते हैं। सब लोग उस पर्वत को देखकर 'जानकि जीवन श्रीरामचन्द्रजी की जय हो!' ऐसा कहकर दण्डवत्-प्रणाम करते हैं। राज समाज प्रेम मे ऐसा मग्न है, मानो श्रीरघुनाथजी अयोध्या को लौट चले हो।

भरतजी का उस समय जैसा प्रेम था, वैसा शेषजी भी नही कह सकते। कवि के लिये तो वह वैसा ही अगम है जैसा अहंकार और ममता से मलिन मनुष्यो के लिये ब्रह्मानन्द।

अलंकार—अनुप्रास, रूपक, असम्बन्धातिशयोक्ति।

सकल सनेह सिथिल रघुबर कें। गए कोस दुइ दिनकर ढरकें॥
जलु थलु देखि बसे निसि बीतें। कीन्ह गवन रघुनाथ पिरीतें॥
उहाँ रामु रजनी अवसेषा। जागे सीयँ सपन अस देखा॥
सहित समाज भरत जनु आए। नाथ बियोग ताप तन ताए॥
सकल मलिन मन दीन दुखारी। देखीं सासु आन अनुहारी॥
सुनि सिय सपन भरे जल लोचन। भए सोच बस सोच बिमोचन॥
लखन सपन यह नीक न होई। कठिन कुचाल सुनाइहि कोई॥
अस कहि बंधु समेत नहाने। पूजि पुरारी साधु सनमाने॥

सनमानि सुर मुनि बंदि बैठे उतर दिसि देखत भए।
नभ धूरि खग मृग भूरि भागे बिकल प्रभु आश्रम गए॥
तुलसी उठे अवलोकि कारनु काह चित सचकित रहे।
सब समाचार किरात कोलन्हि आइ तेहि अवसर कहे॥
सुनत सुमंगल बैन मन, प्रमोद तन पुलक भर।
सरद सरोरुह नैन तुलसी, भरे सनेह जल॥२२६॥

व्याख्या—सब लोग श्रीरामचन्द्रजी के प्रेम से मारे शिथिल होने के कारण मूर्छित होने तक दो ही कोस चल पाये और जल-थल का सुपास देखकर रात को वहीं बिना खाये-पीये ही रह गये। रात बीतने पर श्रीरघुनाथजी के प्रेमी भरतजी ने आगे गमन किया। उधर श्रीरामचन्द्रजी रात शेष रहते ही जागे। रात को सीताजी ने ऐसा स्वप्न देखा मानो समाज सहित भरतजी यहाँ आये हैं। प्रभु के वियोग की अग्नि से उनका शरीर संतप्त है। सभी लोग मन में उदास, दीन और दुखी हैं। सासुओं को दूसरी ही सूरत में देखा। सीताजी का स्वप्न सुनकर श्रीरामचन्द्रजी के नेत्रों में जल भर आया और सबको सोच से छुड़ा देनेवाले प्रभु स्वयं सोच के वश हो गये। और बोले—लक्ष्मण! यह स्वप्न अच्छा नहीं है। बहुत ही बुरी खबर सुनावेगा ऐसा कहकर उन्होंने भाई सहित स्नान किया और त्रिपुरारि महादेवजी का पूजन करके साधुओं का सम्मान किया।

देवताओं का पूजन और मुनियों की वन्दना करके श्रीरामचन्द्रजी बैठ गये और उत्तर दिशा की ओर देखने लगे। आकाश में धूल छा रही है, बहुत से पक्षी और पशु व्याकुल होकर भागे हुए प्रभु के आश्रम को आ रहे हैं। तुलसीजी कहते हैं कि प्रभु श्रीरामचन्द्रजी यह देखकर उठे और सोचने लगे कि क्या कारण है? वे चित्त में आश्चर्ययुक्त हो गये। उसी समय कोल-भीलों ने आकर सब समाचार कहे।

तुलसीदासजी कहते हैं कि सुन्दर मङ्गल वचन सुनते ही श्रीरामजी के मन में बड़ा आनन्द हुआ। शरीर में पुलकावली छा गयी और शरद्-ऋतु के कमल नेत्र प्रेमाश्रुओं से भर गये।

अलंकार—रूपक अनुप्रास, उपमा।

बहुरि सोचबस भे सियरवनू। कारन कवन भरत आगवनू॥
एक आइ अस कहा बहोरी। सेन संग चतुरंग न थोरी॥
सो सुनि रामहि भा अति सोचू। इत पितु बच इत बंधु सकोचू॥
भरत सुभाउ समुझि मन माही। प्रभु चित हित थिति पावत नाहीं॥
समाधान तब भा यह जाने। भरतु कहे महुँ साधु सयाने॥
लखन लखेउ प्रभु हृदयँ खभारू। कहत समय सम नीति बिचारू॥
बिनु पूछे कछु कहउँ गोसाईं। सेवकु समयँ न ढीठ ढिठाई॥
तुम्ह सर्बग्य सिरोमनि स्वामी। आपनि समुझि कहउँ अनुगामी॥
नाथ सुहृद सुठि सरल चित, सील सनेह निधान।
सब पर प्रीति प्रतीति जियँ जानिअ आपु समान॥२२७॥

व्याख्या—सीतापति श्रीरामचन्द्रजी पुनः सोच के वश हो गये कि भरत के आने का क्या कारण है ? फिर एक ने आकर ऐसा कहा कि उनके साथ में बड़ी भारी चतुरङ्गिनी सेना भी है यह सुनकर श्रीरामचन्द्रजी को अत्यन्त सोच हुआ। इधर तो पिता के वचन और इधर भाई भरतजी का सकोच। भरतजी के स्वभाव को मन मे समझकर तो प्रभु श्रीरामचन्द्रजी चित्त को ठहराने के लिये कोई स्थान ही नही पाते है, तब यह जानकर समाधान हो गया कि भरत साधु और सयाने हैं तथा आज्ञाकारी हैं। लक्ष्मण जी ने देखा कि प्रभु श्रीरामजी के हृदय में चिन्ता है तो वे समय के अनुसार अपना नीतियुक्त विचार कहने लगे। हे स्वामी ! आपके बिना ही पूछे मैं कुछ कहता हूँ, सेवक समय पर ढिठाई करने से ढीठ नही समझा जाता अर्थात् आप पूछें तब मे कहूँ, ऐसा अवसर नही है, इसीलिये यह मेरा कहना ढिठाई नही होगा। हे स्वामी ! आप सर्वज्ञो मे शिरोमणि हैं मैं सेवक तो अपनी समझ की बात कहता हूँ।

हे नाथ ! आप परम सुहृद सरल हृदय तथा शील और स्नेह के भण्डार हैं, आपका सभी पर प्रेम और विश्वास है और अपने हृदय मे सबको अपने ही समान जानते हैं।

अलंकार—वृत्यनुप्रास।

विषई जीव पाइ प्रभुताई। मूढ़ मोह बस होहिं जनाई॥
भरतु नीति रत साधु सुजाना। प्रभु पद प्रेमु सकल जगु जाना॥
तेऊ आजु राम पदु पाई। चले धरम मरजाद मेटाई॥
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी। जानि राम बनवास एकाकी॥
करि कुमंत्र मन साजि समाजू। आए करै अकंटक राजू॥
कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई। आए दल बटोरि दोउ भाई॥
जौं जियँ होति न कपट कुचाली। केहि सोहाति रथ बाजि गजाली॥
भरतहि दोसु देइ को जाएँ। जग बौराइ राज पदु पाएँ॥

ससि गुर तिय गामी नहुषु, चढ़ेउ भूमिसुर जान।
लोक बेद तें बिमुख भा, अधम न बेन समान॥२२८॥

व्याख्या – परन्तु मूढ़ विषयी जीव प्रभुता पाकर मोहवश अपने असली स्वरूप को प्रकट कर देते हैं। भरत नीति परायण, साधु और चतुर हैं तथा प्रभु आपके चरणों में उनका प्रेम है, इस बात को सारा जगत् जानता है।

वे भरत भी आज श्रीरामजी का पद सिंहासन या अधिकार पाकर धर्म की मर्यादा को मिटाकर चले हैं। कुटिल, खोटे भाई भरत कुसमय देखकर और यह जानकर कि आप वनवास में अकेले हैं अपने मन में बुरा विचार करके, समाज सजकर राज्य को निष्कण्टक करने के लिये यहाँ आये हैं। यदि इनके हृदय में कपट और कुचाल न होती, तो रथ, घोड़े और हाथियों की कतार ऐसे समय किसे सुहाती? परन्तु भरत को ही व्यर्थ कौन दोष दे? राजपद पा जाने पर सारा जगत् ही पागल हो जाता है।

चन्द्रमा गुरुपत्नी गामी हुआ, राजा नहुष ब्राह्मणों की पालकी पर चढ़ा। और राजा वेन के समान नीच तो कोई नहीं होगा, जो लोक और वेद दोनों से विमुख हो गया।

अलंकार—दृष्टान्त, अनुप्रास।

सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥
भरत कीन्ह यह उचित उपाऊ। रिपु रिन रंच न राखब काऊ॥
एक कीन्हि नहिं भरत भलाई। निदरे रामु जानि असहाई॥
समुझि परिहि सोउ आजु बिसेषी। समर सरोष राम मुख पेखी॥

एतना कहत नीति रस भूला। रन रस बिटपु पुलक मिस फूला।।
प्रभु पद बंदि सीस रज राखी। बोले सत्य सहज बलु भाखी।।
अनुचित नाथ न मानब मोरा। भरत हमहि उपचार न थोरा।।
कहँ लगि सहिअ रहिअ मनमारें। नाथ साथ धनु हाथ हमारें।।

छत्रि जाति रघुकुल जनमु राम अनुग जगु जान।।
लातहुँ मारें चढति सिर नीच को धूरि समान।।२२९।।

व्याख्या—सहस्रबाहु, देवराज इन्द्र और त्रिशंकु आदि किसको राजमद ने कलङ्क नहीं दिया? भरत ने यह उपाय उचित ही किया है, क्योंकि शत्रु और ऋण को कभी जरा भी शेष नहीं रखना चाहिये। हां, भरत ने एक बात अच्छी नहीं की, जो आप को असहाय जानकर निरादर किया। पर आज संग्राम में श्रीरामजी का क्रोधपूर्ण मुख देखकर यह बात भी उनकी समझ में विशेष रूप से आ जायगी अर्थात् इस निरादर का फल भी वे अच्छी तरह पा जायेंगे।

इतना कहते ही लक्ष्मणजी नीतिरस भूल गये और युद्धरस रूपी वृक्ष पुलकावली के बहाने से फूल उठा। अर्थात् नीति की बात कहते-कहते उनके शरीर में वीर-रस छा गया। और स्वाभाविक बात कहते हुए बोले—हे नाथ! मेरा कहना अनुचित न मानियेगा। भरत ने हमें थोड़ा नहीं ललकारा है। आप ने हमारे साथ हैं और धनुष हमारे हाथ में है।

क्षत्रिय जाति, रघुकुल में जन्म और फिर मैं श्रीरामजी का अनुगामी सेवक हूँ, यह जगत् जानता है। फिर भला कैसे सहा जाय? धूलि के समान नीच कौन है, परन्तु वह भी लात मारने पर सिर ही चढती है।

अलंकार—दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा।

उठि कर जोरि रजायसु मागा। मनहुँ बीर रस सोवत जागा।।
बाँधि जटा सिर कसि भाथा। सजि सरासनु सायकु हाथा।।
आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ।।
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहु समर सेज दोउ भाई।।
आइ बना भल सकल समाजू। प्रकट करउँ रिस पाछिल आजू।।

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू । लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ॥
तैसेहिं भरतहि सेन समेता । सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥
जौं सहाय कर संकरु आई । तौ मारउँ रन राम दोहाई ॥
अति सरोष माखे लखनु लखि सुनि सपथ प्रवान।
सभय लोक सब लोकपति चाहत भभरि भगान ॥२३०॥

व्याख्या—यों कहकर लक्ष्मणजी ने उठकर हाथ जोड़कर आज्ञा मांगी। मानो वीररस सोते से जाग उठा हो। सिरपर जटा बांधकर कमर में तरकस कस लिया और धनुष को सजकर तथा बाण को हाथ में लेकर कहा आज मैं श्रीराम का सेवक होने का यश लूं और भरत को संग्राम में शिक्षा दूं। श्रीरामचन्द्रजी के निरादर का फल पाकर दोनो भाई रण-शय्या पर सोवें। अच्छा हुआ जो सारा समाज आकर एकत्र हो गया। आज मैं पिछला सब क्रोध प्रकट करूँगा। जैसा सिंह हाथियो के झुंड को कुचल डालता है और बाज जैसे लवा को लपेट मे ले लेता है, वैसे ही भरत को सेनासमेत और छोटे भाई सहित तिरस्कार करके मैदान मे पछाड़ूंगा। यदि शंकर जी भी सहायता करें तो भी मुझे रामजी की सौगन्ध है, मैं उन्हे युद्ध मे अवश्य मार डालूंगा।

अलंकार—उदाहरण, उत्प्रेक्षा अनुप्रास।

रस—वीर रस।

जगु भय मगन गगन भइ बानी । लखन बाहुबलु बिपुल बखानी ॥
तात प्रताप प्रभाउ तुम्हारा । को कहि सकइ को जाननिहारा ॥
अनुचित उचित काजु किछु होऊ । समुझि करिअ भल कह सबु कोऊ ॥
सहसा करि पाछें पछिताहीं । कहहिं बेद बुध ते बुध नाहीं ॥
सुनि सुर बचन लखन सकुचाने । राम सीयँ सादर सनमाने ॥
कही तात तुम्ह नीति सुहाई । सब तें कठिन राजमदु भाई ॥
जो अचवंत नृप मातहिं तेई । नाहिन साधुसभा जेहिं सेई ॥
सुनहु लखन भल भरत सरीसा । बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा ॥

भरतहि होइ न राजमदु, बिधि हरि हर पद पाइ।
कबहुँ कि काँजी सीकरनि छीरसिंधु बिनसाइ ॥२३१॥

व्याख्या—सारा जगत् भय मे डूब गया। तब लक्ष्मणजी के अपार बाहुबल की प्रशंसा करती हुई आकाशवाणी हुई—हे तात! तुम्हारे प्रताप और प्रभाव को कौन कह सकता है और कौन जान सकता है? परन्तु कोई भी काम हो, उसे अनुचित-उचित खूब समझ-बूझकर किया जाय, तो सब कोई अच्छा कहते है। वेद और विद्वान् कहते है कि जो बिना विचारे जल्दी मे किसी काम को करते है वे पीछे पछताते हैं। वे बुद्धिमान् नही हैं। देव वाणी सुनकर लक्ष्मणजी सकुचा गये। श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी ने उनका आदर के साथ सन्मान किया और कहा—हे तात! तुमने बडी सुन्दर नीति कही। हे भाई! राज्य का मद सबसे कठिन मद है, जिन्होने साधुओ की सभा का सत्सग नही किया, वे ही राजा राजमद रूपी मदिरा का आचमन करते ही मतवाले हो जाते हैं। हे लक्ष्मण! सुनो, भरत-सरीखा उत्तम पुरुष ब्रह्मा की सृष्टि मे न तो कही सुना गया हैं, न देखा ही गया है।

अयोध्या के राज्य की तो बात ही क्या है। ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का पद पाकर भी भरत को राज्य का मद नही होने का! क्या कभी काँजी की बूँदो से क्षीर समुद्र फट सकता है।

अलंकार—अनुप्रास, दृष्टान्त

तिमिरु तरुन तरनिहि मकु गिलई। गगनु मगन मकु मेघहि मिलई॥
गोपद जल बूडहि घटजोनी। सहज छमा बरु छाडहि छोनी॥
मसक फूँक मकु मेरु उडाई। होइ न नृप मदु भरतहि भाई॥
लखन तुम्हार सपथ पितु आना। सुनि सुबंधु नहि भरत समाना॥
सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपचु बिधाता॥
भरतु हस रबिबस तडागा। जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा॥
गहि गुन पय तजि अवगुन बारी। निज जस जगत कीन्हि उजिआरी॥
कहत भरत गुन सीलु सुभाऊ। प्रेम पयोधि मगन रघुराऊ॥

सुनि रघुबर बानी बिबुध, देखि भरत पर हेतु।
सकल सराहत राम सो, प्रभु को कृपानिकेतु॥२३२॥

शब्दार्थ—तिमिरु=अन्धकार। अरुन=मध्यान्ह का सूर्य। मकु=शायद। घटजोनी=अगस्त्य जी। छोनी=पृथ्वी। मसक=मच्छर। छीरु=दूध। परपंचु=जगत।

संदर्भ—प्रस्तुत प्रसंग में राम भरत के महत्त्व का वर्णन करते हुए कह रहे हैं।

व्याख्या—अन्धकार चाहे मध्याह्न के सूर्य को निगल जाय, आकाश चाहे बादलों में समा कर मिल जाय, गौ के खुर इतने जल में अगस्त्यजी डूब जायें और पृथ्वी चाहे अपनी स्वाभाविक सहनशीलता को छोड़ दे मच्छर की फूँक से चाहे सुमेरु उड़ जाय, परन्तु हे भाई! भरत को राजमद कभी नहीं हो सकता। हे लक्ष्मण! मैं तुम्हारी शपथ और पिताजी की सौगन्ध खाकर कहता हूँ, कि भरत के समान पवित्र और उत्तम भाई संसार में नहीं है। हे तात! गुणरूपी दूध और अवगुण रूपी जल को मिलाकर विधाता इस दृश्य-प्रपंच जगत् को रचता है। परन्तु भरत ने सूर्यवंश रूपी तालाब में हंस रूप जन्म लेकर गुण और दोष दोनों को अलग-अलग कर दिया। गुण रूपी दूध को ग्रहण कर और अवगुण रूपी जल को त्याग कर भरत ने अपने यश से जगत् में उजियाला कर दिया है। भरतजी के गुण, शील और स्वभाव को कहते-कहते श्रीरघुनाथ जी प्रेम समुद्र में मग्न हो गये।

श्रीरामचन्द्रजी की वाणी सुनकर और भरतजी पर उनका प्रेम देखकर समस्त देवता उनकी सराहना करने लगे और कहने लगे कि श्रीरामचन्द्रजी के समान कृपा के धाम प्रभु और कौन हैं?

अलंकार—दृष्टान्त, उपमा, रूपक।

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥
कबि कुल अगम भरत गुन गाथा। को जानइ तुम्ह बिनु रघुनाथा॥
लखन राम सियँ सुनि सुर बानी। अति सुखु लहेउ न जाइ बखानी॥
इहाँ भरतु सब सहित सहाए। मंदाकिनीं पुनीत नहाए॥
सरित समीप राखि सब लोगा। मागि मातु गुर सचिव नियोगा॥

चले भरतु जहँ सिय रघुराई। साथ निषादनाथु लघु भाई॥
समुझि मातु करतब सकुचाहीं। करत कुतरकु कोटि मन माहीं॥
रामु लखनु सिय सुनि मम नाउँ। उठि जनि अनत जाहिं तजि ठाउँ॥

मातु मते महुँ मानि मोहि, जो कछु करहिं सो थोर।
अघ अवगुन छमि आदरहिं, समुझि आपनी ओर॥२३३॥

शब्दार्थ—धुर=धुरी। अगम=कल्पना से अतीत। सचिव=मंत्री। नियोगा=आज्ञा। कुतरक=सोच-विचार और चिन्तन। अनत=दूसरे स्थान को। मते=सलाह। अघ=पाप।

संदर्भ—भरत राम के आश्रम की ओर बढ रहे हैं। वे मन में सोचते हैं कि कहीं उनके आने की बात से राम-लखन सीता उठकर कहीं अन्यत्र न चले जायें। यदि वे माता के मत में मुझे समझेंगे तो अवश्य ही ऐसा करेंगे और अपने विरद को समझ कर ही मुझे क्षमा करेंगे। प्रस्तुत प्रसंग भी भरत के इसी अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है।

व्याख्या—यदि जगत्में भरतका जन्म न होता, तो पृथ्वीपर सम्पूर्ण धर्मों की धुरी को कौन धारण करता? हे रघुनाथजी! कविकुलके लिये अगम भरतजीके गुणोंकी कथा आपके सिवा और कौन जान सकता है? लक्ष्मणजी, श्रीरामचन्द्रजी और सीताजीने देवताओं की वाणी सुनकर अत्यन्त सुख पाया, जो वर्णन नहीं किया जा सकता। यहाँ भरतजीने सारे समाज के साथ पवित्र मन्दाकिनीमें स्नान किया। फिर सबको नदीके समीप ठहराकर तथा माता, गुरु और मन्त्रीकी आज्ञा माँगकर निषादराज और शत्रुघ्नको साथ लेकर भरतजी वहाँको चले, जहाँ श्रीसीताजी और श्रीरघुनाथजी थे। भरतजी अपनी माता कैकेयीकी करनीको याद करके सकुचाते हैं और मनमें अनेकों कुतर्क करते हैं। वे सोचते हैं श्रीराम, लक्ष्मण और सीताजी मेरा नाम सुनकर स्थान छोडकर कहीं दूसरी जगह उठकर न चले जायें।

मुझे माताके मतमें मानकर वे कुछ भी करें थोडा है, पर वे अपने विरद

और सम्बन्ध को देखकर मेरे पापों और अवगुणोंको क्षमा करके मेरा आदर ही करेंगे।

अलंकार—अनुप्रास।

जौं परिहरहिं मलिन मनु जानी। जौं सनमानहिं सेवकु मानी॥
मोरें सरन रामहि की पनही। राम सुस्वामि दोसु सब जनही॥
जग जस भाजन चातक मीना। नेम प्रेम निज निपुन नबीना॥
अस मन गुनत चले मग जाता। सकुच सनेहँ सिथिल सब गाता॥
फेरति मनहुँ मातु कृत खोरी। चलत भगति बल धीरज धोरी॥
जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उताइल पाऊ॥
भरत दसा तेहि अवसर कैसी। जल प्रवाहँ जल अलि गति जैसी॥
देखि भरत कर सोचु सनेहू। भा निषाद तेहि समयँ बिदेहू॥

लगे होन मंगल सगुन, सुनि गुनि कहत निषादु॥
मिटिहि सोचु होइहि हरषु, पुनि परिनाम बिषादु॥२३४॥

शब्दार्थ—सनमानहिं=मेरा सम्मान करें। पनही=जूतियाँ। गुनत=सोचते हुए। कृत=की हुई। खोरी=दोष। धोरी=धुरी। उताइल=जल्दी। अलि=भौंरे। बिदेहू=देह की सुध-बुध भूल गए।

संदर्भ—भरत राम के आश्रम की ओर बढ़ते जा रहे हैं। माता के दोषपूर्ण कृत्यों को समझकर उनके पैर जल्दी-जल्दी आगे को उठ जाते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में भरत के इसी अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है।

व्याख्या—चाहे मलिन-मन जानकर मुझे त्याग दें, चाहे अपना सेवक मानकर मेरा सम्मान करें? मेरे तो श्रीरामचन्द्रजीकी जूतियाँ ही शरण हैं। श्रीरामचन्द्रजी तो अच्छे स्वामी हैं, दोष तो सब दास का ही है। जगत्में यशके पात्र तो चातक और मछली ही हैं, जो अपने नेम और प्रेमको सदा नया बनाये रखने में निपुण हैं। ऐसा मन में सोचते हुए भरतजी मार्ग में चले जाते हैं। उनके सब अङ्ग संकोच और प्रेमसे शिथिल हो रहे हैं।

माताकी की हुई बुराई मानो उन्हे लौटाती है, पर धीरज की धुरीको धारण करने वाले भरतजी भक्तिके बलसे चले जाते हैं। जब श्रीरघुनाजी के स्वभावको समझते हैं, तब मार्गमे उनके पैर जल्दी-जल्दी पडने लगते हैं। उस समय भरतकी दशा कैसी है, जैसी जलके प्रवाहमे जलके भौरेकी गति होती है। भरतजीका सोच और प्रेम देखकर उस समय निषाद देह की सुध-बुध भूल गया।

मङ्गल शकुन होने लगे। उन्हे सुनकर और विचारकर निषाद कहने लगा—सोच मिटेगा, हर्ष होगा, पर फिर अन्त मे दुःख होगा।

अलंकार—दृष्टान्त।

सेवक वचन सत्य सब जाने। आश्रम निकट जाइ निअराने॥
भरत दीख बन सैल समाजू। मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू॥
ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिध ताप पीडति ग्रह मारी॥
जाइ सुराज सुदेस सुखारी। होहिं भरत गति तेहि अनुहारी॥
राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥
सचिव बिरागु बिबेकु नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥
भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥
सकल अंग संपन्न सुराऊ। राम चरन आश्रित चित चाऊ॥

जीति मोह महिपालु, दल सहित बिबेक भुआलु।
करत अकंटक राज पुर, सुख संपदा सुकालु॥२३५॥

शब्दार्थ—निअराने=समीप आ गये। मुदित=प्रसन्न। छुधित=भूखा। सुनाजू=अच्छा भोजन। त्रिविध ताप=आध्यात्मिक, आधिदैविक और आदि-भौतिक। ईति=अधिक जल बरसना, न बरसना चूहो का उत्पात, टिड्डियाँ, तोते, दूसरे राजा की चढाई—खेती मे बाधा देने वाले इन छः उपद्रवो को ईति कहते हैं। भ्राजा=सुशोभित। संपति=सम्पत्ति। यम=अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। नियम=शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान। सकल अंग=स्वामी, अमात्य, सुहृद, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना राज्य के सात अंग हैं।

नील सघन पल्लव फल लाला। अविरल छाहँ सुखद सब काला॥
मानहुँ तिमिर अरुनमय रासी। बिरची बिधि सँकेलि सुषमासी॥
ए तरु सरित समीप गोसाँई। रघुबर परनकुटी जहँ छाई॥
तुलसी तरुबर बिबिध सुहाए। कहुँ कहुँ सियँ कहुँ लखन लगाए॥
बट छायाँ बेदिका बनाई। सियँ निज पानि सरोज सुहाई॥

जहाँ बैठि मुनिगन सहित, नित सिय रामु सुजान।
सुनहिं कथा इतिहास सब, आगम निगम पुरान॥२३७॥

शब्दार्थ—जम्बु=जामुन। रसाल=आम। अविरल=घनी। रासी=ढेर समूह।

संदर्भ—प्रस्तुत प्रसंग में केवट भरत को राम का आश्रम दिखाता हुआ कह रहा है—

व्याख्या—तब केवट दौड़कर ऊँचे चढ़ गया और भुजा उठाकर भरतजीसे कहने लगा—हे नाथ! ये जो पाकर, जामुन, आम और तमालके विशाल वृक्ष दिखायी देते हैं, जिन श्रेष्ठ वृक्षोंके बीचमें एक सुन्दर विशाल बड़का वृक्ष सुशोभित है, जिसको देखकर मन मोहित हो जाता है, उसके पत्ते नीले और सघन हैं और उसमें लाल फल लगे हैं। उसकी घनी छाया सब ऋतुओंमें सुख देनेवाली है। मानो ब्रह्माजीने परम शोभाको एकत्र करके अन्धकार और लालिमामयी राशि-सी रच दी है। हे गोसाईं! ये वृक्ष नदीके समीप हैं, जहाँ श्रीरामकी पर्णकुटी छायी है। वहाँ तुलसीजी के बहुत-से सुन्दर वृक्ष सुशोभित हैं, जो कहीं-कहीं सीताजी ने और कहीं लक्ष्मणजी ने लगाये हैं। इसी बड़की छायामें सीताजीने अपने कर कमलों से सुन्दर वेदी बनायी है।

यहाँ सुजान श्रीसीतारामजी मुनियोंके वृन्द समेत बैठकर नित्य शास्त्र, वेद और पुराणों तथा कथा-इतिहास सुनते हैं।

अलंकार—अनुप्रास, उत्प्रेक्षा।

सखा वचन सुनि विटप निहारी। उमगे भरत बिलोचन वारी॥
रत प्रनाम चले दोउ भाई। कहत प्रीति सारद सकुचाई॥
रषहिं निरखि राम-पद अंका। मानहुँ पारस पायेउ रका॥
रज सिरधरि हिय नयनन्हि लावहिं। रघुबर मिलन सरिस सुख पावहिं॥
देखि भरत गति अकथ अतीवा। प्रेम मगन मृग खग जड़ जीवा॥
सखहिं सनेह विवस मग भूला। कहि सुपंथ सुर बरसहिं फूला॥
निरखि सिद्ध साधक अनुरागे। सहस सनेह सराहन लागे॥
होत न भूतल भाव भरत को। अचर सचर चर अचर करत को॥
दो०—प्रेम अमिय मन्दर विरह, भरत पयोधि गंभीर।
मथि प्रगटे सुर साधु हित, कृपासिन्धु रघुवीर॥ २३८॥

शब्दार्थ—सखा = निषादराज। अंका = चिन्ह। अतीवा = अनिवर्चनीय। मन्दरु = मन्दराचल।

सदर्भ—भरत निषादराज के साथ जा रहे है। वे राम के प्रेम मे मग्न हो रहे हैं। उनके प्रेम की सभी सराहना कर रहे है।

व्याख्या—सखा निषादराज के वचन सुनकर और राम की विश्राम स्थली के वृक्षो को देखकर भरत जी के नेत्रो मे जल उमड आया। दोनो भाई प्रणाम करते हुए आगे बढे। उनके प्रेम का वर्णन करते हुए सरस्वती भी सकुचाती है।

श्रीरामचन्द्रजी के चरणचिह्न देखकर दोनो भाई ऐसे हर्षित होते है, मानो दरिद्र को पारसमणि मिल गई हो। वे वहाँ की रजको मस्तक पर रखकर हृदय मे और नेत्रो मे लगाते हैं और श्रीरघुनाथजी के मिलने के समान सुख प्राप्त करते है। भरतजी की अत्यन्त अनिर्वचनीय दशा देखकर वन के पशु, पक्षी और जड वृक्षादि जीव प्रेम मे मग्न हो गये। प्रेम के विशेष वश होने से सखा निषादराज को भी रास्ता भूल गया। तब देवता सुन्दर रास्ता बतलाकर फूल बरसाने लगे। भरत के प्रेम की इस स्थिति को देखकर सिद्ध और साधक लो भी अनुराग से भर गये और उनके स्वाभाविक प्रेम की प्रशंसा करने लगे औ कहने लगे कि यदि इस पृथ्वीतल पर भरत का जन्म न होता, तो जड व चेतन और चेतन को जड़ कौन करता?

प्रेम अमृत है, विरह मन्दराचल पर्वत है, भरतजी गहरे समुद्र हैं। कृपा के समुद्र श्रीरामचन्द्रजी ने देवता और साधुओं के हित के लिये स्वयं इस भरतरूपी गहरे समुद्र को अपने विरहरूपी मन्दराचल से मथकर यह प्रेमरूपी अमृत प्रकट किया है।

अलंकार—हरषहि [illegible]का' में उत्प्रेक्षा, दोहे में सांगरूपक, यत्र तत्र अनुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास।

सखा समेत मनोहर जोटा। लखेउ न लखन सघन बन ओटा॥
भरत दीख प्रभु आश्रम पावन। सकल सुमंगल-सदन सुहावन॥
करत प्रवेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा॥
देखे भरत लखन प्रभु आगे। पूछे बचन कहत अनुरागे॥
सीस जटा कटि मुनिपट बांधे। तून कसे कर सर धनु कांधे॥
वेदी पर मुनि साधु समाजू। सीय सहित राजत रघुराजू॥
वलकल वसन जटिल तन स्यामा। जनु मुनि बेष कीन्ह रति कामा॥
कर कमलनि धनुसायक फेरत। जिय की जरनि हरत हँसि हेरत॥

दो०—लसत मंजु मुनि मंडली, मध्य सीय रघुचंद।
ज्ञान सभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानंद॥ २३९॥

व्याख्या—सखा निषादराज सहित इस मनोहर जोड़ी को सघन वन की आड़ के कारण लक्ष्मणजी नहीं देख पाये। भरतजी ने प्रभु श्रीरामचन्द्रजी के समस्त सुमङ्गलों के धाम और सुन्दर पवित्र आश्रम को देखा। आश्रम में प्रवेश करते ही भरतजी का दुःख और दाह मिट गया, मानो योगी को परमार्थ की प्राप्ति हो गयी हो। भरतजी ने देखा कि लक्ष्मणजी प्रभु के आगे खड़े हैं और पूछे हुए वचन प्रेमपूर्वक कह रहे हैं। सिरपर जटा है, कमर में मुनियों का वस्त्र बाँधे हैं और उसी में तरकस कसे हैं। हाथ में बाण तथा कंधे पर धनुष है, वेदी पर मुनि तथा साधुओं का समुदाय बैठा है और सीताजी सहित श्रीरघुनाथजी विराजमान हैं। श्रीरामजी के वल्कल वस्त्र हैं, जटा धारण किये हैं, श्याम शरीर है। सीतारामजी ऐसे लगते हैं मानो रति और कामदेव ने मुनि का वेष धारण किया हो। श्रीरामजी अपने कर कमलों से धनुष-बाण फेर रहे हैं,

ओर हँसकर देखते ही जी की जलन हर लेते हैं अर्थात् जिसकी ओर भी एक बार हँसकर देख लेते है, उसी को परम आनन्द और शान्ति मिल जाती है।

सुन्दर मुनि मण्डली के बीच मे सीताजी और रघुकुलचन्द्र श्रीरामचन्द्रजी ऐसे सुशोभित हो रहे है, मानो ज्ञान की सभा मे साक्षात् भक्ति और सच्चिदानन्द शरीर धारण करके विराजमान हैं।

अलकार—सहोक्ति, वृत्यनुप्रास, उत्प्रेक्षा।

सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष-सोक सुख-दुख गन॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाई। भूतल परे लकुट की नाई॥
बचन सप्रेम लखन पहिचाने। करत प्रनाम भरत जिय जाने॥
बन्धु सनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब सेवा बरजोरा॥
मिलि न जाइ नहि गुदरत बनई। सुकवि लखन मन की गति भनई॥
रहे राखि सेवा पर भारू। चढी चग जनु खैंच खेलारू॥
कहत सप्रेम नाइ महि माथा। भरत प्रनाम करत रघुनाथा॥
उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निखग धनु तीरा॥

दो०—बरबस लिए उठाय उर, लाये कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि, बिसरे सबहि अपान॥ २४०॥

शब्दार्थ—पाहि=रक्षा करो। लकुट=दड। बरजोरा=परवशता। गुदरत=उपेक्षा करना। भनई=वर्णन करना। चग=पतग। खेलारू=खिलाडी।

सदर्भ—भरत राम के आश्रम मे पहुँचकर लकुट की तरह गिर पडते है। लक्ष्मण यह समाचार राम को देते है। राम प्रेम-अधीर भरत से मिलने को दौड पडते है।

व्याख्या—छोटे भाई शत्रुघ्न और सखा निषादराज समेत भरतजी का मन प्रेम मे मग्न हो रहा है। हर्ष-शोक, सुख दुख आदि सब भूल गये। 'हे नाथ! रक्षा कीजिये, हे गुसाई!' रक्षा कीजिये, ऐसा कहकर वे पृथ्वी पर दण्ड की तरह गिर पडे। प्रेम भरे वचनो से लक्ष्मणजी ने उन्हे पहचान लिया और मन मे जान लिया कि भरतजी प्रणाम कर रहे है। वे श्रीरामजी की ओर मुँह किये

खड़े थे, भरतजी पीठ-पीछे थे, इससे उन्होंने देखा नहीं। अब इस ओर तो भाई भरतजी का सरस प्रेम और उधर स्वामी श्रीरामचन्द्रजी की सेवा की प्रबल परवशता। न तो क्षण भर के लिये भी सेवा से पृथक् होकर मिलते ही बनता है और न प्रेमवश उपेक्षा करते ही। कोई श्रेष्ठ कवि ही लक्ष्मणजी के चित्त की इस दुविधा का वर्णन कर सकता है। वे सेवा को ही विशेष महत्त्वपूर्ण समझकर उसीमें लगे रहे, मानो चढ़ी हुई पतङ्ग को पतङ्ग उड़ाने वाला खींच रहा हो। लक्ष्मणजी ने प्रेम सहित पृथ्वी पर मस्तक नवाकर कहा—हे रघुनाथजी! भरतजी प्रणाम कर रहे हैं। यह सुनते ही श्रीरघुनाथजी प्रेम में अधीर होकर उठे। कहीं वस्त्र गिरा, कहीं तरकस, कहीं धनुष और कहीं बाण।

कृपानिधान श्री रामचन्द्रजी ने उनको जबरदस्ती उठाकर हृदय से लगा लिया। भरतजी और श्रीरामजी के मिलने की रीति को देखकर सबको अपनी सुध भूल गयी।

अलंकार—सहोक्ति, अनुप्रास, उत्प्रेक्षा।

मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबि-कुल-अगम करम मन बानी॥
परम-प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥
कहहु सुप्रेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई॥
कबिहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा॥
अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि-हरि-हर को॥
सो मैं कुमति कहौं केहि भाँती। बाज सुराग कि गाँडर ताँती॥
मिलनि बिलोकि भरत रघुबर की। सुर गन सभय धकधकी धरकी॥
समुझाये सुरगुरु जड़ जागे। बरषि प्रसून प्रसंसन लागे॥

दो.—मिलि सप्रेम रिपुसूदनहि, केवट भेंटेउ राम।
भूरि भाय भेंटे भरत, लछिमन करत प्रनाम॥२४१॥

सदर्भ—प्रस्तुत प्रसंग में भरत और राम के मिलन का वर्णन है।

व्याख्या—मिलन की प्रीति कैसे बखानी जाय? वह तो कविकुल के लिये कर्म, मन, वाणी तीनों से अगम है। दोनों भाई मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को भुलाकर परम प्रेम से पूर्ण हो रहे हैं। कहिये, उस श्रेष्ठ प्रेमको

कौन प्रकट करे ? कवि की बुद्धि किसकी छाया का अनुसरण करे ? कवि को तो अक्षर और अर्थ का ही सच्चा बल है। नट ताल की गति के अनुसार ही नाचता है। भरतजी और श्री रघुनाथजी का प्रेम अगम्य है, जहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महादेव का भी मन नही जा सकता, उस प्रेम को मैं कुबुद्धि किस प्रकार कहूँ! भला, गाडर की ताँत से भी कही सुन्दर राग बज सकता है। (तालावो और झीलो मे एक तरह की घास होती है, उसे गाँडर कहते हैं) भरतजी और श्रीरामचन्द्रजी के मिलने का ढंग देखकर देवता भयभीत हो गये, उनकी धुकधुकी धडकने लगी। देवगुरु वृहस्पतिजी ने समझाया, तब कही वे मूर्ख चेते और फूल वरसा कर प्रशंसा करने लगे।

फिर श्रीरामजी प्रेम के साथ शत्रुघ्न से मिलकर तब केवट से मिले। प्रणाम करते हुए लक्ष्मणजी से भरतजी वडे ही प्रेम से मिले।

भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई। बहुरि निषाद लीन्ह उर लाई॥
पुनि मुनिगन दुहुँ भाइन्ह बन्दे। अभिमत आसिष पाइ अनन्दे॥
सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय-पद पदमु परागा॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाये। सिर कर कमल परसि बैठाये॥
सीय असीस दीन्हि मन माहीं। मगन सनेह देह सुधि नाहीं॥
सब विधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर वीता॥
कोउ कछु कहइ न कोउ कछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा॥
तेहि अवसर केवट धीरज धरि। जोरि पानि बिनवत प्रनाम करि॥

दो०—नाथ साथ मुनि नाथ के, मातु सकल पुर लोग।
सेवक सेनप सचिव सब, आये विकल वियोग॥२४२॥

व्याख्या—तब लक्ष्मणजी बडी उमग के साथ छोटे भाई शत्रुघ्न से मिले। फिर उन्होने निषादराज को हृदय से लगा लिया। फिर भरत शत्रुघ्न दोनो भाइयो ने उपस्थित मुनियो को प्रणाम किया और इच्छित आशीर्वाद पाकर वे आनन्दित हुए। छोटे भाई शत्रुघ्न सहित भरतजी प्रेम मे उमङ्गकर सीताजी के चरण कमलो की रज सिर पर धारण कर बार-बार प्रणाम करने लगे। सीताजी ने उन्हे उठाकर अपने कर कमल से सिर

पर हाथ फेरकर बैठाया । सीताजी ने मन-ही-मन आशीर्वाद दिया । क्योंकि वे स्नेह में मग्न हैं, उन्हें देह की सुध-बुध नहीं है । सीताजी को सब प्रकार से अपने अनुकूल देखकर भरतजी सोच रहित हो गये और उनके हृदय का कल्पित भय जाता रहा । उस समय न तो कोई कुछ कहता है, न कोई कुछ पूछता है। मन प्रेम से परिपूर्ण है, वह संकल्प-विकल्प और चाञ्चल्य से शून्य है। उस अवसर पर केवट धीरज धर और हाथ जोड़कर प्रणाम करके विनती करने लगा ।

हे नाथ ! मुनिनाथ वशिष्ठजी के साथ माताएँ, नगर निवासी, सेवक, सेनापति, मन्त्री सब आपके वियोग से व्याकुल होकर आये हैं ।

अलंकार—अनुप्रास ।

सील सिंधु सुनि गुरु आगवनू । सिय समीप राखे रिपुदमनू ॥
चले सबेग राम तेहि काला । धीर - धरम - धुर दीनदयाला ॥
गुरहि देख सानुज अनुरागे । दण्ड प्रनाम करन प्रभु लागे ॥
मुनिवर धाइ लिये उर लाई । प्रेम उमगि भेंटे दोउ भाई ॥
प्रेम पुलकि केवट कहि नामू । कीन्ह दूरि तें दंड प्रनामू ॥
रामसखा रिषि बरबस भेंटा । जनु महि लुटत सनेह समेटा ॥
रघुपति भगति सुमंगल मूला । नभ सराहि सुर बरषहिं फूला ॥
एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं । बड़ बसिष्ठ को सम जग माहीं ॥
दो०—जेहि लखि लखनहुँ तें अधिक, मिले मुदित मुनि राउ ।
सो सीता-पति-भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ ॥२४२॥

व्याख्या—गुरु का आगमन सुनकर शील के समुद्र श्रीरामचन्द्रजी ने सीताजी के पास शत्रुघ्नजी को रख दिया और वे परम धीर, धर्म धुरन्धर, दीनदयाल श्रीरामचन्द्रजी उसी समय वेग के साथ चल पड़े । गुरुजी के दर्शन करके लक्ष्मणजी सहित प्रभु श्रीरामचन्द्रजी प्रेम में भर गये और दण्डवत्-प्रणाम करने लगे । मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठजी ने दौड़कर उन्हें हृदय से लगा लिया और प्रेम में उमङ्ग-कर वे दोनों भाइयों से मिले । फिर प्रेम से पुलकित होकर केवट ने अपना नाम लेकर दूर ही से वशिष्ठजी को दण्डवत्-प्रणाम किया । ऋषि वशिष्ठजी ने

राम-सखा जानकर उसको जबर्दस्ती हृदय से लगा लिया। मानो पृथ्वी पर लोटते हुए प्रेम को समेट लिया हो। श्री रघुनाथजी की भक्ति सुन्दर मङ्गलों का मूल है। इस प्रकार कहकर सराहना करते हुए देवता आकाश से फूल बरसाने लगे। वे कहने लगे—जगत् मे इसके समान सर्वथा नीच कोई नही और वशिष्ठजी के समान बडा कौन है ?

जिस निषाद को देखकर मुनिराज वशिष्ठजी लक्ष्मणजी से भी अधिक उससे आनन्दित होकर मिले। यह सब सीतापति श्रीरामचन्द्रजी के भजन का प्रत्यक्ष प्रताप और प्रभाव है।

अलंकार—वृत्यनुप्रास।

आरत लोग राम सब जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥
जो जेहि भाय रहा अभिलाखी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुचि राखी॥
सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्ह दूरि दुख-दारुन-दाहू॥
यह बडि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रवि छाँही॥
मिलि केवटहि उमगि अनुरागा। पुरजन सकल सराहहिं भागा॥
देखी राम दुखित महतारी। जनु सुबेलि अवली हिम मारी।
प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभाय भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥

दो०—भेटीं रघुबर मातु सब, करि प्रबोध परितोष।
अब ईस आधीन जग, काहु न देइय दोष॥२४४॥

व्याख्या—दया की खान, सुजान भगवान् श्रीरामजी ने सब लोगो को मिलने के लिये व्याकुल जाना। तब जो जिस भाव से मिलने का अभिलाषी था, उस-उसका, उस-उस प्रकार का उसकी रुचि के अनुसार उन्होने लक्ष्मणजी-सहित पल भर मे सब किसी से मिलकर उनके दुःख और कठिन सताप को दूर कर दिया। श्रीरामचन्द्रजी के लिये यह कोई बडी बात नही है। जैसे करोडो घडो मे एक ही सूर्य की पृथक्-पृथक् छाया एक साथ ही दीखती है। समस्त पुरवासी प्रेम मे उमँगकर केवट से मिलकर उसके भाग्य की सराहना करते है। श्रीरामजी ने सब माताओ को दुखी देखा। मानो सुन्दर लताओ की पंक्तियो

जो पाला मार गया हो। सबसे पहले रामजी कैकेयी से मिले और अपने सरल स्वभाव तथा भक्ति से उनका समाधान किया। फिर चरणों में गिरकर काल, कर्म और विधाता के सिर दोष मँढकर, श्रीरामजी ने उनको सान्त्वना दी।

फिर श्रीरघुनाथजी सब माताओं से मिले। उन्होंने सबको समझा-बुझाकर सन्तोष कराया कि हे माता! जगत् ईश्वर के अधीन है। किसी को भी दोष नहीं देना चाहिये।

अलंकार—अनुप्रास, दृष्टान्त।

गुरु-तिय-पद-बंदे दुहुँ भाई। सहित बिप्र तिय जे सँग आई॥
गंग-गौरि सम सब सनमानी। देहिं असीस मुदित मृदुबानी॥
गहि पद लगे सुमित्रा अंका। जनु भेंटी संपति अति रंका॥
पुनि जननी चरननि दोउ भ्राता। परे प्रेम ब्याकुल सब गाता॥
अति अनुराग अंब उर लाये। नयन सनेह सलिल अन्हवाये॥
तेहि अवसर कर हरष बिषादू। किमि कबि कहइ मूक जिमि स्वादू॥
मिलि जननिहिं सानुज रघुराऊ। गुरसन कहेउ कि धारिय पाऊ॥
पुरजन पाइ मुनीस नियोगू। जल थल तकि तकि उतरे लोगू॥
दो०—महिसुर मंत्री मातु गुरु, गने लोग लिये साथ।
पावन आस्रम गमनु किय, भरत लखन रघुनाथ॥२४५॥

व्याख्या—फिर दोनों भाइयों ने ब्राह्मणों की स्त्रियों सहित, जो भरतजी के साथ आयी थीं, गुरुजी की पत्नी अरुन्धतीजी के चरणों की वन्दना की और उन सबका गङ्गाजी तथा गौरीजी के समान सम्मान किया। वे सब आनन्दित होकर कोमल वाणी से आशीर्वाद देने लगीं। तब दोनों भाई पैर पकड़कर सुमित्राजी की गोद में जा चिपटे। मानो किसी अत्यन्त दरिद्र को सम्पत्ति से भेंट हो गयी। फिर दोनों भाई माता कौसल्याजी के चरणों में गिर पड़े। प्रेम के मारे उनके सारे अङ्ग शिथिल हैं। बड़े ही स्नेह से माता ने उन्हें हृदय से लगा लिया और नेत्रों से बहे हुए प्रेमाश्रुओं के जल से उन्हें नहला दिया। उस समय के हर्ष और विषाद को कवि कैसे कहे? जैसे गूँगा स्वाद को कैसे बतावें।

श्रीरघुनाथजी ने छोटे भाई लक्ष्मणजीसहित माता कौसल्या से मिलकर गुरु से कहा कि आश्रम पर पधारिये। तदनन्तर मुनीश्वर वशिष्ठजी की आज्ञा पाकर अयोध्यावासी लोग जल और थल का सुभीता देख-देखकर उतर गये।

ब्राह्मण, मन्त्री, माताएँ और गुरु आदि गिने-चुने लोगो को साथ लिये, हुए, भरतजी, लक्ष्मणजी और श्रीनाथजी पवित्र आश्रमको चले।

अलंकार—उपमा, वृत्यनुप्रास।

सीय आइ मुनि-वर पग लागी। उचित असीस लही मनमाँगी॥
गुरु पतिनिहि मुनि तियन्ह समेता। मिली प्रेम कहि जाइ न जेता॥
बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिर बचन लहे प्रिय जी के॥
सासु सकल जब सीय निहारी। मूँदे नैन सहमि सुकुमारी॥
परी बधिक बस मनहुँ मराली। काह कीन्ह करतार कुचाली॥
तिन्ह सिय निरखि निपट दुख पावा। सो सब सहिय जो दैउ सहावा॥
जनकसुता तब उर धरि धीरा। नील-नलिन-लोचन भरि नीरा॥
मिली सकल सासुन्ह सिय जाई। तेहि अवसर करुना महि छाई॥

दो०—लागि लागि पग सबनि सिय, भेंटति अति अनुराग।
हृदय असीसहि प्रेमबस, रहिहहु भरी सोहाग॥२८६॥

व्याख्या—सीताजी आकर मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठजी के चरणो लगी और उन्होने मनमाँगी उचित आशिष पायी। फिर मुनियो की स्त्रियोसहित गुरु पत्नी अरुन्धतीजी से मिली। उनका जितना प्रेम था, वह कहा नही जाता। सीताजी ने सभी के चरणो की अलग-अलग वन्दना करके अपने हृदय को प्रिय लगने वाले आशीर्वाद पाये। जब सुकुमारी सीताजी ने सब सासुओ को देखा तब उन्होने सहमकर अपनी आँखें बन्द कर ली। सासुओ की बुरी दशा देखकर उन्हे ऐसा प्रतीत हुआ मानो राजहंसिनियाँ बधिक के वश मे पड गयी हो। वे मनमे सोचने लगी कि कुचाली विधाता ने क्या कर डाला? उन्होने भी सीताजी को देखकर बडा दुःख पाया और सोचा कि जो कुछ दैव सहावे, वह सब सहना ही पडता है। तब जानकीजी हृदय मे धीरज धरकर, नील कमल के

साथ आप अयोध्यापुरी को पधारिये (लौट जाइये)। आप यहाँ हैं और राजा अमरावती (स्वर्ग) में हैं (अयोध्या सूनी है)। मैंने बहुत कह डाला, यह सब बड़ी ढिठाई की है। हे गोसाईं! जैसा उचित हो वैसा ही कीजिये।

वशिष्ठजी ने कहा—हे राम! तुम धर्म के सेतु और दया के धाम हो, तुम भला ऐसा क्यों न कहो? लोग दुखी हैं। दो दिन तुम्हारा दर्शन कर शान्ति लाभ कर लें।

अलङ्कार—अनुप्रास, रूपक, दृष्टान्त।

राम वचन सुनि सभय समाजू। जनु जलनिधि महुँ विकल जहाजू॥
सुनि गुरुगिरा सु मंगल-मूला। भयहु मनहुँ मारुत अनुकूला॥
पावन पय तिहुँ काल नहाहीं। जो बिलोकि अघ ओघ नसाहीं॥
मंगल मूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दण्डवत करि करि॥
राम-सैल-बन देखन जाहीं। जहँ सुख सकल सकल दुख नाहीं॥
झरना झरहिं सुधा सम बारी। त्रि-बिधि ताप हर त्रिविध बयारी॥
बिटप बेलि तृन अगनित जाती। फल प्रसून पल्लव बहु भाँती॥
सुन्दर सिला सुखद तरु छाहीं। जाइ बरनि छवि बन केहि पाहीं॥
दो०—सरनि सरोरुह जल बिहँग, कूजत, गुंजत भृंग।
बैर बिगत बिहरत बिपिन, मृग बिहग बहुरंग॥२४६॥

व्याख्या—श्रीरामजी के वचन सुनकर सारा समाज भयभीत हो गया। मानो बीच समुद्र में जहाज डगमगा गया हो। परन्तु जब उन्होंने गुरु वशिष्ठजी की श्रेष्ठ कल्याण मूलक वाणी सुनी, तो उस जहाज के लिये मानो हवा अनुकूल हो गयी। सब लोग पवित्र पयस्विनी नदी में तीनों समय सबेरे, दोपहर और सायकाल स्नान करते हैं, जिसके दर्शन से ही पापों के समूह नष्ट हो जाते हैं और मङ्गल मूर्ति श्रीरामचन्द्रजी को दण्डवत्-प्रणाम कर-करके उन्हें नेत्र भर-भर देखते हैं। सब श्रीरामचन्द्रजी पर्वत (कामदगिरि) और वन को देखने जाते है, जहाँ सभी सुख हैं और सभी दुःखों का अभाव है। झरने अमृत के समान जल झरते हैं और तीन प्रकार की शीतल, मन्द, सुगन्ध हवा तीनों प्रकार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तापों को हर लेती है।

असंख्य जाति के वृक्ष, लताएँ और तृण है, तथा बहुत तरह के फल, फूल और पत्ते है। सुन्दर शिलाएँ वृक्षो की छाया सुख देने वाली है। वनकी शोभा किससे वर्णन की जा सकती है। तालावो मे कमल खिल रहे हैं, जलके पक्षी कूज रहे हैं और बहुत रंगो के पक्षी और पशु वनमे वैर रहित होकर विहार कर रहे है।

अलकार—अनुप्रास, उत्प्रेक्षा उपमा।

कोल किरात भिल्ल वनबासी। मधु सुचि सुंदर स्वादु सुधा सी॥
भरि भरि परनपुटीं रचि रूरी। कद मूल फल अकुर जूरी॥
सबहि देहिं करि विनय प्रनामा। कहि कहि स्वादु भेद गुन नामा॥
देंहि लोग बहु मोल न लेहीं। फेरत राम दोहाई देहीं॥
कहहिं सनेह मगन मृदुबानी। मानत साधु प्रेम पहिचानी॥
तुम्ह सुकृती हम नीच निषादा। पावा दरसन रामप्रसादा॥
हमहिं अगम अति दरस तुम्हारा। जस मरु धरनि देव-धुनि-धारा॥
राम कृपाल निषाद नेवाजा। परिजन प्रजउ चहिय जस राजा॥

दो०—यह जिय जानि सकोच तजि, करिय छोह लखि नेहु।
हमहिं कृतारथ करन लगि, फल तृन अकुर लेहु॥२५०॥

व्याख्या—कोल, किरात और भील आदि वनके रहने वाले लोग पवित्र, सुन्दर एव अमृत के समान स्वादिष्ट मधु के सुन्दर दोने बनाकर और उनमे भर-भरकर तथा कन्द, मूल, फल और अकुर आदि की जूडियो को सबको विनय और प्रणाम करके उन चीजो के अलग-अलग स्वाद, भेद गुण और नाम बता-बताकर देते है। लोग उनका बहुत दाम देते हैं, पर वे नही लेते और लौटा देने मे श्रीरामजी की दुहाई देते हैं। प्रेम मे मग्न हुए वे कोमल वाणी से कहते है कि साधु लोग प्रेम को पहचानकर उसका सम्मान करते है। आप तो पुण्यात्मा हैं, हम नीच निषाद है। श्रीरामजी की कृपा से ही हमने आप लोगो के दर्शन पाये हैं। हम लोगो को आपके दर्शन बडे ही दुर्लभ है, जैसे मरुभूमि के लिये गङ्गाजी की धारा दुर्लभ है। देखिये, कृपालु श्रीरामचन्द्रजी ने निषाद पर कैसी कृपा की है। जैसा राजा है, वैसा ही उनके परिवार और प्रजा को भी होना चाहिये।

हृदय में ऐसा जानकर सकोच छोड़कर और हमारा प्रेम देखकर कृपा कीजिये और हमको कृतार्थ करने के लिये ही फल, तृण और अकुर लीजिये।

अलकार—दृष्टान्त।

तुम्ह प्रिय पाहुन बन पग धारे। सेवा जोग न भाग हमारे॥
देव कहा हम तुम्हहि गोसाईं। ईंधन पात किरात मिताई॥
यह हमारि अति बडि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई॥
हम जड़ जीव जीव गन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥
पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं॥
सपनेहुँ धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघुनदन-दरस प्रभाऊ॥
जब तें प्रभु पद-पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥
बचन सुनत पुरजन अनुरागे। तिन्ह के भाग सराहन लागे॥

छद—लागे सराहन भाग सब अनुराग बचन सुनावहीं।
बोलनि मिलनि सिय-राम-चरन सनेह लखि सुख पावहीं॥
नरनारि निदरहिं नेह निज सुनि कोल भिल्लनि की गिरा।
तुलसी कृपा रघुबस-मनि की लोह लेइ नौका तिरा॥

सो०—बिहरहिं बन चहुँ ओर, प्रतिदिन प्रमुदित लोग सब।
जल ज्यों दादुर मोर, भये पीन पावस प्रथम॥२५१॥

व्याख्या—आप प्रिय पाहुने वन में पधारे हैं। आपकी सेवा करने के योग्य हमारे भाग्य नहीं है। हे स्वामी! हम आपको क्या देवें? भीलों की मित्रता तो बस, ईधन, लकड़ी और पत्तों ही तक है। हमारी तो यही बड़ी भारी सेवा है कि हम आपके कपड़े और बर्तन नहीं चुरा लेते। हम लोग जड़ जीव हैं, जीवों की हिंसा करने वाले हैं, कुटिल, कुचाली, कुबुद्धि और कुजाति हैं। हमारे दिन-रात पाप करते ही बीतते हैं। तो भी न तो हमारी कमर में कपड़ा है और न पेट ही भरते हैं। हममें स्वप्न में भी कभी धर्म बुद्धि कैसी? यह सब तो श्रीरघुनाथजी के दर्शन का प्रभाव है। जब से प्रभु के चरण कमल देखे, तब से हमारे दुःसह दुःख और दोष मिट गये। वन वासियों के वचन सुनकर अयोध्या के लोग प्रेम में भर गये और उनके भाग्य की सराहना करने लगे।

सब उनके भाग्य की सराहना करने लगे और प्रेम के वचन सुनाने लगे। उन लोगो के बोलने और मिलने का ढग तथा श्री सीतारामजी के चरणो मे उनका प्रेम देखकर सब सुख पा रहे हैं। उन कोल-भीलो की वाणी सुनकर सभी नर-नारी अपने प्रेम का निरादर करते है, उसे धिक्कार देते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि यह रघुवशमणि श्रीरामचन्द्रजी की कृपा है कि लोहा नौका को अपने ऊपर लेकर तैर गया।

सब लोग दिनो दिन परम आनन्दित होते हुए वन मे चारो ओर विचरते हैं। जैसे पहली वर्षा के जल से मेढक और मोर मोटे हो जाते है (प्रसन्न होकर नाचते कूदते हैं)।

अलंकार—वृत्यनुप्रास, दृष्टान्त।

पुरजनि नारि मगन अति प्रीती। बासर जाँहि पलक सम बीती ॥
सीय सासु प्रति वेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई ॥
लखा न मरम राम बिनु काहू। माया सब सिय माया माँहू ॥
सीय सासु सेवा बस कीन्ही। तिन्ह लहि सुख सिख आसिष दीन्ही ॥
लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई ॥
अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु विधि मीच न देई ॥
लोकहु वेद विदित कवि कहहीं। राम विमुख थल नरक न लहहीं ॥
यह ससउ सब के मन माही। राम गमन विधि अवध कि नाहीं ॥

दो०—निसि न नींद नहिं भूख दिन, भरत बिकल सुचि सोच।
नीच कीच बिच मगन जस, मीनहि सलिल सँकोच ॥२५२॥

व्याख्या—अयोध्यापुरी के पुरुष और स्त्री सभी प्रेम मे अत्यन्त मग्न हो रहे हैं। उनके दिन पल के समान बीत जाते हैं। जितनी सासुएँ थी, उतने ही वेष बनाकर सीताजी सब सासुओ की आदरपूर्वक एक-सी सेवा करती है। श्री रामचन्द्रजी के सिवा इस भेद को और किसी ने नही जाना। सब माताएँ श्रीसीताजी की माया मे ही है। सीताजी ने सासुओ को सेवा से वश मे कर लिया। उन्होने सुख पाकर सीख और आशीर्वाद दिये। सीताजीसमेत दोनो भाइयो का सरल स्वभाव देखकर कुटिल रानी कैकेयी भर पेट पछतायी। वह

पृथ्वी तथा यमराज से याचना करती है, किन्तु धरती फटकर समा जाने के लिये रास्ता नही देती और विधाता मौत नही देता। लोक और वेद मे प्रसिद्ध है और कवि ज्ञानी भी कहते हैं कि जो श्रीरामजी से विमुख हैं, उन्हे नरक मे भी ठौर नही मिलती। सबके मन मे यह सन्देह हो रहा था कि हे विधाता ! श्रीरामचन्द्रजी का अयोध्या जाना होगा या नही।

भरतजी को न तो रात को नीद आती है न दिन मे भूख ही लगती है। वे पवित्र सोच मे ऐसे विकल हैं, जैसे नीचे तल के कीचड मे डूबी हुई मछली को जल की कमी से व्याकुलता होती है।

अलकार—दृष्टान्त।

कीन्हि मातु मिस काल कुचाली। ईति भीति जस पातक साली।
केहि विधि होइ राम अभिषेकू। मोहि अवकलत उपाय न एकू॥
अवसि फिरहिं गुरु आयसु मानी। मुनि पुनि कहब रामरुचि जानी॥
मातु कहेहु बहुरहिं रघुराऊ। रामजननि हठ करबि कि काऊ॥
मोहि अनुचर कर केतिक बाता। तेहि महँ कुसमउ बाम विधाता॥
जौं हठ करउँ त निपट कुकरमू। हरगिरि ते गुरु सेवक धरमू॥
एकउ जुगुति न मन ठहरानी। सोचत भरतहि रैनि बिहानी॥
प्रात नहाइ प्रभुहि सिर नाई। बैठत पठये रिषयँ बोलाई॥

दो०—गुरु पद-कमल प्रनाम करि, बैठे आयसु पाइ।
विप्र महाजन सचिव सब, जुरे सभासद आइ॥२५३॥

शब्दार्थ— मिस = बहाने। साली = धान। भीति = भय। अवकलत = सूझ पडता। हरगिरि = कैलाश पर्वत। बिहानी = समाप्त होगयी।

व्याख्या— भरतजी सोचते हैं कि माता के मिस से काल ने कुचाल की है। जैसे धान के पकते समय ईति का भय आ उपस्थित हो। अब श्रीरामचन्द्रजी का राज्याभिषेक किस प्रकार हो, मुझे तो एक भी उपाय नही सूझ पडता। गुरुजी की आज्ञा मानकर तो श्रीरामजी अवश्य ही अयोध्या को लौट चलेंगे। परन्तु मुनि वशिष्ठजी तो श्रीरामचन्द्रजीकी रुचि जानकर ही कुछ कहेंगे। माता कौशल्याजी के कहने से भी श्रीरघुनाथजी लौट सकते हैं, पर

भला, श्रीरामजी को जन्म देने वाली माता क्या कभी हठ करेगी ? मुझ सेवक की तो बात ही कितनी है ? उसमें भी मेरे दिन अच्छे नहीं हैं और विधाता प्रतिकूल है। यदि मैं हठ करता हूँ तो वह घोर अधर्म होगा; क्योंकि सेवक का धर्म शिवजी के पर्वत कैलास से भी भारी है। एक भी युक्ति भरतजी के मन में न ठहरी। सोचते-ही-सोचते रात बीत गयी। भरतजी प्रातःकाल स्नान करके और प्रभु श्रीरामचन्द्रजी को सिर नवाकर बैठे ही थे कि ऋषि वशिष्ठजी ने उनको बुलवा भेजा।

भरतजी गुरु के चरण कमलों में प्रणाम करके आज्ञा पाकर बैठ गये। उसी समय ब्राह्मण, महाजन, मन्त्री आदि सभी सभासद आकर जुट गये।

१. अलङ्कार--कैतवापन्हुति, काकु वक्रोक्ति, रूपक

२. अन्तर्द्वन्द्व का सुन्दर चित्रण है

बोले मुनिवर समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना ॥
धरम धुरीन भानु - कुल-भानू। राजा राम स्ववस भगवानू ॥
सत्यसंध पालक स्रुतिसेतू। राम जनम जग मंगल हेतू ॥
गुरु-पितु-मातु-वचन - अनुसारी। खल-दल-दलन देव-हित-कारी ॥
नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न रामसम जान जथारथ ॥
बिधिहरि हर ससि रवि दिसिपाला। माया जीव करम कुल काला ॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई ॥
करि विचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के ॥
दो०—राखे राम रजाइ रुख, हम सब कर हित होइ ॥
समुझि सयाने करहु अब, सब मिल संमत सोइ ॥२५४॥

व्याख्या—सभासदों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं सूर्यकुल के सूर्य महाजन श्रीरामचन्द्र धर्म धुरन्धर और स्वतन्त्र भगवान् हैं। वे सत्यप्रतिज्ञ हैं और वेद की मर्यादा के रक्षक हैं। श्रीरामजी का अवतार ही जगत् के कल्याण के लिये हुआ है। वे गुरु, पिता और माता के वचनों के अनुसार चलने वाले हैं। दुष्टों के दल का नाश करने वाले और देवताओं के हितकारी हैं। नीति प्रेम, परमार्थ और स्वार्थ को श्रीरामजी के समान यथार्थ कोई नहीं जानता। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, चन्द्र, सूर्य, दिक्पाल, माया, जीव, सभी कर्म और काल

शेषजी और पृथ्वी एवं पाताल के अन्याय राजा आदि जहाँ तक प्रभुता है, और योग की सिद्धियाँ, जो वेद और शास्त्रों मे गायी गयी हैं, हृदय मे अच्छी तरह विचार कर देखो, तो यह स्पष्ट दिखायी देगा कि श्रीरामजी की आज्ञा इन सभी के सिर पर है।

अतएव श्रीरामजी की आज्ञा और रुख रखने मे ही हम सबका हित होगा। इस तत्व और रहस्य को समझकर अब तुम सयाने लोग जो सबको सम्मत हो, वही मिलकर करो।

सब कहँ सुखद राम अभिषेकू। मङ्गल-मोद-मूल मग एकू ॥
केहि विधि अवधि चलहिं रघुराऊ। कहहु समुझि सोइ करिय उपाऊ ॥
सब सादर सुनि मुनि बरबानी। नय परमारथ-स्वारथ - सानी ॥
उतर न आव लोग भये भोरे। तब सिर नाइ भरत कर जोरे ॥
भानुबंस भये भूप घनेरे। अधिक एक तें एक बड़ेरे ॥
जनम हेतु सब कहँ पितु-माता। करम सुभासुभ देइ विधाता ॥
दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जग जाना ॥
सोइ गोसाइँ विधि गति जेहि छेंकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी ॥

दो०—बूझिय मोहि उपाय अब, सो सब मोर अभाग ।
सुनि सनेह-मय-बचन गुरु, उर उमगा अनुराग ॥२५५॥

व्याख्या—वसिष्ठजी सभा को सम्बोधन करते हुए कहते हैं—श्रीरामजी का राज्याभिषेक सबके लिये सुखदायक है। मङ्गल और आनन्द का मूल यही मार्ग है। श्रीरघुनाथजी अयोध्या किस प्रकार चलें ? विचार कर कहो, वही उपाय किया जाय मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजी की नीति, परमार्थ और लौकिक हित मे सनी हुई वाणी सबने आदर पूर्वक सुनी। पर किसी को कोई उत्तर नहीं आता, सब लोग भोले विचार शक्ति से रहित हो गये। तब भरत ने सिर नवाकर हाथ जोड़े और कहा सूर्य वंश में एक से एक अधिक बड़े बहुत से राजा हो गये हैं। सभी के जन्म के कारण पिता-माता होते हैं और शुभ-अशुभ कर्मों का फल विधाता देते हैं। संसार मे आपकी आशिष ही ऐसी है जो दुःखों का दमन करके, समस्त कल्याणों को सज देती है। हे स्वामी ! आप विधाता की गति

को भी रोक देने वाले है। आपने जो निश्चय कर दिया उसे कौन टाल सकता है।

अब आप मुझसे उपाय पूछते है, यह सब मेरा अभाग्य है। भरतजी के प्रेममय वचनो को सुनकर गुरुजी के हृदय मे प्रेम उमड़ आया।

तात बात फुरि राम कृपाहीं। राम बिमुख सिधि सपनेहु नाहीं ॥
सकुचउँ तात कहत एक बाता। अरध तजहिं बुध सरबस जाता ॥
तुम्ह कानन गवनहु दोउ भाई। फेरिय लषन सीय रघुराई ॥
सुनि सुबचन हरषे, दोउ भ्राता। भे प्रमोद-परि-पूरन गाता ॥
मन प्रसन्न तनु तेज बिराजा। जनु जिय राउ राम भये राजा ॥
बहुत लाभ लोगन्ह लघु हानी। सम दुख सुख सब रोवहिं रानी ॥
कहहिं भरत मुनि कहा सो कीन्हे। फल जग जीवन अभिमत दीन्हे ॥
कानन करउँ जन्म भरि बासू। एहि तें अधिक न मोर सुपासू ॥

दो०—अन्तरजामी राम सिय, तुम सरबज्ञ सुजान ।
जौं फुर कहहु तो नाथ निज, कीजिय बचन प्रमान ॥२५६॥

व्याख्या—भरत के प्रेममय वचनो को सुनकर गुरु वशिष्ठ कहते हैं कि तात ! बात सत्य है, पर है रामजी की कृपा से ही। रामविमुख को तो स्वप्न मे भी सिद्धि नही मिलती। हे तात ! मै एक बात कहने मे सकुचाता हूँ। बुद्धिमान् लोग सर्वस्व जाता देखकर आधे की रक्षा के लिये आधा छोड दिया करते हैं, अतः तुम दोनो भाई भरत-शत्रुघ्न वन को जाओ और लक्ष्मण, सीता और श्रीरामचन्द्र को लौटा दिया जाय। ये सुन्दर वचन सुनकर दोनो भाई हर्षित हो गये। उनके सारे अङ्ग परमानन्द से परिपूर्ण हो गये उनके मन प्रसन्न हो गये ! शरीर मे तेज सुशोभित हो गया। मानो राजा दशरथ जी उठे हो और श्रीरामचन्द्रजी राजा हो गये हो ! अन्य लोगो को तो इसमे लाभ अधिक और हानि कम प्रतीत हुई। परन्तु रानियो को दुःख-सुख समान ही थे। राम-लक्ष्मण बनमे रह या भरत-शत्रुघ्न, उनको दो पुत्रो का वियोग तो रहेगा ही। यह समझकर वे सब रोने लगी। भरतजी कहने लगे—मुनि ने जो कहा, वह करने से जगत् भर के जीवो को उनकी इच्छित वस्तु देने का फल

होगा। मैं जन्मभर वनमें वास करूँगा। मेरे लिये इससे बढ़कर और कोई सुख नहीं है।

श्रीरामचन्द्रजी और सीताजी हृदय की जानने वाले हैं और आप सर्वज्ञ तथा सुजान हैं। यदि आप यह सत्य कह रहे हैं तो हे नाथ! अपने वचनो के अनुसार व्यवस्था कीजिये।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

भरत वचन सुनि देखि सनेहू। सभा सहित मुनि भयउ विदेहू॥
भरत-महा-महिमा जलरासी। मुनिमति ठाढ़ि तीर अबला सी॥
गा चह पार जतनु हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा॥
अउर करहि को भरत बड़ाई। सर सीपी की सिंधु समाई॥
भरत मुनिहि मन भीतर भाये। सहित समाज राम पहिं आये॥
प्रभु प्रनाम करि दीन्ह सुआसन। बैठे सब सुनि मुनि अनुसासन॥
बोले मुनिवर बचन बिचारी। देस काल अवसर अनुहारी॥
सुनहु राम सरबज्ञ सुजाना। धरम-नीति-गुन-ज्ञान-निधाना॥
दो०—सबके उर अन्तर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ।
पुरजन-जननी-भरत-हित, होय सो कहिय उपाउ॥२५७॥

व्याख्या—भरतजी के वचन सुनकर और उनका प्रेम देखकर सारी सभा सहित मुनि वशिष्ठजी विदेह हो गये। भरतजी की महान् महिमा समुद्र है, मुनिकी बुद्धि उसके तटपर अबला स्त्री के समान खड़ी है। वह उस समुद्र के पार जाना चाहती है, इसके लिये उसने हृदय में उपाय भी ढूँढे, पर उसे पार करने का साधन नाव, जहाज या बेड़ा कुछ भी नहीं पाती। भरतजी की बड़ाई और कौन करेगा? तलैया की सीपी मे भी कहीं समुद्र समा सकता है? मुनि वशिष्ठजी की अन्तरात्मा को भरतजी बहुत अच्छे लगे और वे समाज सहित श्रीरामजी के पास आये। प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने प्रणाम कर उत्तम आसन दिया। सब लोग मुनि की आज्ञा सुनकर बैठ गये। श्रेष्ठ मुनि देश, काल और अवसरके अनुसार विचार करके वचन बोले—हे सर्वज्ञ! हे सुजान! हे धर्म, नीति, गुण और ज्ञान के भण्डार राम! सुनिये।

आप सबके हृदय के भीतर बसते है और सबके भले-बुरे भावको जानते हैं। जिसमे पुरवासियो का, माताओ का और भरत का हित हो, वही उपाय बतलाइये।

अलकार—"भरत" ' "अवलासी" मे उपमा सहित समाज मे सहोक्ति। यत्र-तत्र अनुप्रास।

आरत कहहिं विचारि न काऊ। सूझ जुआरिहि आपुन दाऊ॥
सुनि मुनि वचन कहत रघुराऊ। नाथ तुम्हारेहि हाथ उपाऊ॥
सब कर हित रुख राउरि राखे। आयसु किये मुदित फुर भाखे॥
प्रथम जो आयसु मो कहँ होई। माथे मानि करउँ सिख सोई॥
पुनि जेहि कहँ जस कहब गोसाईं। सो सब भाँति घटिहि सेवकाई॥
कह मुनि राम सत्य तुम भाखा। भरत-सनेह विचार न राखा॥
तेहि तें कहउँ बहोरि बहोरी। भरत-भगति-बस भइ मति मोरी॥
मोरे जान भरतरुचि राखी। जो कीजिय सो सुभ सिव साखी॥
दो०—भरत विनय सादर सुनिय, करिय विचार बहोरि।
करब साधुमत लोकमत, नृपनय निगम निचोरि॥२५८॥

व्याख्या—वशिष्ठजी कहते हैं कि दुखी लोग कभी विचार कर नही कहते। जुआरी को अपना-ही दाँव सूझता है। मुनि के वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी कहने लगे—हे नाथ! उपाय तो आप ही के हाथ है। आपका रुख रखने मे और आपकी आज्ञा को सत्य कहकर प्रसन्नता पूर्वक पालन करने मे ही सबका हित है। पहले तो मुझे जो आज्ञा हो, मैं उसी आज्ञा को माथे पर चढाकर कार्य करूँ फिर हे गोसाईं! आप जिसको जैसा कहेंगे वह सब तरह से सेवा मे लग जायगा। मुनि वशिष्ठजी कहने लगे—हे राम! तुमने सच कहा। पर भरत के प्रेमने विचार को नही रहने दिया, इसीलिये मैं बार-बार कहता हूँ, मेरी बुद्धि भरत की भक्ति के वश हो गयी है। मेरी समझ में तो भरत की रुचि रखकर जो कुछ किया जायगा, शिवजी साक्षी हैं, वह सब शुभ ही होगा।

पहले भरत की विनती आदरपूर्वक सुन लीजिये, फिर उस पर विचार कीजिये। तब साधुमत, लोकमत, राजनीति और वेदो का सार निकालकर वैसा ही उसी के अनुसार कीजिये।

गुरु अनुराग भरत पर देखी। राम हृदय आनन्दु विसेखी॥
भरतहिं धरम-धुरधर जानी। निज सेवक तन मानस-बानी॥
बोले गुरु-आयसु-अनुकूला। बचन मंजु मृदु मंगल मूला॥
नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भयउ न भुवन भरत सम भाई॥
जे गुरु-पद-अंबुज-अनुरागी। ते लोकहुँ वेदहुँ बड़भागी॥
राउर जा पर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥
लखि लघुबंधु बुद्धि सकुचाई। करत बदन पर भरत बड़ाई॥
भरत कहहिं सोइ किये भलाई। अस कहि राम रहे अरगाई॥

दो०—तब मुनि बोले भरत सन, सब संकोच तजि तात।
कृपासिंधु प्रियबंधु सन, कहहु हृदय की बात॥२५९॥

व्याख्या—भरतजी पर गुरुजी का स्नेह देखकर श्रीरामचन्द्रजी के हृदय मे विशेष आनन्द हुआ। भरतजी को धर्म धुरन्धर और तन, मन, वचन से अपना सेवक जानकर श्रीरामचन्द्रजी गुरु की आज्ञा के अनुकूल मनोहर, कोमल और कल्याण के मूल वचन बोले—हे नाथ! आपकी सौगंध और पिताजी के चरणों की दुहाई है, मैं सत्य कहता हूँ कि विश्वभर मे भरत के समान भाई कोई हुआ ही नहीं, जो लोग गुरु के चरण कमलों के अनुरागी हैं, वे लौकिक दृष्टि से भी और पारमार्थिक दृष्टि से भी बड़भागी होते है। फिर जिस पर आप का ऐसा स्नेह है, उस भरत के भाग्य को कौन कह सकता है? छोटा भाई जानकर भरतके मुँह पर उसकी बड़ाई करने मे मेरी बुद्धि सकुचाती है। फिर भी मैं तो यही कहूँगा कि भरत जो कुछ कहे, वही करने मे भलाई है। ऐसा कहकर श्रीरामचन्द्रजी चुप हो रहे।

तब मुनि भरतजी से बोले—हे तात! सब सकोच त्यागकर कृपा के समुद्र अपने प्यारे भाई से अपने हृदय की बात कहो।

सुनि मुनि बचन राम रुख पाई। गुरु साहिब अनुकूल अघाई॥
लखि अपने सिर सब छरु भारू। कहि न सकहिं कछु करहिं बिचारू॥
पुलकि सरीर सभा भये ठाढ़े। नीरज नयन नेह जल बाढ़े॥
कहब मोर मुनिनाथ निबाहा। एहि तें अधिक कहउँ मैं काहा॥

मै जानउँ निजनाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥
मो पर कृपा सनेह विसेखी। खेलत खुनस न कबहूँ देखी॥
सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥
मै प्रभु कृपा रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥
दो०—महूँ सनेह-सकोच-वस, सनमुख कहे न बैन।
दरसन तृषित न आजु लगि, प्रेम पियासे नैन॥२६०॥

व्याख्या—मुनि के वचन सुनकर और श्रीरामचन्द्रजी का रुख पाकर—गुरु तथा स्वामी को भरपेट अपने अनुकूल जानकर—सारा बोझ अपने ही ऊपर समझकर भरतजी कुछ कह नही सकते। वे विचार करने लगे और शरीर से पुलकित होकर सभा में खडे हो गये। कमल के समान नेत्रो मे प्रेमाश्रुओ की बाढ़ आ गयी। वे बोले—मेरा कहना तो मुनिनाथ ने ही निवाह दिया, जो कुछ मैं कह सकता था वह उन्होने ही कह दिया। इसमे क्या कहूँ ? अपने स्वामी का स्वभाव मैं जानता हूँ। वे अपराधी पर भी कभी क्रोध नही करते। मुझ पर तो उनकी विशेष कृपा और स्नेह है। मैंने खेलमे भी कभी उनकी अप्रसन्नता नही देखी। बचपन से ही मैंने उनका साथ नही छोडा और उन्होने भी मेरे मनको कभी नही तोडा। मैंने प्रभु की कृपा की रीति को हृदय में भली भाँति अनुभव किया है। मेरे हारने पर भी खेल मे प्रभु मुझे जिता देते रहे है।

मैंने भी प्रेम और सकोचवश कभी सामने मुँह नही खोला। प्रेम के प्यासे मेरे नेत्र आज तक प्रभु के दर्शन से तृप्त नही हुए।

अलकार—वृत्यनुप्रास, अनुप्रास, उपमा, रूपक।

विधि न सकेउ सहि मोर दुलारा। नीच बीचु जननी मिस पारा॥
यहउ कहत मोहि आजु न शोभा। अपनी समुझि साधु सुचि को भा॥
मातु मंद मैं साधु सुचाली। उर अस आनत कोटि कुचाली॥
फरइ कि कोदव बालि सुसाली। मुकता प्रसव कि संबुक ताली॥
सपनेहु दोस कलेस न काहू। मोर अभाग उदधि अवगाहू॥
बिनु समुझे निज-अघ-परिपाकू। जारिउँ जाय जननि कहि काकू॥
हृदय हेरि हारेउँ सब ओरा। एकहि भाँति भलेहि भल मोरा॥
गुरु गोसाईं साहिब सियरामू। लागत मोहि नीक परिनामू॥

दो०—साधु-सभा-गुरु प्रभु-निकट, कहउँ सुथल सतिभाउ ॥
प्रेम प्रपञ्च कि झूठ फुर, जानहिं मुनि रघुराउ ॥२६१॥

व्याख्या—भरतजी कहते हैं कि विधाता मेरा दुलार न सह सका। उसने नीच माता के बहाने मेरे और स्वामी के बीच अन्तर डाल दिया। यह भी कहना आज मुझे शोभा नहीं देता। क्योंकि अपनी समझ से कौन साधु और पवित्र हुआ है। जिनको दूसरे साधु और पवित्र मानें, वही साधु है। माता नीच है और मैं सदाचारी और साधु हूँ, ऐसा हृदय मे लाना ही करोड़ दुराचारो के समान है। क्या कोदो की बाली उत्तम धान फल सकती है? क्या काली घोंघी मोती उत्पन्न कर सकती है। स्वप्न में भी किसी को दोष का लेश भी नहीं है। मेरा अभाग्य ही अथाह समुद्र है। मैंने अपने पापों का परिणाम समझे बिना ही माता को कटु वचन कहकर व्यर्थ ही जलाया। मैं अपने हृदय मे सब ओर खोजकर हार गया, मेरी भलाई का कोई साधन नहीं सूझता। एक ही प्रकार के निश्चय से मेरा भला है। वह यह है कि गुरु महाराज सर्व समर्थ हैं और श्री सीतारामजी मेरे स्वामी है। इसी से परिणाम मुझे अच्छा जान पड़ता है। मैं साधुओं की सभा मे गुरुजी और स्वामी के समीप इस पवित्र तीर्थ स्थान मे सत्य भाव से कहता हूँ। यह प्रेम है या छल-कपट झूठ है या सच? इसे सर्वज्ञ मुनि वशिष्ठजी और अन्तर्यामी श्री रघुनाथजी जानते हैं।

अलङ्कार—कैतवापन्हुति, काकु वक्रोक्ति, दृष्टान्त, अनुप्रास।

भूपति मरन प्रेम पनु राखी। जननी कुमति, जगत सब साखी ॥
देखि न जाहिं बिकल महतारी। जरहिं दुसह ज्वर पुर-नर-नारी ॥
महीं सकल अनरथ कर मूला। सो सुनि समुझि सहेउँ सब सूला ॥
सुनि बन गवन कीन्ह रघुनाथा। करि मुनिबेष लखन-सिय-साथा ॥
बिनु पानहिन्ह पयादेहि पायें। संकर साखि रहेउँ एहि घायें ॥
बहुरि निहारि निषाद सनेहू। कुलिस कठिन उर भयउ न बेहू ॥
अब सब आँखिन्ह देखेउँ आई। जियत जीव जड़ सबइ सहाई ॥
जिन्हहि निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी ॥

दो०—तेइ रघुनन्दन लषन सिय अनहित लागे जाहि ।
तासु तनय तजि दुसह, दुख, दैव सहावइ काहि ।।२६२।।

व्याख्या—भरत कहते हैं कि प्रेम के प्रणको निवाहकर पिताजी का मरना और माता की कुबुद्धि, दोनो का सारा ससार साक्षी है । माताएँ व्याकुल है, वे देखी नही जाती । अवधपुरी के नर-नारी दुःसह दुःख मे जल रहे हैं । मैं ही इन सारे अनर्थों का मूल हूँ, यह सुन और समझकर मैंने सब दुःख सहा है । श्रीरघुनाथजी लक्ष्मण और सीताजी के साथ मुनियो का सा वेष धारण कर विना जूते पहने पैदल ही वन को चले गये, यह सुनकर शङ्करजी साक्षी हैं, इस घाव से भी मैं जीता रह गया, यह सुनते ही मेरे प्राण नही निकल गये । फिर निषादराज का प्रेम देखकर भी यह वज्र से भी कठोर हृदय मैं फटा नही । अब यहाँ आकर सब आँखो देख लिया । यह जड जीव जीता रह कर सभी सहावेगा । जिनको देखकर रास्ते की साँपिनी और बीछी भी अपने भयानक विष और तीव्र क्रोध को त्याग देती है—

वे ही श्री रघुनन्दन, लक्ष्मण और सीता जिसको शत्रु जान पडे, उस कैकेयी के पुत्र मुझ को छोडकर दैव दुःसह दुःख और किसे सहावेगा ।

अलङ्कार—वृत्यनुप्रास ।

सुनि अति बिकल भरत-बर-बानी । आरति-प्रीति-विनय नय-सानी ।।
सोक मगन सब सभा खभारू । मनहुँ कमल बन परेउ तुषारू ।।
कहि अनेक विधि कथा पुरानी । भरत प्रबोध कीन्ह मुनि ज्ञानी ।।
बोले उचित वचन रघुनन्दू । दिन-कर-कुल - कैरव-वन-चंदू ।।
तात जाय जनि करहु गलानी । ईस अधीन जीव गति जानी ।।
तीनि काल त्रिभुवन मत मोरे । पुन्यस लोक तात तर तोरे ।।
उर आनत तुम्ह पर कुटिलाई । जाइ लोक - परलोक - नसाई ।।
दोष देहिं जननिहि जड़ तेई । जिन्ह गुरु-साधु-सभा नहिं सेई ।।

दो०—मिटिहहिं पाप प्रपच सब, अखिल अमगल भार ।
लोक सुजस परलोक सुख, सुमिरत नाम तुम्हार ।।२६३।।

व्याख्या—अत्यन्त व्याकुल तथा दुःख, प्रेम, विनय और नीति मे

हुई भरतजी की श्रेष्ठ वाणी सुनकर सब लोग शोक में मग्न हो गये। सारी सभा में विषाद छा गया, मानो कमल के वन पर पाला पड़ गया हो। तब ज्ञानी मुनि वशिष्ठजी ने अनेक प्रकार की ऐतिहासिक कथाएँ कहकर भरतजी का समाधान किया। फिर सूर्यकुल रूपी कुमुद वन के प्रफुल्लित करने वाले चन्द्रमा श्री रघुनन्दन उचित वचन बोले हे तात ! तुम अपने हृदय में व्यर्थ ही ग्लानि करते हो। जीव की गति को ईश्वर के अधीन जानो। मेरे मत में भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों और स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल तीनों लोकों के सब पुण्यात्मा पुरुष तुमसे नीचे हैं। हृदय में भी तुम पर कुटिलता का आरोप करने से यह लोक बिगड़ जाता है और परलोक भी नष्ट हो जाता है। माता कैकेयी को तो वे ही मूर्ख दोष देते हैं, जिन्होंने गुरु और साधुओं की सभा का सेवन नहीं किया।

हे भरत ! तुम्हारा नाम स्मरण करते ही सब पाप, प्रपंच (अज्ञान) और समस्त अमङ्गलों के समूह मिट जायँगे तथा इस लोक में सुन्दर यश और परलोक में सुख प्राप्त होगा।

कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥
तात कुतरक करहु जनि जाये। बैर प्रेम नहिं दुरइ दुराये॥
मुनि गन निकट बिहँग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं॥
हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष-तनु-गुन-ग्यान-निधाना॥
तात तुम्हहि मैं जानउँ नीके। करउँ काह असमंजस जी के॥
राखेउ राय सत्य मोहि त्यागी। तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी॥
तासु बचन मेटत मन सोचू। तेहि तें अधिक तुम्हार सँकोचू॥
तापर गुर मोहि आयसु दीन्हा। अवसि जो कहहु चहउँ सोइ कीन्हा॥

दो०— मन प्रसन्न करि सकुच तजि, कहहु करउँ सोइ आजु।
सत्य - सध - रघुबर - बचन, सुनि भा सुखी समाजु॥ २६४॥'

व्याख्या—वशिष्ठ जी कहते हैं कि हे भरत ! मैं स्वभाव से ही सत्य कहता हूँ, शिवजी साक्षी हैं, यह पृथ्वी तुम्हारी ही रखी रह रही है। हे तात ! तुम व्यर्थ कुतर्क न करो। वैर और प्रेम छिपाये नहीं छिपते। पक्षी और पशु

मुनियो के पास बेधड़क चले जाते हैं, पर हिंसा करने वाले वधिको को देखते ही भाग जाते है। मित्र और शत्रु को पशु-पक्षी भी पहचानते है। फिर मनुष्य शरीर तो गुण और ज्ञान का भण्डार ही है। हे तात ! मैं तुम्हे अच्छी तरह जानता हूँ। क्या करूँ ? जी मे बडा असमञ्जस है। राजा ने मुझे त्याग कर सत्य को रक्खा और प्रेम-प्रण के लिये शरीर छोड दिया। उनके वचन को मेटते मन मे सोच होता है। उससे भी बढकर तुम्हारा सकोच है। उस पर भी गुरुजी ने मुझे आज्ञा दी है। इसलिये अब तुम जो कुछ कहो, अवश्य ही मैं वही करना चाहता हूँ।

तुम मन को प्रसन्न कर और संकोच को त्यागकर जो कुछ कहो, मैं आज वही करूँ। सत्यप्रतिज्ञ रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी का यह वचन सुनकर सारा समाज सुखी हो गया।

अलंकार--अर्थान्तरन्यास।

सुर-गन-सहित सभय सुरराजू। सोचहि चाहत होन अकाजू॥
बनत उपाय करत कछु नाहीं। राम सरन सब गे मन माहीं॥
बहुरि बिचारि परसपर कहहीं। रघुपति भगत-भगति-बस अहहीं॥
सुधि करि अंबरीष दुरवासा। भे सुर सुरपति निपट निरासा॥
सहे सुरन्ह बहुकाल बिषादा। नरहरि किये प्रगट प्रहलादा॥
लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा। अब सुर काज भरत के हाथा॥
आन उपाय न देखिय देवा। मानत राम सु-सेवक सेवा॥
हिय सप्रेम सुमिरहु सब भरतहि। निज-गुन-सील रामबस करतहि॥

दो०—सुनि सुमिरत सुरगुरु कहेउ, भल तुम्हार बड भाग।
सकल सु-मंगल मूल जग, भरत-चरन-अनुराग॥२६५॥

व्याख्या—देवगणो। सहित देवराज इन्द्र भयभीत होकर सोचने लगे कि अब बना-बनाया काम बिगडना ही चाहता है। कुछ उपाय करते नही बनता। तब वे सब मन-ही मन श्रीरामजी की शरण गये। फिर वे विचार करके आपस मे कहने लगे कि श्री रघुनाथजी तो भक्त की भक्ति के वश है। अम्बरीष और दुर्वासा की घटना याद करके तो देवता और इन्द्र बिल्कुल ही निराश हो गये।

पहले देवताओ ने बहुत समय तक दुःख सहे। तब भक्त प्रह्लाद ने ही नृसिंह भगवान को प्रकट किया था। सब देवता परस्पर कानो से लग-लगकर और सिर धुनकर कहते हैं कि अब इस बार देवताओ का काम भरतजी के हाथ है। हे देवताओ! और कोई उपाय नही दिखायी देता। श्रीरामजी अपने श्रेष्ठ सेवको की सेवा को मानते हैं। अतएव अपने गुण और शील से श्रीरामजी को वश मे करने वाले भरतजी का ही सब लोग अपने-अपने हृदय मे प्रेम-सहित स्मरण करो।

देवताओ का मत सुनकर देवगुरु बृहस्पतिजी ने कहा—अच्छा विचार किया, तुम्हारे बडे भाग्य है। भरतजी के चरणो का प्रेम जगत मे समस्त शुभ मङ्गलो का मूल है।

अलंकार—दृष्टान्त।

सीता-पति-सेवक - सेवकाई। काम-धेनु-सय सरिस सुहाई॥
भरत भगति तुम्हारे मन आई। तजहु सोच विधि बात बनाई॥
देख देवपति भरत प्रभाऊ। सहज-सुभाय-विवस रघुराऊ॥
मन थिर करहु देव डर नाहीं। भरतहि जानि राम परिछाहीं॥
सुनि सुरगुरु-सुर-संमत सोचू। अन्तरजामी प्रभुहि सकोचू॥
निज सिर भार भरत जिय जाना। करत कोटि विधि उर अनुमाना॥
करि विचारु मन दीन्हीं ठीका। रामरजायसु आपन नीका॥
निज पन तजि राखेउ पन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहि थोरा॥

दो०—कीन्ह अनुग्रह अमित अति, सब विधि सीता नाथ।
करि प्रनाम बोले भरत, जोरि जलज-जुग-हाथ॥२६६॥

व्याख्या—सीताराम श्रीरामजी के सेवक की सेवा सैकडो कामधेनुओ के समान सुन्दर है। तुम्हारे मन मे भरतजी की भक्ति आयी है, तो अब सोच छोड दो। विधाता ने बात बना दी। हे देवराज! भरतजी का प्रभाव तो देखो। श्री रघुनाथजी सहज स्वभाव से ही उनके पूर्णरूप से वश मे है। हे देवताओ! भरतजी को श्रीरामचन्द्र जी की परछाई जानकर मन स्थिर करो, डर की बात नही है। देवगुरु बृहस्पतिजी और देवताओ की सम्मति और उनका सोच

सुनकर अन्तर्यामी प्रभु श्रीरामजी को संकोच हुआ। भरतजी ने अपने मन में सब दोषों का मिटना सा जाना और वे हृदय में करोड़ों प्रकार के विचार करने लगे। सब तरह से विचार करके अन्त में उन्होंने मन में यही निश्चय किया कि श्रीरामजी की आज्ञा में ही अपना कल्याण है। उन्होंने अपना प्रण छोड़कर सेवक धर्म रक्खा। [illegible] कृपा और स्नेह नहीं दिया।

श्री रामचन्द्रजी ने सब प्रकार से मुझ पर अनन्त अपार अनुग्रह किया। तदनन्तर भरतजी दोनों करकमलों को जोड़कर प्रणाम करके बोले—

ग्रन्थकार—उवाच।

कहउँ कहावउँ का अब स्वामी। कृपा-अम्बु-निधि अन्तर जामी॥
गुरु प्रसन्न साहिब अनुकूला। मिटी मलिन मन कलपित सूला॥
अपडर डरेउँ न सोच समूले। रविहि न दोष देव दिसि भूले॥
मोर अभाग मातु कुटिलाई। विधिगति विषम काल कठिनाई॥
पाउँ रोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला॥
यह नइ रीति न राउरि होई। लोकहु वेद विदित नहिं गोई॥
जग अनभल भल एक गोसाईं। कहिय होय भल कासु भलाई॥
देव देव-तरु-सरिस सुभाऊ। सनमुख विमुख न काहुहि काऊ॥

दो०— जाइ निकट पहिचान तरु, छांह समनि सब सोच।
मागत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच॥ २६७॥

व्याख्या—भरत कहते हैं हे स्वामी! हे कृपा के समुद्र! हे अन्तर्यामी! अब मैं अधिक क्या कहूँ और क्या कहाऊँ? गुरु महाराज को प्रसन्न और स्वामी को अनुकूल जानकर मेरे मलिन मन की कल्पित पीड़ा मिट गयी। मैं मिथ्या डर से ही डर गया था। मेरे सोच की जड़ ही न थी। दिशा भूल जाने पर हे देव! सूर्य का दोष नहीं है। मेरा दुर्भाग्य, माता की कुटिलता, विधाता की टेढ़ी चाल और काल की कठिनता, इन सबने मिलकर प्रण करके मुझे नष्ट किया था। परन्तु शरणागत के रक्षक आपने अपना प्रण निबाहा। यह आपकी कोई नयी रीति नहीं है। यह लोक और वेदों में प्रकट है, छिपी नहीं है। सारा जगत् बुरा करने वाला हो, किन्तु हे स्वामी! केवल एक आप ही भले

अनुकूल हो, तो फिर कहिये किसकी भलाई से भला हो सकता है ? हे देव ! आपका स्वभाव कल्पवृक्ष के समान है, वह न कभी किसी के अनुकूल है, न प्रतिकूल ।

उस कल्पवृक्ष को पहचानकर जो उसके पास जाय, तो उसकी छाया ही सारी चिन्ताओं का नाश करने वाली है । राजा-रंक, भले-बुरे जगत् में सभी उससे माँगते ही मनचाही वस्तु पाते हैं ।

लखि सब बिधि-गुरु स्वामि सनेहू । मिटेउ छोभ नहिं मन संदेहू ॥
अब करुनाकर कीजिय सोई । जन हित प्रभुचित छोभ न होई ॥
जो सेवक साहिबहिं संकोची । निजहित चहइ तासु मति पोची ॥
सेवक हित साहिब - सेवकाई । करइ सकल सुख लोभ बिहाई ॥
स्वारथ नाथ फिरे सबही का । किये रजाय कोटि बिधि नीका ॥
यह स्वारथ - परमारथ - सारू । सकल सुकृत फल सुगति सिंगारू ॥
देव एक बिनती सुनि मोरी । उचित होइ तस करब बहोरी ॥
तिलक समाजु साजि सब आना । करिय सुफल प्रभु जौं मनमाना ॥

दो०—सानुज पठइय मोहिं बन, कीजिय सबहिं सनाथ ।
न तरु फेरियहिं बन्धु दोउ, नाथ चलउँ मैं साथ ॥ २६८ ॥

व्याख्या—भरत जी कहते हैं कि गुरु और स्वामी का सब प्रकार से स्नेह देखकर मेरा क्षोभ मिट गया, मन में कुछ भी सन्देह नहीं रहा । हे दया की खान ! अब वही कीजिये जिससे दास के लिये प्रभु के चित्त में किसी प्रकार का विचार न हो । जो सेवक स्वामी को सकोच में डालकर अपना भला चाहता है, उसकी बुद्धि नीच है । सेवक का हित तो इसी में है कि वह समस्त सुखों और लाभों को छोड़कर स्वामी की सेवा ही करे । हे नाथ ! आपके लौटने में सभी का स्वार्थ है, और आपकी आज्ञा पालन करने में करोड़ों प्रकार से कल्याण है । यही स्वार्थ और परमार्थ का सार है, समस्त पुण्यों का फल और सम्पूर्ण शुभ गतियों का शृङ्गार है । हे देव ! आप मेरी एक विनती सुनकर, फिर जैसा उचित हो वैसा ही कीजिये । राजतिलक की सब सामग्री सजाकर लायी गयी है, जो प्रभु का मन माने सो उसे सफल कीजिये ।

छोटे भाई शत्रुघ्न समेत मुझे वन मे भेज दीजिये और अयोध्या लौटकर सबको सनाथ कीजिये। नही तो किसी तरह भी यदि आप अयोध्या जाने को तैयार न हो हे नाथ! लक्ष्मण और शत्रुघ्न दोनो भाइयो को लौटा दीजिये और मैं आपके साथ चलूँ।

नं तरु जाहिं बन तीनउँ भाई। बहुरिय सीय सहित रघुराई॥
जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुना-सागर कीजिय सोई॥
देव दीन्ह सब मोहि सिर भारू। मोरे नीति न धरम बिचारू॥
कहउँ बचन सब स्वारथ हेतु। रहत न आरत के चित चेतू॥
उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥
अस मै अवगुन उदधि अगाधू। स्वामि सनेह सराहत साधू॥
अब कृपाल मोहि सो मत भावा। सकुच स्वामि मन जाइ न पावा॥
प्रभु-पद-सपथ कहउँ सतिभाऊ। जग-मगल हित एक उपाऊ॥

दो०—प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि, जो जेहि आयसु देव।
सो सिर धरि धरि करहिं सब, मिटिहि अनट अवरेब॥२६९॥

व्याख्या—अथवा हम तीनो भाई वन चले जायँ और हे श्रीरघुनाथजी आप सीताजी सहित अयोध्या लौट जाइये। हे दयासागर! जिस प्रकार से प्रभु का मन प्रसन्न हो, वही कीजिये। हे देव! आपने सारा भार मुझ पर रख दिया। पर मुझ मे न तो नीति का विचार है, न धर्म का। मैं तो अपने स्वार्थ के लिये सब बातें कह रहा हूँ। आप दुखी मनुष्य के चित्त मे विवेक नही रहता। स्वामी की आज्ञा सुनकर जो उत्तर दे, ऐसे सेवक को देखकर लज्जा भी लजा जाती है। मैं अवगुणो का ऐसा अथाह समुद्र हूँ कि प्रभु को उत्तर दे रहा हूँ किन्तु स्वामी आप स्नेह-वश साधु कहकर मुझे सराहते हैं। हे कृपालु! अब तो वही मत मुझे भाता है, जिससे स्वामी का मन सकोच न पावे। प्रभु के चरणो की शपथ है, मै सत्य भाव से कहता हूँ, जगत् के कल्याण के लिये एक यही उपाय है।

प्रसन्न मनसे सकोच त्याग कर प्रभु जिसे जो आज्ञा देंगे, उसे सब लोग सिर चढ़ा चढाकर करेंगे और सब उपद्रव और उलझनें मिट जाँयगी।

भरत वचन सुचि सुनि सुर हरषे। साधु सराहि सुमन सुर बरषे॥
असमञ्जस बस अवध निवासी। प्रमुदित मन तापस-बन-बासी॥
चुपहि रहे रघुनाथ सँकोची। प्रभुगति देखि सभा सब सोची॥
जनक दूत तेहि अवसर आये। मुनि बसिष्ठ सुनि बेगि बुलाये॥
करि प्रनाम तिन्ह राम निहारे। बेष देखि भये निपट दुखारे॥
दूतन्ह मुनिवर बूझी बाता। कहहु बिदेह भूप कुसलाता॥
सुनि सकुचाइ नाइ महि माथा। बोले चरबर जोरे हाथा॥
बूझब राउर सादर साईं। कुसल हेतु सो भयउ गोसाईं॥
दो०—नाहिं तो कोशलनाथ के, साथ कुसल गइ नाथ।
मिथिला अवध विसेष तें, जगु सब भयउ अनाथ॥२७०॥

व्याख्या—भरतजी के पवित्र वचन सुनकर देवता हर्षित हुए और 'साधु-साधु' कहकर सराहना करते हुए देवताओं ने फूल बरसाये। अयोध्या निवासी असमञ्जस के वश हो गये कि देखें अब श्रीरामजी क्या कहते हैं। तपस्वी तथा वनवासी लोग श्रीरामजी के वन में बने रहने की आशा से मन में परम आनन्दित हुए, किन्तु संकोची श्रीरघुनाथजी चुप ही रह गये। प्रभु की यह स्थिति देख सारी सभा सोच में पड़ गयी। उसी समय जनकजी के दूत आये, यह सुनकर मुनि वसिष्ठजी ने उन्हें तुरन्त बुलवा लिया। उन्होंने आकर प्रणाम करके श्रीरामचन्द्रजी को देखा। उनका मुनियों का सा वेष देखकर वे बहुत ही दुखी हुए। मुनिश्रेष्ठजी ने दूतों से बात पूछी कि राजा जनक का कुशल-समाचार कहो। यह मुनि का कुशल प्रश्न सुनकर सकुचाकर पृथ्वी पर मस्तक नवाकर वे श्रेष्ठ दूत हाथ जोड़कर बोले—हे स्वामी! आपका आदर के साथ पूछना, यही हे गोसाईं! कुशल का कारण हो गया।

नहीं तो हे नाथ! कुशल क्षेम तो सब कोसलनाथ दशरथजी के साथ ही चली गयी। उनके चले जाने से यों तो सारा जगत् ही अनाथ हो गया, किन्तु मिथिला और अवध तो विशेष रूप से अनाथ हो गये।

कोशलपति गति सुनि जनकौरा। भे सब लोक सोकबस बौरा॥
जेहिं देखे तेहि समय बिदेहू। नाम सत्य अस लाग न केहू॥

रानि कुचाल सुनत नरपालहि । सूझ न कछु जस मनि बिनु ब्यालहि ॥
भरत राज-रघुबर - बन - बासू । भा मिथिलेसहि हृदय हरासू ॥
नृप बूझे बुध-सचिव-समाजू । कहहु बिचारि उचित का आजू ॥
समुझि अवध असमञ्जस दोऊ । चलिय कि रहिय न कह कछु कोऊ ॥
नृपहि धीर धरि हृदय बिचारी । पठये अवध चतुर चर चारी ॥
बूझि भरत गति भाउ- कुभाऊ । आयहु बेगि न होइ लखाऊ ॥
दो०—गये अवध चर भरतगति, बूझि देखि करतूति ।
चले चित्रकूटहि भरत, चार चले तिरहूति ॥२७१॥

शब्दार्थ—जनकौरा=जनकपुर वाली ।

व्याख्या—दशरथजी का मरण सुनकर जनकपुर वासी सभी लोग शोक वश सुध-बुध भूल गये । उस समय जिन्होने विदेह को शोक मग्न देखा, उनमे से किसी को ऐसा न लगा कि उनका विदेह नाम सत्य है । रानी की कुचाल सुनकर राजा जनकजी को कुछ सूझ न पड़ा, जैसे मणि के बिना साँप को नही सूझता । फिर भरतजी को राज्य और श्रीरामचन्द्रजी को वनवास सुनकर मिथिलेश्वर जनकजी के हृदय मे बड़ा दुःख हुआ । राजा ने विद्वानो और मन्त्रियो के समाज से पूछा कि विचारकर कहिये, आज क्या करना उचित है ? अयोध्या की दशा समझकर और दोनों प्रकार से असमजस जानकर चलिये या रहिये ?' जब किसी ने कुछ नहीं कहा और कोई सम्मति नही दी , तब राजा ने धीरज धर हृदय मे विचार कर चार चतुर गुप्तचर अयोध्या को भेजे और उनसे कह दिया कि तुम लोग श्रीरामजी के प्रति भरतजी के सद्भाव या दुर्भाव का पता लगाकर जल्दी लौट आना, किसी को तुम्हारा पता न लगने पावे ।

गुप्तचर अवध को गये और भरतजी का ढग जानकर और उनकी करनी देखकर जैसे ही भरतजी चित्रकूट को चले, वे मिथिला को चल दिये ।

दूतन्ह आइ भरत कै करनी । जनक समाज जथामति बरनी ॥
सुनि गुरु परिजन सचिव महीपति । भे सब सोच सनेह बिकल अति ॥
धरि धीरज करि भरत बड़ाई । लिये सुभट साहनी बोलाई ॥

घर पुर देस राखि रखवारे। हय गय रथ बहु जान सँवारे ॥
दुघरी साधि चले तत्काला। किय विश्राम न मग महिपाला ॥
भोरहि आजु नहाइ प्रयागा। चले जमुन उतरन सब लागा ॥
खबरि लेन हम पठये नाथा। तिन्ह कहि अस महि नायउ माथा ॥
साथ किरात छसातक दीन्हे। मुनिवर तुरत बिदा चर कीन्हे ॥

दो०—सुनत जनक आगवन सब, हरषेउ अवध समाज।
रघुनन्दनहि सोच बड़, सोच बिबस सुरराज ॥२७२॥

व्याख्या—दूतों ने आकर राजा जनकजी की सभा में भरतजी की करनी का अपनी बुद्धि के अनुसार वर्णन किया। उसे सुनकर गुरु, कुटुम्बी, मन्त्री और राजा सभी सोच और स्नेह से अत्यन्त व्याकुल हो गये। फिर जनकजी ने धीरज धरकर और भरतजी की बड़ाई करके अच्छे योद्धा और साहनियों को बुलाया। घर, नगर और देश में रक्षकों को रखकर घोड़े, हाथी, रथ आदि बहुत-सी सवारियाँ सजवायीं। वे दुघड़िया मुहूर्त साधकर उसी समय चल पड़े। राजा ने रास्ते में कहीं विश्राम भी नहीं किया। आज ही सवेरे प्रयाग राज में स्नान करके चले हैं। जब लोग यमुनाजी उतरने लगे। तब हे नाथ! हमें खबर लेने को भेजा। उन्होंने (दूतों ने) ऐसा कहकर पृथ्वी पर सिर नवाया। मुनिश्रेष्ठ वशिष्ठजी ने कोई छः सात भीलों को साथ देकर दूतों को तुरत विदा कर दिया।

जनकजी का आगमन सुनकर अयोध्या का सारा समाज हर्षित हो गया। श्रीरामजी को बड़ा संकोच हुआ और देवराज इन्द्र तो विशेष रूप से सोच के वश हो गये।

गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषन देई ॥
अस मन आनि मुदित नरनारी। भयउ बहोरि रहब दिन चारी ॥
एहि प्रकार गत बासर सोऊ। प्रात नहान लाग सब कोऊ ॥
करि मज्जन पूजहिं नरनारी। गनपति गौरि पुरारि तमारी ॥
रमा-रमन-पद बन्दि बहोरी। बिनवहिं अंजलि अंचल जोरी ॥
राजा राम जानकी रानी। आनँद अवधि अवध रजधानी ॥
सुबस बसउ फिरि सहित समाजा। भरतहि राम करहु जुबराजा ॥
एहि सुख सुधा सींचि सब काहू। देव देहु-जग-जीवन लाहू ॥

दो०—गुरुसमाज भाइन्ह सहित, रामराजु पुर होउ।
अछत राम राजा अवध, मरिय मांग सब कोउ ॥२७३॥

व्याख्या।—कुटिल कैकेयी मन-ही-मन पश्चात्ताप से गली जाती है। किससे कहे और किसको दोष दे ? और सब नर-नारी मन मे ऐसा विचारकर प्रसन्न हो रहे है कि अच्छा हुआ, जनकजी के आने से कुछ दिन और रहना हो गया। इस तरह वह दिन भी बीत गया। दूसरे दिन प्रात.काल सब कोई स्नान करने लगे। स्नान करके सब नर-नारी गणेशजी, महादेवजी और सूर्य भगवान् की पूजा करते है। फिर लक्ष्मीपति भगवान् विष्णु के चरणो की वन्दना करके दोनो हाथ जोड़कर आँचल पसारकर विनती करते हैं कि श्रीरामजी राजा हो, जानकीजी रानी हो तथा राजधानी अयोध्या आनन्द की सीमा होकर फिर समाज सहित सुखपूर्वक बसे और श्रीरामजी भरतजी को युवराज बनावे। हे देव ! इस सुखरूपी अमृत से सींचकर सब किसी को जगत मे जीने का लाभ दीजिये।

गुरु, समाज और भाइयों-समेत श्रीरामजी का राज्य अवधपुरी मे हो और श्रीरामजी के राजा रहते ही हमलोग अयोध्या मे मरें। सब कोई यह मांगते हैं।

सुनि सनेह मय पुर-जन-बानी। निंदहिं जोग बिरति मुनि ज्ञानी ॥
एहि बिधि नित्य करम करि पुरजन। रामहिं करहिं प्रनाम पुलकि तन ॥
ऊँच नीच मध्यम नरनारी। लहहिं दरस निज निज अनुहारी ॥
सावधान सबही सनमानहिं। सकल सराहत कृपानिधानहिं ॥
लरिकाइहि तें रघुबर बानी। पालत नीति प्रीति पहिचानी ॥
सील-सँकोच-सिंधु रघुराऊ। सुमुख सुलोचन सरल सुभाऊ ॥
कहत राम-गुन गन अनुरागे। सब निज भाग सराहन लागे ॥
हम सब पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे ॥

दो०—प्रेम मगन तेहि समय सब, सुनि आवत मिथिलेस।
सहित सभा सम्भ्रम उठेउ, रवि-कुल-कमल-दिनेस ॥२७४॥

व्याख्या—अयोध्यावासियों की प्रेममयी वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि अपने योग और वैराग्य की निन्दा करते है। अवध वासी इस प्रकार नित्य

रके श्रीरामजी को पुलकित शरीर हो प्रणाम करते हैं। ऊँच, नीच और मध्यम नी श्रेणियों के स्त्री-पुरुष अपने-अपने भाव के अनुसार श्रीरामजी का दर्शन प्त करते हैं। श्रीरामचन्द्रजी सावधानी के साथ सबका सम्मान करते हैं, और भी कृपानिधान श्रीरामचन्द्रजी की सराहना करते हैं। श्रीरामजी की लड़कपन ही यह बात है कि वे प्रेम को पहचानकर रीति का पालन करते हैं। रघुनाथजी शील और संकोच के समुद्र हैं। वे सुन्दर मुख के सुन्दर नेत्र वाले र सरल स्वभाव वाले हैं। श्रीरामजी के गुण समूहों को कहते-कहते सब लोग म में भर गये और अपने भाग्य की सराहना करने लगे कि जगत् में हमारे नान पुण्य की बड़ी पूँजी वाले थोड़े ही हैं, जिन्हें श्रीरामजी अपना करके नते हैं।

इस समय सब लोग प्रेम में मग्न हैं। इतने में ही मिथिलापति जनकजी को हे हुए सुनकर सूर्यकुलरूपी कमल के सूर्य श्रीरामचन्द्रजी सभासहित आदरपूर्वक ग्री से उठ खड़े हुए।

अलंकार—अनुप्रास, वृत्त्यनुप्रास।

भाइ-सचिव-गुरु पुरजन - साथा। आगे गवन कीन्ह रघुनाथा॥
गिरिबर दीख जनकपति जबहीं। करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं॥
राम - दरस - लालसा - उछाहू। पथ स्रम लेस कलेस न काहू॥
मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन-तन दुख सुख सुधि केही॥
आवत जनक चले एहि भाँती। सहित समाज प्रेम मद माती॥
आये निकट देखि अनुरागे। सादर मिलन परस्पर लागे॥
लगे जनक मुनि-जन-पद बंदन। रिषिन्ह प्रनाम कीन्ह रघुनंदन॥
भाइन्ह सहित राम मिलि राजहिं। चले लेवाइ समेत समाजहिं॥

दो०—आस्रम सागर सांत रस, पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना सरित, लिये जाहिं रघुनाथ॥२७५॥

व्याख्या—भाई, मन्त्री, गुरु और पुरवासियों को साथ लेकर श्रीरघुनाथजी जनकजी की अगवानी में चले। जनकजी ने ज्यों ही पर्वतश्रेष्ठ कामदनाथ देखा, त्यों ही प्रणाम करके उन्होंने रथ छोड़ दिया और पैदल चलने लगे

श्रीरामजी के दर्शन की लालसा और उत्साह के कारण किसी को रास्ते क
थकावट और क्लेश जरा भी नही है। मन तो वहाँ है जहाँ श्रीराम औ
जानकीजी हैं। बिना मन के शरीर के सुख-दुख की सुध किसको हो ? जनक
इस प्रकार चले आ रहे है। समाज सहित उनकी बुद्धि प्रेम मे मतवाली हो र
है। निकट आये देखकर सब प्रेम मे भर गये और आदरपूर्वक आपस मे मिल
लगे जनकजी वशिष्ठ आदि अयोध्यावासी मुनियो के चरणो की वन्दना कर
लगे और श्रीरामचन्द्रजी ने शतानन्द आदि जनकपुरवासी ऋषियो क
प्रणाम किया। फिर भाइयो समेत श्रीरामजी राजा जनकजी से मिलकर उ
समाज सहित अपने आश्रम को लिवा चले।

श्रीरामजी का आश्रम शान्त रस रूपी पवित्र जल से परिपूर्ण समुद्र है
जनकजी का समाज मानो करुणा रस की नदी है, जिसे श्रीरघुनाथजी उस आश्र
रूपी शातरस के समुद्र में मिलने के लिये जा रहे हैं।

अलकार—रूपक, अनुप्रास।

बोरति ज्ञान बिराग करारे। बचन ससोक मिलत नद नारे॥
सोच उसास समीर तरंगा। धीरज तट-तरु बर कर भंगा॥
बिषम बिषाद तोरावति धारा। भय भ्रम भँवर अवर्त्त अपारा॥
केवट बुध बिद्या बडि नावा। सकहिं न खेइ एक नहिं आवा॥
बनचर कोल किरात बिचारे। थके बिलोकि पथिक हिय हारे॥
आस्रम उदधि मिली जब जाई। मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई॥
सोक बिकल दोउ राज समाजा। रहा न ज्ञान न धीरज लाजा॥
भूप - रूप - गुन-सील सराही। रोवहिं सोक सिंधु अवगाही॥

छंद—अवगाहि सोक समुद्र सोचहिं नारि नर व्याकुल महा।
देइ दोष सकल सरोष बोलहिं बाम बिधि कीन्हो कहा॥
सुर सिद्ध तापस जोगिजन मुनि देखि दसा बिदेह की।
तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकइ सरित सनेह की॥

सो०—किये अमित उपदेस, जहँ तहँ लोगन्ह मुनिवरन्ह।
धीरज धरिय नरेस, कहेउ वसिष्ठ बिदेह सन॥२७६॥

रके ग्रं

व्याख्या—यह करुणा की नदी इतनी बढी हुई है कि ज्ञान-वैराग्य रूपी किनारो को डुबाती जाती है। शोक भरे वचन नद और नाले हैं, जो इन नदी मे मिलते है, और सोचकी लंबी साँसें ग्राहे ही वायु के झकोरो से उठने वाली तरंगें हैं जो धैर्यरूपी किनारे के उत्तम वृक्षो को तोड रही हैं। भयानक विषाद शोक ही उस नदी की तेज धारा है। भय, भ्रम और मोह ही उसके असंख्य भँवर और चक्र हैं। विद्वान् मल्लाह हैं, विद्या ही बडी नाव है। परन्तु वे उसे खे नही सकते हैं। किसी को उसकी अटकल ही नहीं आती है। वन मे विचरने वाले बेचारे कोल-किरात ही यात्री है, जो उस नदी को देखकर हृदय मे हार कर थक गये हैं। यह करुणा-नदी अब आश्रम-समुद्र मे जाकर मिली, तो मानो वह समुद्र अकुला उठा। दोनो राज-समाज शोक से व्याकुल हो गये। किसी को न ज्ञान रहा, न धीरज और न लाज ही रही। राजा दशरथजी के रूप, गुण और शील की सराहना करते हुए सब रो रहे हैं और शोक समुद्र मे डुबकी लगा रहे हैं।

शोक समुद्र मे डुबकी लगाते हुए सभी स्त्री-पुरुष महान् व्याकुल होकर सोच कर रहे हैं। वे सब विधाता को दोष देते हुए क्रोध युक्त होकर कह रहे हैं कि प्रतिकूल विधाता ने यह क्या किया ? तुलसीदासजी कहते हैं कि देवता, सिद्ध, तपस्वी, योगी और मुनिगणो मे कोई भी समर्थ नही है जो उस समय विदेह की दशा देखकर प्रेम की नदी को पार कर सके।

जहाँ-तहाँ श्रेष्ठ मुनियो ने लोगो को अपरिमित उपदेश दिये और वशिष्ठजी विदेह जनकजी से कहा—हे राजन् ! आप धैर्य धारण कीजिये।

अलंकार— सांगरूपक, अनुप्रास।

जासु ज्ञान रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा ॥
तेहि कि मोह ममता नियराई। यह सिय-राम-सनेह बड़ाई ॥
बिषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग बेद बखाने ॥
राम-सनेह-सरस मन जासू। साधु सभा बड़ि आदर तासू ॥
सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू ॥
मुनि बहुबिधि बिदेह समुझाये। रामघाट सब लोग नहाये ॥

सकल - सोक - संकुल नरनारी। सो बासर बीतेउ बिनु बारी॥
पसु खग मृगन्ह न कीन्ह अहारू। प्रिय परिजन कर कवन बिचारू॥

दो०—दोउ समाज निमिराज, रघुराज नहाने प्रात।
बैठे सब बट-बिटप-तर, मन मलीन कृस गात॥२७७॥

व्याख्या—जिन राजा जनक का ज्ञानरूपी सूर्य भव रूपी रात्रि का नाश कर देता है, और जिनकी वचन रूपी किरणें मुनिरूपी कमलों को खिला देती हैं; क्या मोह और ममता उनके निकट भी आ सकते हैं? यह तो श्रीसीतारामजी के प्रेम की महिमा है! अर्थात् राजा जनक की यह दशा श्रीसीतारामजी के अलौकिक प्रेम के कारण हुई, लौकिक मोह-ममता के कारण नहीं। जो लौकिक मोह-ममता को पार कर चुके हैं उन पर भी श्रीसीतारामजी का प्रेम अपना प्रभाव दिखाये बिना नहीं रहता, विषयी, साधक और ज्ञानवान् सिद्ध पुरुष—जगत् में ये तीन प्रकार के जीव वेदों ने बताये हैं, इन तीनों में जिसका चित्त श्रीरामजी के स्नेह से सना रहता है, साधुओं की सभा में उसीका बड़ा आदर होता है। श्रीरामजी के प्रेम के बिना ज्ञान शोभा नहीं देता, जैसे कर्णधार के बिना जहाज। वशिष्ठजी ने विदेहराज को बहुत प्रकार से समझाया। तदनन्तर सब लोगों ने श्रीरामजी घाट पर स्नान किया। स्त्री-पुरुष सब शोक से पूर्ण थे। वह दिन बिना ही जलके बीत गया (भोजन की बात तो दूर रही, किसी ने जल तक नहीं पिया)। पशु, पक्षी और हिरनों तक ने कुछ आहार नहीं किया, तब प्रियजनों एवं कुटुम्बियों का तो विचार ही क्या किया जाय?

निमिराज जनकजी और रघुराज रामचन्द्रजी तथा दोनों ओर के समाज ने दूसरे दिन सवेरे स्नान किया और सब बड़ के वृक्ष के नीचे जा बैठे। सबके मन उदास और शरीर दुबले हैं।

अलंकार—रूपक दृष्टान्त।

जे महिसुर दसरथ-पुर-बासी। जे मिथिला पति-नगर-निवासी॥
हंस - बंस - गुरु जनक पुरोधा। जिन्ह जग मग परमारथ सोधा॥
लगे कहन उपदेस अनेका। सहित धरम नय, बिरति, बिबेका॥

कौसिक कहि कहि कथा पुरानी। समुझाई सब सभा सुबानी॥
तब रघुनाथ कौसिकहि कहेऊ। नाथ कालि जल बिनु सब रहेऊ॥
मुनि कह उचित कहत रघुराई। गयउ बीति दिन पहर अढ़ाई॥
रिषि रुख लखि कह तेरहुतिराजू। इहाँ उचित नहिं असन अनाजू॥
कहा भूप भल सबहिं सुहाना। पाइ रजायसु चले नहाना॥

दो०—तेहि अवसर फल फूल दल मूल अनेक प्रकार।
लेइ आये बनचर बिपुल, भरि भरि काँवरि भार॥२७८॥

व्याख्या—जो दशरथजी की नगरी अयोध्या के रहने वाले और जो मिथिलापति जनकजी के नगर जनकपुर के रहने वाले ब्राह्मण थे, तथा सूर्यवंश के गुरु वसिष्ठजी तथा जनकजी के पुरोहित शतानन्दजी, जिन्होंने सांसारिक अभ्युदय का मार्ग तथा परमार्थ का मार्ग छान डाला था, वे सब धर्म, नीति, वैराग्य तथा विवेकयुक्त अनेकों उपदेश देने लगे। विश्वामित्रजी ने पुरानी कथाएं कह-कह कर सारी सभा को सुन्दर वाणी से समझाया, तब श्रीरघुनाथजी ने विश्वामित्रजी से कहा, हे नाथ! कल सब लोग बिना जल पिये ही रह गये थे, अब कुछ आहार करना चाहिये। विश्वामित्रजी ने कहा कि श्रीरघुनाथजी उचित ही कह रहे हैं। ढाई पहर दिन आज भी बीत गया विश्वामित्रजी का रुख देखकर तिरहुतराज जनकजी ने कहा—यहाँ अन्न खाना उचित नहीं है। राजा का सुन्दर कथन सबके मनको अच्छा लगा। सब आज्ञा पाकर नहाने चले।

उसी समय अनेकों प्रकार के बहुत से फल, फूल, पत्ते, मूल आदि बहँगियों और बोझों भर-भरकर वनवासी कोल-किरात लोग ले आये।

अलङ्कार—अनुप्रास।

कामद भे गिरि राम प्रसादा। अवलोकत अपहरत बिषादा॥
सर सरिता बन भूमि बिभागा। जनु उमगत आनँद अनुरागा॥
बेलि बिटप सब सफल सफूला। बोलत खग मृग अलि अनुकूला॥
तेहि अवसर बन अधिक उछाहू। त्रिबिधि समीर सुखद सब काहू॥
जाइ न बरनि मनोहरताई। जनु महि करति जनक पहुनाई॥
तब सब लोग नहाइ नहाई। राम जनक मुनि आयसु पाई॥

देखि देखि तरुवर अनुरागे। जहँ तहँ पुरजन उतरन लागे॥
दल फल मूल कंद विधि नाना। पावन सुन्दर सुधा समाना॥

दो०—सादर सब कहँ रामगुरु, पठये भरि भरि भार।
पूजि पितर सुर अतिथि गुरु, करन लगे फलहार॥२७९॥

व्याख्या—श्रीरामचन्द्रजी की कृपा से सब पर्वत मन चाही वस्तु देने वाले हो गये। वे देखने मात्र से ही दु:खों को सर्वथा हर लेते थे। वहाँ के तालाबो, नदियो, वन और पृथ्वी के सभी भागो मे मानो आनन्द और प्रेम उमड रहा है। बेलें और वृक्ष सभी फल और फूलो से युक्त हो गये। पक्षी, पशु और भौंरे अनुकूल बोलने लगे। उस अवसर पर वन मे बहुत उत्साह आनन्द था, सब किसी को सुख देने वाली शीतल, मन्द, सुगन्ध हवा चल रही थी। वन की मनोहरता वर्णन नहीं की जा सकती, मानो पृथ्वी जनकजी की पहुनाई कर रही है। तब जनकपुरवासी सब लोग नहा-नहाकर श्रीरामचन्द्रजी, जनकजी और मुनिकी आज्ञा पाकर, सुन्दर वृक्षो को देख-देखकर प्रेम मे भरकर जहाँ-तहाँ उतरने लगे। पवित्र, सुन्दर और अमृत के समान अनेको प्रकार के पत्ते, फल, मूल और कन्द श्रीरामजी के गुरु वशिष्ठजी ने सबके पास बोझे भर-भरकर आदरपूर्वक भेजे। तब वे पितर, देवता, अतिथि और गुरु की पूजा करके फलाहार करने लगे।

अलंकार—अनुप्रास।

एहि विधि बासर बीते चारी। राम निरखि नरनारि सुखारी॥
दुहुँ समाज असि रुचि मन माहीं। बिनु सीय राम फिरब भल नाहीं॥
सीताराम संग बनबासू। कोटि अमर पुर-सरिस सुपासू॥
परिहरि लखन - राम - बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही॥
दाहिन दैव होइ जब सबही। राम समीप बसिय बन तबहीं॥
मंदाकिनि मज्जन तिहुँकाला। रामदरस मुद-मंगल माला॥
अटन राम गिरि बन तापस थल। असन अमियसम कंद मूल फल॥
सुखसमेत संबत दुइ साता। पलसम होहिं न जनियहिं जाता॥

दो०—एहि सुख जोग न लोग सब, कहहिं कहाँ अस भाग।
सहज सुभायँ समाज दुहुँ, राम-चरन अनुराग ॥२८०॥

व्याख्या—इस प्रकार चार दिन बीत गये। श्रीरामचन्द्रजी को देखकर सभी नर-नारी सुखी हैं। दोनों समाजों के मन में ऐसी इच्छा है कि श्रीसीता-रामजी के बिना लौटना अच्छा नहीं है। श्रीसीतारामजी के साथ वन में रहना करोड़ों देवलोकों के निवास के समान सुखदायक है। श्रीलक्ष्मणजी, श्रीरामजी और श्रीजानकीजी को छोड़कर जिनको घर अच्छा लगे, विधाता उनके विपरीत हैं। जब दैव सबके अनुकूल हो, तभी श्रीरामजी के पास वन में निवास हो सकता है। मन्दाकिनीजी का तीनों समय स्नान और आनन्द तथा मङ्गलों की माला (समूह) रूप श्रीराम का दर्शन श्रीरामजी के पर्वत कामदनाथ वन और तपस्वियों के स्थानों में घूमना और अमृत के समान कन्द, मूल, फलों का भोजन, चौदह वर्ष सुख के साथ पल के समान हो जायँगे, जाते हुए जान ही न पड़ेंगे।

सब लोग कह रहे हैं कि हम इस सुख के योग्य नहीं हैं, हमारे ऐसे भाग्य कहाँ? दोनों समाजों का श्रीरामचन्द्रजी के चरणों में सहज स्वभाव से ही प्रेम है।

अलङ्कार—अनुप्रास।

एहि बिधि सकल मनोरथ करहीं। बचन सप्रेम सुनत मन हरहीं ॥
सीय मातु तेहि समय पठाईं। दासी देखि सुअवसरु आईं ॥
सावकास सुनि सब सिय सासू। आयउ जनक राज रनिवासू ॥
कौसल्या सादर सनमानी। आसन दिये समय सम आनी ॥
सील सनेह सकल दुहुँ ओरा। द्रवहिं देखि सुनि कुलिस कठोरा ॥
पुलक सिथिल तनु बारि बिलोचन। महि नख लिखन लगीं सब सोचन॥
सब सिय-राम-प्रीति की मूरति। जनु करुना बहु बेष बिसूरति ॥
सीय मातु कह बिधि बुधि बाँकी। जो पय फेनु फोर पबि टाँकी ॥

दो०—सुनिअ सुधा देखिअ गरल, सब करतूति कराल।
जहँ तहँ काक उलूक बक, मानस सकृत मराल ॥२८१॥

शब्दार्थ—सावकास = फ़ुरसत । बिसूरति = दुःख करती हैं ।

व्याख्या—इस प्रकार सब मनोरथ कर रहे हैं । उनके प्रेमयुक्त वचन सुनने वालो के मनो को हर लेते है । उसी समय सीताजी की माता श्रीसुनयनाजी की भेजी हुई दासियाँ सुन्दर अवसर देखकर आयी । उनसे यह सुनकर कि सीताकी सब सासुएँ इस समय फ़ुरसत मे है, जनकराज का रनिवास उनसे मिलने आया । कौसल्याजी ने आदरपूर्वक उनका सम्मान किया और समयोचित आसन लाकर दिये । दोनो ओर सबके शील और प्रेम को देखकर और सुनकर कठोर वज्र भी पिघल जाते हैं । शरीर पुलकित और नेत्रो मे शोक और प्रेम के आँसू हैं । सब अपने पैरो के नखो से जमीन कुरेदने और सोचने लगी । सभी श्रीसीतारामजी के प्रेम की मूर्ति-सी है, मानो स्वय करुणा ही बहुत-से रूप धारण करके दु ख कर रही हो । सीताजी की माता सुनयनाजी ने कहा—विधाता की बुद्धि बड़ी टेढ़ी है, जो दूध के फेन-जैसी कोमल वस्तु को वज्र की टाँकी से फोड रहा है अर्थात् जो अत्यन्त कोमल और निर्दोष हैं, उन पर विपत्ति-पर-विपत्ति ढहा रहा है ।

अमृत केवल सुनने मे आता है और विष जहाँ-तहाँ प्रत्यक्ष देखे जाते हैं । विधाता की सभी करतूते भयकर हैं । जहाँ-तहाँ कौए, उल्लू और बगुले ही दिखायी देते है, हंस तो एक मानसरोवर मे ही है ।

अलंकार—छेकानुप्रास, उत्प्रेक्षा, उपमा ।

सुनि ससोच कह देवि सुमित्रा । बिधिगति बडि बिपरीत बिचित्रा ॥
जो सृजि पालइ हरइ बहोरी । बाल-केलि सम बिधिमति भोरी ॥
कौसल्या कह दोसु न काहू । करम बिबस दुख सुख छति लाहू ॥
कठिन करमगति जान बिधाता । जो सुभ असुभ सकल फलदाता ॥
ईस रजाइ सीस सबही के । उतपति थिति लय बिषहु अमीके ॥
देबि मोह बस सोचिय नादी । बिधि प्रपच अस अचल अनादी ॥
भूपति जियब मरब उर आनी । सोचिय सखि लखि निज-हित हानी ॥
सीय मातु कह सत्य सुबानी । सुकृती अवधि अवध-पति रानी ॥

दो०—लषन राम सिय जाहु बन, भल परिनाम न पोच ।
गहबरि हिय कह कौसला, मोहि भरत कर सोच ॥२८२॥

व्याख्या—यह सुनकर देवी सुमित्राजी शोक के साथ कहने लगी—विधाता की चाल बड़ी ही विपरीत और विचित्र है, जो सृष्टि को उत्पन्न करके पालता है और फिर नष्ट कर डालता है। विधाता की बुद्धि बालकों के खेल के समान भोली और विवेक शून्य है। कौसल्याजी ने कहा—किसी को दोष नहीं है। दुःख-सुख, हानि-लाभ सब कर्म के अधीन हैं। कर्म की गति कठिन है, उसे विधाता ही जानता है, जो शुभ और अशुभ सभी फलों का देने वाला है। ईश्वर की आज्ञा सभी के सिर पर है। उत्पत्ति, पालन और संहार तथा अमृत और विष ये सब भी उसी के अधीन हैं। हे देवि! मोहवश सोच करना व्यर्थ है। विधाता का प्रपञ्च ऐसा ही अचल और अनादि है। महाराज के मरने और जीने की बात को हृदय में याद करके जो चिन्ता करती हैं, वह तो हे सखी! हम अपने ही हित को हानि देखकर स्वार्थवश करती हैं। सीताजी की माता ने कहा—आपका कथन उत्तम और सत्य है। आप पुण्यात्माओं के सौभाग्य अवधपति महाराज दशरथजी की ही तो रानी हैं। फिर भला, ऐसा क्यों न कहेंगी।

कौसल्याजी ने दुःख भरे हृदय से कहा—श्रीराम, लक्ष्मण और सीता वनमें जायँ, इसका परिणाम तो अच्छा ही होगा, बुरा नहीं। मुझे तो भरत की चिन्ता है।

अलंकार—अनुप्रास।

ईस प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत सुत बधू देव-सरि बारी ॥
राम सपथ मैं कीन्ह न काऊ। सो करि कहउँ सखी सतिभाऊ ॥
भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई ॥
कहत सारदहु कै मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे ॥
जानउँ सदा भरत कुलदीपा। बार बार मोहि कहेउ महीपा ॥
कसें कनक मनि पारिखि पाये। पुरुष परिखिअहिं समय सुभाये ॥
अनुचित आजु कहब अस मोरा। सोक सनेहँ सयानप थोरा ॥
सुनि सुर-सरि-सम पावनि बानी। भईं सनेह बिकल सब रानी ॥
दो०— कौसल्या कह धीर धरि, सुनहु देवि मिथिलेसि।
को बिबेकनिधि बल्लभहि, तुम्हहि सकइ उपदेसि ॥२८४॥

व्याख्या—ईश्वर के अनुग्रह और आप के आशीर्वाद से मेरे चारो पुत्र और चारो वहुएँ गङ्गाजी के जल के समान पवित्र है। हे सखी ! मैंने कभी श्रीराम की सौगन्ध नही की। सो आज श्रीराम की शपथ करके सत्य भाव से कहती हूँ कि भरत के शील, गुण, नम्रता, वडप्पन, भाईपन, भक्ति, भरोसे और अच्छेपन का वर्णन करने मे सरस्वती जी की बुद्धि भी हिचकती है। सीप से कही समुद्र उलीचे जा सकते है ? मैं भरत को सदा कुल का दीपक जानती हूँ। महाराज ने भी वार-वार मुझे यही कहा था। सोना कसौटी पर कसे जानेपर और रत्न जौहरी के मिलने पर ही पहचाना जाता है। वैसे ही पुरुष की परीक्षा समय पडने पर उसका चरित्र देखकर हो जाती है। किन्तु आज मेरा ऐसा कहना भी अनुचित है। शोक और स्नेह मे विवेक कम हो जाता है। लोग कहेगे कि मैं स्नेहवश भरत की वडाई कर रही हूँ। कौसल्याजी की गङ्गाजी के समान पवित्र करने वाली वाणी सुनकर सव रानियाँ स्नेह के मारे विकल हो उठी।

कौसल्याजी ने फिर धीरज धरकर कहा—हे देवि ! मिथिलेश्वरी ! सुनिये, ज्ञान के भण्डार श्रीजनकजी की प्रिया आपको कौन उपदेश दे सकता है।

अलकार—वृत्यानुप्रास, असम्वन्धातिशयोक्ति।

रानि राय सन अवसरु पाई। अपनी भाँति कहव समुझाई॥
रखिर्आहि लषन भरत गवर्नाहि वन। जौं यह मत मानइ महीप मन॥
तौ भल जतन करव सुविचारी। मोरे सोच भरत कर भारी॥
गूढ सनेह भरत मन माहीं। रहे नीक मोहि लागत नाहीं॥
लखि सुभाउ सुनि सरल सुवानी। सव भइ मगन करुनरस रानी॥
नभ प्रसून झरि धन्य धन्य धुनि। सिथिल सनेह सिद्ध जोगी मुनि॥
सव रनिवास विथकि लखि रहेऊ। तव धरि धीर सुमित्रा कहेऊ॥
देवि दड जुग जामिनि वीती। राममातु सुनि उठी सप्रीती॥

दो०-वेगि पाउ धारिय थलहि, कह सनेह सतिभाय।
हमरे तौ अव ईस गति, कै मिथिलेस सहाय॥२८४॥

व्याख्या—हे रानी ! मौका पाकर आप राजा को अपनी ओर से जहाँ तक सके समझाकर कहियेगा कि लक्ष्मण को घर रख लिया जाय और भरत

बन को जावें यदि यह राय राजा के मन में ठीक जँच जाय। तो भली भाँति खूब विचार कर ऐसा यत्न करें। मुझे भरत का अत्यधिक सोच है। भरत के मन में गूढ़ प्रेम है। उनके घर रहने में मुझे भलाई नहीं जान पड़ती। यह डर लगता है कि उनके प्राणों को कोई भय न हो जाय। कौशल्याजी का स्वभाव देखकर और उनकी सरल और उत्तम वाणी को सुनकर सब रानियाँ करुणा में निमग्न हो गयीं। आकाश में पुष्पवर्षा की झड़ी लग गयी और धन्य-धन्य की ध्वनि होने लगी। सिद्ध, योगी और मुनि स्नेह से शिथिल हो गये। सारा रनिवास देखकर निस्तब्ध हो गया। तब सुमित्राजी ने धीरज धरके कहा कि हे देवि ! दो घड़ी रात बीत गयी है। यह सुनकर श्रीरामजी की माता कौशल्या जी प्रेमपूर्वक उठीं।

वे प्रेम सहित सद्भाव से बोलीं—अब आप शीघ्र डेरे को पधारिये। हमारे तो अब ईश्वर ही गति हैं अथवा मिथिलेश्वर जनकजी सहायक हैं।

लखि सनेह सुनि बचन बिनीता। जनक प्रिय गहि पाय पुनीता॥
देबि उचित असि बिनय तुम्हारी। दसरथ-घरनि राम-महतारी॥
प्रभु अपने नीचहु आदरहीं। अगिनि धूम गिरि सिर तृन धरहीं॥
सेवक राउ करम-मन-बानी। सदा सहाय महेस भवानी॥
रउरे अंग जोगु जग को है। दीप सहाय कि दिनकर सोहै॥
राम जाइ बन करि सुर काजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू॥
अमर नाग नर राम-बाहुबल। सुख बसिहहिं अपने अपने थल॥
यह सब जागबलिक कहि राखा। देबि न होइ मृषा मुनि भाखा॥

दो०—अस कहि पग परि प्रेम अति सियहित बिनय सुनाइ।
सियसमेत सियमातु तब, चली सुआयसु पाइ॥२८५॥

व्याख्या—कौशल्या जी के प्रेम को देखकर और उनके विनम्र वचनों को सुनकर जनक जी की प्रिय पत्नी ने उनके पवित्र चरण पकड़ लिये और कहा—हे देवि ! आप राजा दशरथ जी की रानी और श्रीरामजी की माता हैं। आपकी ऐसी नम्रता उचित ही है। प्रभु अपने नीच जनों का भी आदर करते हैं। अग्नि धुएँ को और पर्वत तृण को अपने सिरपर धारण करते हैं। हमारे राजा तो

कर्म, मन और वाणी से आपके सेवक हैं और सदा सहायक तो श्री महादेव पार्वती जी हैं। आपका सहायक होने योग्य जगत मे कौन है ? दीपक सूर्य की सहायता करने जाकर कही शोभा पा सकता है ? श्रीरामचन्द्रजी वन मे जाकर देवताओ का कार्य करके अवध पुरी मे अचल राज्य करेंगे। देवता, नाग और मनुष्य सब श्रीरामचन्द्रजी की भुजाओ के वल पर अपने-अपने लोको मे सुखपूर्वक वसेंगे। यह सब याज्ञवल्क्य मुनि ने पहले ही से कह रक्खा है। देवि ! मुनिका कथन झूठा नही हो सकता।

ऐसा कहकर वडे प्रेम से पैरो पड कर सीता जी को साथ भेजने के लिये विनती करके सुन्दर आज्ञा पाकर तव सीताजी-समेत सीताजी की माता डेरे को चली।

प्रिय परिजनहिं मिली वैदेही। जो जेहि जोगु भाँति तेहि तेही॥
तापस बेप जानकी देखी। भा सब, विकल विपाद विसेखी॥
जनक रामगुरु आयसु पाई। चले थलहिं सिय देखी आई॥
लीन्ह लाइ उर जनक जानकी। पाहुनि पावन प्रेम प्रान की॥
उर उमगेउ अंबुहि अनुरागू। भयहु भूपमन मनहुँ प्रयागू॥
सिय सनेह बटु वाढत जोहा। तापर राम प्रेम-सिसु सोहा॥
चिरजीवी मुनि ज्ञान विकल जनु। बूडत लहेउ बाल अवलंबनु॥
मोह मगन मति नहिं विदेह की। महिमा सिय-रघुवर-सनेह की॥

दो०—सिय पितु-मातु-सनेह-बस, विकल न सकी सँभारि।
धरनिसुता धीरज धरेउ, समय सुधरमु विचारि॥२८६॥

व्याख्या—जानकी जी अपने प्यारे कुटुम्वियो से— जो जिस योग्य था, उससे उसी प्रकार मिली। जानकी जी को तपस्विनी के वेष मे देखकर सभी शोक से अत्यन्त व्याकुल हो गये। जनक जी श्रीरामजी के गुरु वशिष्ठजी की आज्ञा पाकर डेरे को चले और आकर उन्होने सीताजी को देखा। जनकजी ने अपने पवित्र प्रेम और प्राणो की पाहुनी जानकीजी को हृदय से लगा लिया। उनके हृदय मे वात्सल्य प्रेम का समुद्र उमड पटा ! राजा का मन मानो प्रयाग हो गया। उस समुद्र के अन्दर उन्होने आदि शक्ति सीताजी के अलौकिक स्नेह रूपी अक्षयवट

को बढ़ते हुए देखा। उस सीताजी के प्रेम रूपी वट पर श्रीरामजी का प्रेमरूपी बालक (बालरूपधारी भगवान्) सुशोभित हो रहा है। जनकजी का ज्ञान रूपी चिरजीवी मार्कण्डेय मुनि व्याकुल होकर डूबते-डूबते मानो उस श्रीराम के प्रेमरूपी बालक का सहारा पाकर बच गया। वस्तुतः ज्ञानि शिरोमणि विदेह राज की बुद्धि मोह में मग्न नहीं है। यह तो श्रीसीताराम जी के प्रेम की महिमा है जिसने उन-जैसे महान् ज्ञानी के ज्ञान को विफल कर दिया।

पिता-माता के प्रेम के मारे सीताजी ऐसी विकल हो गयी कि अपने को सँभाल न सकी, परन्तु परम धैर्यवती पृथ्वी कन्या सीताजी ने समय और सुन्दर धर्म का विचार कर धैर्य धारण किया।

तापस वेष जनक सिय देखी। भयउ प्रेम परितोष बिसेषी॥
पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥
जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी॥
गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे। एहिं किए साधु समाज घनेरे॥
पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुचि महुँ मनहुँ समानी॥
पुनि पितु मातु लीन्हि उर लाई। सिख आसिष हित दीन्हि सुहाई॥
कहति न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनी भल नाहीं॥
लखि रुख रानि जनायेउ राऊ। हृदयँ सराहत सीलु सुभाऊ॥

दो०—बार बार मिलि भेंटि सिय, बिदा कीन्हि सनमानि।
कही समय सिर भरत गति, रानि सुबानि सयानि॥२८८॥

व्याख्या—सीताजी को तपस्विनी वेष में देखकर जनकजी को विशेष प्रेम और सन्तोष हुआ। उन्होंने कहा—बेटी! तूने दोनों कुल पवित्र कर दिये। तेरे निर्मल यश से सारा जगत् उज्ज्वल हो रहा है; ऐसा सब कोई कहते हैं। तेरी कीर्ति रूपी नदी देवनदी गङ्गाजी को भी जीतकर करोड़ों ब्रह्माण्डों में बह चली है। गङ्गाजी ने तो पृथ्वी पर तीन ही स्थानों—हरिद्वार, प्रयागराज और गङ्गासागर—को बड़ा तीर्थ बनाया है। पर तेरी इस कीर्ति नदी ने अनको सन्त समाज रूपी तीर्थस्थान बना दिये हैं। पिता जनकजी ने तो स्नेह से सच्ची सुन्दर वाणी कही। परन्तु अपनी बड़ाई सुनकर सीताजी मानो सकोच में समा गयी। पिता-माता ने

उन्हे फिर हृदय से लगा लिया और हितभरी सुन्दर सीख और आशिष दी। सीताजी कुछ कहती नही है, परन्तु मन मे सकुचा रही है कि रात मे सासुओ की सेवा छोडकर यहाँ रहना अच्छा नही है। रानी सुनयनाजी ने जानकी का रुख देखकर और उनके मन की बात समझकर राजा जनकजी को जता दिया। तब दोनो अपने हृदयो मे सीताजी के शील और स्वभाव की सराहना करने लगे।

राजा-रानी ने बार-बार मिलकर और हृदय से लगाकर तथा सम्मान करके सीताजी को विदा किया। चतुर रानी ने समय पाकर राजा से सुन्दर वाणी मे भरतजी की दशा का वर्णन किया है।

सुनि भूपाल भरत व्यवहारू। सोन सुगन्ध सुधा ससिसारू॥
मूँदे सजल नयन पुलके तन। सुजस सराहन लगे मुदित मन॥
सावधान सुनु सुमुखि सुलोचनि। भरत कथा भव-बंध बिमोचनि॥
धरम राजनय ब्रह्म बिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोरि भरत महिमाहीं। कहइ काह छलि छुअति न छाहीं॥
विधि गनपति अहिपति सिव सारद। कवि कोविद बुध बुद्धि बिसारद॥
भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥
समुझत सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू॥
दो०—निरवधि गुन निरुपम पुरुष, भरत भरत सम जानि।
कहिय सुमेरु कि सेर सम, कबि-कुल-मति सकुचानि॥२८८॥

व्याख्या—सोने मे सुगन्ध और समुद्र से निकली हुई सुधा मे चन्द्रमा के सार अमृत के समान भरतजी का व्यवहार सुनकर राजा ने प्रेम विह्वल होकर अपने प्रेमाश्रुओ के जल से भरे नेत्रो को मूँद लिया। वे भरतजी के प्रेम मे मानो ध्यानस्थ हो गये। वे शरीर से पुलकित हो गये और मन मे आनन्दित होकर भरतजी के सुन्दर यश की सराहना करने लगे। वे बोले हे सुमुखि! हे सुनयनी! सावधान होकर सुनो। भरतजी की कथा ससार के बन्धन से छुड़ाने वाली है। धर्म, राजनीति और ब्रह्मविचार—इन तीनो विषयो से अपनी बुद्धि के अनुसार मेरी थोडी-बहुत गति है अर्थात् इनके सम्बन्ध मे मै कुछ जानता हूँ।

वह धर्म, राजनीति और ब्रह्मज्ञान मे प्रवेश रखनेवाली मेरी बुद्धि भरतजी

की महिमा का वर्णन तो क्या करे, उन सबके भी उसकी छाया तक को नहीं छू पाती। ब्रह्माजी, गणेशजी, शेषजी, महादेवजी, सरस्वतीजी, कवि, ज्ञानी, पण्डित और बुद्धिमान सब किसी को भरतजी के चरित्र, कीर्ति, करनी, धर्म, शील, गुण और निर्मल ऐश्वर्य समझने में और सुनने में सुख देनेवाले हैं और पवित्रता में गङ्गाजी का तथा स्वाद, मधुरता में अमृत का भी तिरस्कार करनेवाले हैं।

भरतजी असीम गुण सम्पन्न और उपमा रहित पुरुष हैं। भरतजी के समान बस, भरतजी ही हैं, ऐसा जानो। सुमेरु पर्वत को क्या सेर के बराबर कह सकते हैं। इसलिये उन्हें किसी पुरुष के साथ उपमा देने में कवि समाज की बुद्धि भी सकुचा गयी।

अलंकार—वृत्यानुप्रास, अनन्वय।

अगम सबहि बरनत बर बरनी। जिमि जल हीन मीन गमु धरनी॥
भरत अमित महिमा सुनु रानी। जानहिं राम न सकहिं बखानी॥
बरनि सप्रेम भरत अनुभाऊ। तिय जिय की रुचि लखि कह राऊ॥
बहुरहिं लखन भरत बन जाहीं। सब कर भल सब के मन माहीं॥
देबि परन्तु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥
भरत सनेह अवधि ममता की। जद्यपि राम सींव समता की॥
परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥
साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥
दो०—भोरेहुँ भरत न पेलिहहिं, मनसहुँ राम रजाइ।
करिय न सोच सनेह बस, कहेउ भूप बिलखाइ॥२८९॥

व्याख्या—हे श्रेष्ठ वर्णवाली! भरतजी की महिमा का वर्णन करना सभी के लिये वैसे ही अगम है जैसे जलरहित पृथ्वी पर मछली का चलना। हे रानी! सुनो, भरतजी की अपरिमित महिमा को एक श्रीरामचन्द्रजी ही जानते हैं, किन्तु वे भी उसका वर्णन नहीं कर सकते। इस प्रकार प्रेम पूर्वक भरतजी के प्रभाव का वर्णन करके, फिर पत्नी के मनकी रुचि जानकर राजा ने कहा—लक्ष्मणजी लौट जायें और भरतजी वनको जायें, इसमें सभी का भला है और यही सबके मन में है। परन्तु हे देवि! भरतजी और श्रीरामचन्द्रजी का

प्रेम और एक-दूसरे पर विश्वास बुद्धि और विचार की सीमा मे नही आ सकता। यद्यपि श्रीरामचन्द्रजी समता की सीमा है, तथापि भरतजी प्रेम और ममता की सीमा हैं। श्रीरामचन्द्रजी के प्रति अनन्य प्रेम को छोडकर भरतजी ने समस्त परमार्थ, स्वार्थ और सुखो की ओर स्वप्न में भी मनसे भी नही ताका है। श्रीरामजी के चरणो का प्रेम ही उनका साधन है और वही सिद्धि है। मुझे तो भरतजी का बस, यही एकमात्र सिद्धान्त जान पडता है।

राजा ने बिलखकर प्रेम से गद्‌गद् होकर कहा—भरतजी भूलकर भी श्रीरामचन्द्रजी की आज्ञा को मनसे भी नही टालेंगे। अत. स्नेह के वश होकर चिन्ता नही करनी चाहिये।

राम-भरत-गुन गनत सप्रीती। निसि दपतिहि पलक सम बीती॥
राज समाज प्रात जुग जागे। न्हाइ न्हाइ सुर पूजन लागे॥
गे नहाइ गुरु पहिं रघुराई। बदि चरन बोले रुख पाई॥
नाथ भरत पुरजन महतारी। सोक बिकल बनवास दुखारी॥
सहित समाज राउ मिथिलेसू। बहुत दिवस भये सहत कलेसू॥
उचित होइ सोइ कीजिय नाथा। हित सबही कर रउरे हाथा॥
अस कहि अति सकुचे रघुराऊ। मुनि पुलके लखि सील सुभाऊ॥
तुम्ह बिनु राम सकल सुख साजा। नरक सरिस दुहुँ राज समाजा॥

दो०—प्रान प्रान के जीव के, जिव सुख के सुख राम।
तुम्ह तजि तात सुहात गृह, जिन्हहिं तिन्हहिं बिधि बाम॥२९०॥

व्याख्या—श्रीरामजी और भरतजी के गुणो की प्रेमपूर्वक गणना करते कहते-सुनते पति-पत्नी को रात पलक के समान बीत गयी। प्रातःकाल दोनो राज समाज जागे और नहा-नहाकर देवताओ की पूजा करने लगे। श्रीरघुनाथजी स्नान करके गुरु वशिष्ठजी के पास गये और चरणो की वन्दना करके उनका रुख पाकर बोले—हे नाथ! भरत, अवधपुर वासी तथा माताएँ सब शोकसे व्याकुल और वनवास से दुखी हैं। मिथिलापति राजा जनकजी को भी समाज सहित क्लेश सहते बहुत दिन हो गये। ऐसा कहकर श्रीरघुनाथजी अत्यन्त ही सकुचा गये। उनका शील-स्वभाव देखकर प्रेम और आनन्द से मुनि वशिष्ठजी

पुलकित हो गये। उन्होंने खुलकर कहा—हे राम! तुम्हारे बिना घर-बार आदि सम्पूर्ण सुखों के साज दोनों राज समाजों को नरक के समान हैं।

हे राम! तुम प्राणों के भी प्राण, आत्मा के भी आत्मा और सुखके भी सुख हो। हे तात! तुम्हें छोड़कर जिन्हें घर सुहाता है, उन्हें विधाता विपरीत है।

सो सुख धरम करम जरि जाऊ। जहँ न राम-पद-पङ्कज भाऊ॥
जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू॥
तुम्ह बिनु दुखी सुखी तुम्ह तेही। तुम्ह जानहु जिय जो जेहि केही॥
राउर आयसु सिर सब ही के। बिदित कृपालहि गति सब नीके॥
आपु आश्रमहि धारिय पाऊ। भयउ सनेह सिथिल मुनिराऊ॥
करि प्रनाम तब राम सिधाये। रिषि धरि धीर जनक पहिं आये॥
राम बचन गुरु नृपहि सुनाये। सील सनेह सुभाय सुहाये॥
महाराज अब कीजिय सोई। सब कर धरम सहित हित होई॥
दो०—ज्ञान निधान सुजान सुचि, धरम धीर नरपाल।
तुम्ह बिन असमंजस समन, को समरथ एहि काल॥२९१॥

व्याख्या—जहाँ श्रीराम के चरण-कमलों में प्रेम नहीं है, वह सुख, कर्म और धर्म जल जाय। जिसमें श्रीराम प्रेम की प्रधानता नहीं है, वह योग कुयोग है और वह ज्ञान अज्ञान है। तुम्हारे बिना ही सब दुखी हैं और जो सुखी हैं वे तुम्हीं से सुखी हैं। जिस-किसी के जी में जो कुछ है, तुम सब जानते हो। आपकी आज्ञा सभी के सिर पर है। आप को सभी की स्थिति अच्छी तरह मालूम है अतः आप आश्रम को पधारिये। इतना कह मुनिराज स्नेह से शिथिल हो गये। तब श्रीरामजी प्रणाम करके चले गये और ऋषि वशिष्ठजी धीरज धरकर जनकजी के पास आये। गुरुजी ने श्रीरामचन्द्रजी के शील और स्नेह से युक्त स्वभाव से ही सुन्दर वचन राजा जनकजी को सुनाये और कहा—हे महाराज! अब वही कीजिये जिसमें सबका धर्म सहित हित हो।

हे राजन्! तुम ज्ञान के भण्डार, सुजान, पवित्र और धर्म में धीर हो। इस समय तुम्हारे बिना इस दुविधा को दूर करने में और कौन समर्थ है?

अलंकार—रूपक।

सुनि मुनि-बचन जनक अनुरागे। लखि गति ज्ञान बिराग बिरागे॥
सिथिल सनेह गुनत मन माहीं। आये इहाँ कीन्ह भल नाहीं॥
रामहि राय कहेउ बन जाना। कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रवाना॥
हम अब बन तें बनहि पठाई। प्रमुदित फिरब बिवेक बड़ाई॥
तापस-मुनि महिसुर सुनि देखी। भये प्रेमबस बिकल बिसेखी॥
समउ समुझि धरि धीरज राजा। चले भरत पहिं सहित समाजा॥
भरत आइ आगे भइ लीन्हे। अवसर सरिस सुआसन दीन्हे॥
तात भरत कह तिरहुति राऊ। तुम्हहि बिदित रघुबीर सुभाऊ॥

दो०—राम सत्यव्रत धरम रत, सब कर सील सनेहु।
संकट सहत संकोचबस, कहिय जो आयसु देहु॥२९२॥

व्याख्या—मुनि वशिष्ठजी के वचन सुनकर जनकजी प्रेममे मग्न हो गये। उनकी दशा देखकर ज्ञान और वैराग्य को भी वैराग्य हो गया अर्थात् उनके ज्ञान-वैराग्य छूट-से गये। वे प्रेमसे शिथिल हो गये। और मनमे विचार करते लगे कि हम यहा आये यह अच्छा नही किया।

राजा दशरथजी ने श्रीरामजी को वन जाने के लिये कहा और स्वय अपने प्रियके प्रेमको प्रमाणित कर दिया। उन्होने प्रिय वियोग मे प्राण त्याग दिये। परन्तु हम अब इन्हे वन से और गहन वन को भेजकर अपने विवेक की बडाई मे आनन्दित होते हुए लौटेंगे कि हमे जरा भी मोह नही है, हम श्रीरामजी को वनमे छोडकर चले आये, दशरथजी की तरह मरे नही। तपस्वी, मुनि और ब्राह्मण यह सब सुन और देखकर प्रेमवश बहुत ही व्याकुल हो गये। समय का विचार करके राजा जनकजी धीरज धरकर समाज सहित भरतजी के पास चले। भरतजी ने आकर उन्हे आगे होकर लिया (सामने आकर उनका स्वागत किया) और समयानुकूल अच्छे आसन दिये। तिरहुतराज जनकजी कहने लगे—हे तात भरत! तुमको श्रीरामजी का स्वभाव मालूम ही है।

श्रीरामचन्द्रजी सत्यव्रती और धर्मपरायण हैं, सबका शील और स्नेह रखने वाले हैं। इसीलिये वे सकोचवश सकट सह रहे हैं, अब तुम जो आज्ञा दो, वह उनसे कही जाय।

सुनि तन पुलकि नयन भरि बारी। बोले भरत धीर धरि भारी॥
प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुल गुरु-सम हित माय न बापू॥
कौसिकादि मुनि सचिव समाजू। ज्ञान अंबुनिधि आपुन आजू॥
सिसु सेवक आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइय स्वामी॥
एहि समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन मैं बोलब बाउर॥
छोटे वदन कहउँ बडि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरम कठिन जग जाना॥
स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू। बैर अंध प्रेमहि न प्रबोधू॥

दो०—राखि राम रुख धरमु व्रत, पराधीन मोहि जान।
सब के संमत सर्वहित, करिय प्रेम पहिचान ॥२९३॥

व्याख्या—भरतजी यह सुनकर पुलकित शरीर हो गये, वे नेत्रों में जल भरकर बडा भारी धीरज धरकर बोले। हे प्रभो! आप हमारे पिता के समान प्रिय और पूज्य और कुलगुरु श्रीवशिष्ठजी के समान हितैषी तो माता-पिता भी नही हैं। विश्वामित्रजी आदि मुनियों और मन्त्रियों का समाज है और आज के दिन ज्ञान के समुद्र आप भी उपस्थित हैं। हे स्वामी! मुझे अपना बच्चा सेवक और आज्ञानुसार चलने वाला समझकर शिक्षा दीजिये। इस समाज और पुण्य स्थल मे आप जैसे ज्ञानी और पूज्य का पूछना, इस पर यदि मैं मौन रहता हूँ तो मलिन समझा जाऊँगा, और बोलना पागलपन होगा। तथापि मैं छोटे मुँह बडी बात कहता हूँ। हे तात! विधाता को प्रतिकूल जानकर क्षमा कीजियेगा। वेद, शास्त्र और पुराणो मे प्रसिद्ध है और जगत् जानता है कि सेवा धर्म बडा कठिन है, स्वामी के प्रति कर्तव्यपालन मे और स्वार्थ में विरोध है। दोनों एक साथ नही निभ सकते। वैर अंधा होता है और प्रेम को ज्ञान नही रहता। मैं स्वार्थवश कहूँगा या प्रेमवश, दोनो में ही भूल होने का भय है।

अतएव मुझे पराधीन जानकर मुझसे न पूछकर श्रीरामचन्द्रजी के रुचि धर्म और सत्य के व्रत को रखते हुए जो सब के सम्मत और सबके लिये हितकारी हो आप सबका प्रेम पहचानकर वही कीजिये।

भरत बचन सुनि देखि सुभाऊ। सहित समाज सराहत राऊ॥
सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथ अमित अति आखर थोरे॥
ज्यों मुख मुकुर मुकुर निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥
भूप भरत मुनि साधु समाजू। गे जहँ बिबुध-कुमुद-द्विज राजू॥
सुनि सुधि सोच बिकल सब लोगा। मनहुँ मीनगन नवजल जोगा॥
देव प्रथम कुल-गुरु-गति देखी। निरखि बिदेह सनेह बिसेखी॥
राम-भगति-मय भरत निहारे। सुर स्वारथी हहरि हिय हारे॥
सब कोउ राम प्रेममय पेखा। भये अलेख सोचबस लेखा॥
दो०—राम सनेह-सकोच-बस, कह ससोच सुरराजु।
रचहु प्रपंचहि पच मिलि, नाहिं न भयउ अकाज॥२९४॥

व्याख्या—भरतजी के वचन सुनकर और स्वभाव देखकर समाज सहित राजा जनक उनकी सराहना करने लगे। भरतजी के वचन सुगम और अगम, सुन्दर, कोमल और कठोर हैं। उनमे अक्षर थोडे हैं, परन्तु अर्थ अत्यन्त अपार भरा हुआ है। जैसे मुख का प्रतिबिम्ब दर्पण मे दीखता है और दर्पण अपने हाथ मे है, फिर भी वह मुख का प्रतिबिम्ब पकडा नही जाता, इस प्रकार भरतजी की यह अद्भुत वाणी पकड मे नही आती। किसी से कुछ उत्तर नही बना। तब राजा जनकजी, भरतजी तथा मुनि वशिष्ठजी समाज के साथ वहाँ गये जहाँ देवता रूपी कुमुदो के खिलाने वाले सुख देने वाले चन्द्रमा श्रीरामचन्द्रजी थे। यह समाचार सुनकर सब लोग सोच से व्याकुल हो गये, जैसे पहली वर्षा के जल के संयोग से मछलियाँ व्याकुल होती हैं। देवताओं ने पहले कुल गुरु वशिष्ठजी की प्रेमविह्वल दशा देखी, फिर विदेहजी के विशेष स्नेह को देखा, और तब श्रीरामभक्ति से ओत प्रोत भरतजी को देखा। इन सबको देखकर स्वार्थी देवता घबडाकर हृदय मे (निराश हो गये)। उन्होंने सब किसी को श्रीराम प्रेम मे सराबोर देखा। इससे देवता इतने सोच के वश हो गये कि जिसका कोई हिसाब नही।

देवराज इन्द्र सोच मे भरकर कहने लगे कि श्रीरामचन्द्रजी तो स्नेह और सकोच के वश मे हैं। इसलिये सब लोग मिलकर कुछ माया रचो, नही तो काम बिगडा ही समझो।

सुरन्ह सुमिर सारदा सराही । देवि देव सरनागत पाही ॥
फेरि भरत मति करि निजमाया । पालु विबुध कुल करि छल छाया ॥
विबुध बिनय सुनि देवि सयानी । बोली सुर स्वारथ जड़ जानी ॥
मो सन कहहु भरत मति फेरू । लोचन सहस न सूझ सुमेरू ॥
बिधि हरि-हर माया बड़ि भारी । सोउ न भरत मति सकइ निहारी ॥
सो मति मोहि कहत करु भोरी । चाँदिनि करकि चंडकर चोरी ॥
भरत हृदय सिय-राम-निवासू । तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू ॥
अस कहि सारद गइ बिधि लोका । बिबुध बिकल निसि मानहुँ कोका ॥

दो०—सुर स्वारथी मलीन मन, कीन्ह कुमंत्र कुठाटु ।
रचि प्रपंच माया प्रबल, भय भ्रम अरति उचाटु ॥२९५॥

व्याख्या—देवताओं ने सरस्वती का स्मरण कर उनकी सराहना की और कहा—हे देवि! देवता आपके शरणागत हैं, उनकी रक्षा कीजिये। अपनी माया रचकर भरतजी की बुद्धि को फेर दीजिये। और छल की छाया कर देवताओं के कुल की रक्षा कीजिये। देवताओं की विनती सुनकर और देवताओं को स्वार्थ के वश होने से मूर्ख जानकर बुद्धिमती सरस्वतीजी बोली—मुझसे कह रहे हो कि भरतजी की मत पलट दो। हजार नेत्रों से भी तुमको नहीं सूझ पड़ता। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की माया बड़ी प्रबल है, किन्तु वह भी भरतजी की बुद्धि की ओर ताक नहीं सकती! उस बुद्धि को, तुम मुझसे कह रहे हो कि भोली कर दो। अरे! चाँदनी कहीं प्रचण्ड किरण वाले सूर्य को चुरा सकती है। भरतजी के हृदय में श्रीसीतारामजी का निवास है। जहाँ सूर्य का प्रकाश है, वहाँ कहीं अँधेरा रह सकता है। ऐसा कहकर सरस्वतीजी ब्रह्मलोक को चली गयी। देवता ऐसे व्याकुल हुए जैसे रात्रि में चकवा व्याकुल होता है।

मलिन मनवाले स्वार्थी देवताओं ने बुरी सलाह करके बुरा ठाट (षड्यन्त्र) रचा, और प्रबल माया-जाल रचकर भय, भ्रम, अप्रीति और उच्चाटन फैला दिया।

अलंकार—दृष्टान्त।

करि प्रनाम सब कहँ कर जोरे। राम राउ गुर साधु निहोरे ॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ वचन मृदु बचन कठोरा ॥
हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई ॥
विमल विवेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली ॥

दो०—निरखि विवेक विलोचनन्हि, सिथिल सनेह समाजु।
करि प्रनाम बोले भरत, सुमिरि सीय रघुराजु ॥२९७॥

व्याख्या—भरतजी ने सभा को सकोच के वश देखा भरतजी ने बड़ा भारी धीरज धरकर और कुसमय देखकर अपने उमड़ते हुए प्रेम को सँभाला, जैसे बढ़ते हुए विन्ध्याचल को अगस्त्यजी ने रोका था। शोक रूपी हिरण्याक्ष ने सारी सभा की बुद्धिरूपी पृथ्वी को हर लिया जो विमल गुण-समूहरूपी जगत् को उत्पन्न करने वाली थी। भरतजी के विवेकरूपी विकाल वराहरूपधारी भगवान् ने शोकरूपी हिरण्याक्ष को नष्ट कर विना ही परिश्रम उनका उद्धार कर दिया। भरतजी ने प्रणाम करके सबके प्रति हाथ जोड़े तथा श्रीरामचन्द्रजी, राजा जनकजी, गुरु वशिष्ठजी और साधु-संत सबसे विनती की और कहा—आज मेरे इस अत्यन्त अनुचित वर्ताव को क्षमा कीजियेगा। मैं छोटे मुख से धृष्टतापूर्ण वचन कह रहा हूँ। फिर उन्होंने हृदय में सुहावनी सरस्वतीजी का स्मरण किया। वे उनके मनरूपी मान सरोवर से उनके मुखारविन्द पर आ विराजी। निर्मल विवेक, धर्म और नीति से युक्त भरतजी की वाणी हंसिनी के समान गुण-दोष का विवेचन करने वाली है।

विवेक के नेत्रों से सारे समाज को प्रेम से शिथिल देख, सबको प्रणाम कर, श्रीसीताजी और श्री रघुनाथजीका स्मरण करके भरतजी बोले।

अलंकार—दृष्टान्त, रूपक।

प्रभु पित मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परमहित अंतरजामी ॥
सरल सुसाहिब सील निधानू। प्रनतपाल सर्वज्ञ सुजानू ॥
समरथ सरनागत हितकारी। गुनगाहक अवगुन-अघ-हारी ॥
स्वामि गोसाईंहि सरिस गोसाईं। मोहि समान मैं स्वामि दोहाईं ॥
प्रभु-पितु-बचन मोहवस पेली। आयेउँ इहाँ समाज सकेली ॥

जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिय अमरपद माहुर मीचू॥
रामरजाइ मेट मन माही। देखा सुना कतहुं कोउ नाहीं॥
सो मैं सब विधि कीन्ह ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई॥
दो०—कृपा भलाई आपनी, नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस, सुजस चारु चहुँ ओर॥२९८॥

व्याख्या—हे प्रभु ! आप पिता, माता, सुहृद (मित्र), गुरु, स्वामी, पूज्य, परम हितैषी और अन्तर्यामी है। सरल हृदय, श्रेष्ठ मालिक, शील के भण्डार, शरणागत की रक्षा करने वाले, सर्वज्ञ, सुजान, समर्थ, शरणागत का हित करने वाले, गुणो का आदर करने वाले और अवगुणो तथा पापो को हरने वाले हैं। हे गोसाई ! आप-सरीखे स्वामी आप ही है और स्वामी के साथ द्रोह करने मे मेरे समान मैं ही हूं। मैं मोहवश आप के और पिताजी के वचनो का उल्लङ्घन कर और समाज बटोरकर यहाँ आया हूँ। जगत् मे भले-बुरे, ऊँचे और नीचे, अमृत और अमरपद, विष और मृत्यु आदि किसी को भी कही ऐसा नही देखा-सुना जो मनमे भी श्रीरामचन्द्रजी (आप) की आज्ञा को मेट दे। मैंने सब प्रकार से वही ढिठाई की, परन्तु प्रभु ने उस ढिठाई को स्नेह और सेवा मान लिया।

हे नाथ ! आपने अपनी कृपा और भलाई से मेरा भला किया, जिससे मेरे दोष भी गुण के समान हो गये और चारो ओर मेरा सुन्दर यश छा गया।

अलंकार—वृत्यानुप्रास, अनुप्रास।

राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत विदित निगमागम गाई।
क्रूर कुटिल खल कुमति कलकी। नीच निसील निरीस निसकी॥
तेउ सुनि सरन सामुहे आये। सकृत प्रनाम किये अपनाये॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समान साज सब साजी॥
निज करतूति न समुझिय सपने। सेवक सकुच सोच उर अपने॥
सो गोसाइँ नहि दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी॥
पसु नाचत सुक पाठ प्रबोना। गुनगति नट पाठक आधीना॥

करि प्रनाम सब कहँ कर जोरे। राम राउ गुरु साधु निहोरे॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा॥
हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई॥
बिमल बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥

दो०—निरखि बिबेक बिलोचनन्हि, सिथिल सनेह समाजु।
करि प्रनाम बोले भरत, सुमिरि सीय रघुराजु॥२९७॥

व्याख्या—भरतजी ने सभा को सकोच के वश देखा भरतजी ने बड़ा भारी धीरज धरकर और कुसमय देखकर अपने उमड़ते हुए प्रेम को सँभाला, जैसे बढ़ते हुए विन्ध्याचल को अगस्त्यजी ने रोका था। शोक रूपी हिरण्याक्ष ने सारी सभा की बुद्धिरूपी पृथ्वी को हर लिया जो विमल गुण-समूहरूपी जगत् को उत्पन्न करने वाली थी। भरतजी के विवेकरूपी विकाल वराहरूपधारी भगवान् ने शोकरूपी हिरण्याक्ष को नष्ट कर बिना ही परिश्रम उनका उद्धार कर दिया। भरतजी ने प्रणाम करके सबके प्रति हाथ जोड़े तथा श्रीरामचन्द्रजी, राजा जनकजी, गुरु वशिष्ठजी और साधु-संत सबसे विनती की और कहा—आज मेरे इस अत्यन्त अनुचित बर्ताव को क्षमा कीजियेगा। मैं छोटे मुख से धृष्टतापूर्ण वचन कह रहा हूँ। फिर उन्होंने हृदय में सुहावनी सरस्वतीजी का स्मरण किया। वे उनके मनरूपी मान सरोवर से उनके मुखारविन्द पर आ विराजी। निर्मल विवेक, धर्म और नीति से युक्त भरतजी की वाणी हंसिनी के समान गुण-दोष का विवेचन करने वाली है।

विवेक के नेत्रों से सारे समाज को प्रेम से शिथिल देख, सबको प्रणाम कर, श्रीसीताजी और श्री रघुनाथजीका स्मरण करके भरतजी बोले।

अलंकार—दृष्टान्त, रूपक।

प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी। पूज्य परमहित अंतरजामी॥
सरल सुसाहिब सील निधानू। प्रनतपाल सर्बग्य सुजानू॥
समरथ सरनागत हितकारी। गुनगाहक अवगुन-अघ-हारी॥
स्वामि गोसाइँहि सरिस गोसाईं। मोहि समान मैं स्वामि दोहाईं॥
प्रभु-पितु-बचन मोहबस पेली। आयेउँ इहाँ समाज सकेली॥

जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिय अमरपद माहुर मीचू ॥
रामरजाइ मेट मन माही। देखा सुना कतहुं कोउ नाहीं ॥
सो मैं सब विधि कीन्ह ढिठाई। प्रभु मानी सनेह सेवकाई ॥
दो०—कृपा भलाई आपनी, नाथ कीन्ह भल मोर।
दूषन भे भूषन सरिस, सुजस चारु चहुँ ओर ॥२९८॥

व्याख्या—हे प्रभु ! आप पिता, माता, सुहृद (मित्र), गुरु, स्वामी, पूज्य, परम हितैषी और अन्तर्यामी हैं। सरल हृदय, श्रेष्ठ मालिक, शील के भण्डार, शरणागत की रक्षा करने वाले, सर्वज्ञ, सुजान, समर्थ, शरणागत का हित करने वाले, गुणो का आदर करने वाले और अवगुणो तथा पापो को हरने वाले हैं। हे गोसाई ! आप-सरीखे स्वामी आप ही है और स्वामी के साथ द्रोह करने मे मेरे समान मैं ही हूँ। मैं मोहवश आप के और पिताजी के वचनो का उल्लङ्घन कर और समाज बटोरकर यहाँ आया हूँ। जगत् मे भले-बुरे, ऊँचे और नीचे, अमृत और अमरपद, विष और मृत्यु आदि किसी को भी कही ऐसा नही देखा-सुना जो मनमे भी श्रीरामचन्द्रजी (आप) की आज्ञा को मेट दे। मैंने सब प्रकार से वही ढिठाई की, परन्तु प्रभु ने उस ढिठाई को स्नेह और सेवा मान लिया।

हे नाथ ! आपने अपनी कृपा और भलाई से मेरा भला किया, जिससे मेरे दोष भी गुण के समान हो गये और चारो ओर मेरा सुन्दर यश छा गया।

अलंकार—वृत्यानुप्रास, अनुप्रास।

राउरि रीति सुबानि बडाई। जगत विदित निगमागम गाई।
क्रूर कुटिल खल कुमति कलकी। नीच निसील निरीस निसकी ॥
तेउ सुनि सरन सामुहे आये। सकृत प्रनाम किये अपनाये ॥
देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने ॥
को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समान साज सब साजी ॥
निज करतूति न समुझिय सपने। सेवक सकुच सोच उर अपने ॥
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी ॥
पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना। गुनगति नट पाठक

दो०—यों सुधारि सनमानि जन, किये साधु सिरमोर।
को कृपाल विनु पालिहइ, बिरदावलि वरजोर ॥२९९॥

व्याख्या—हे नाथ! आपकी रीति और सुन्दर स्वभाव की बड़ाई जगत् मे प्रसिद्ध है और वेद-शास्त्रों ने गायी है। जो क्रूर, कुटिल दुष्ट, कुबुद्धि, कलङ्की, नीच, शील रहित, नास्तिक और निडर हैं, उन्हें भी आपने शरण में सम्मुख आया सुनकर एक बार प्रणाम करने पर ही अपना लिया। उन के दोषों को देखकर भी आप कभी हृदय मे नहीं लाये और उनके गुणों को सुनकर साधुओं के समाज मे उनका बखान किया। ऐसा सेवक पर कृपा करने वाला स्वामी कौन है जो आप ही सेवक का सारा साज सामान सज दे और स्वप्न् मे भी अपनी कोई करनी न समझकर अर्थात् मैंने सेवक के लिये कुछ किया है ऐसा न जानकर उलटा सेवक को संकोच होगा, इसका सोच अपने हृदय मे रक्खे। मैं भुजा उठाकर और प्रण रोपकर बड़े जोर के साथ कहता हूँ, ऐसा स्वामी आपके सिवा दूसरा कोई नही है। बंदर आदि पशु नाचते और तोते सीखे हुए पाठ मे प्रवीण हो जाते हैं। परन्तु तोते का गुण और पशु के नाचने की गति पढ़ाने वाले और नचाने वाले के अधीन है।

इस प्रकार अपने सेवको की बिगड़ी बात सुधार कर और सम्मान देकर आपने उन्हें साधुओं का शिरोमणि बना दिया। कृपालु आप के सिवा अपने बिरदावली का और कौन हठ पूर्वक पालन करेगा?

सोक सनेह कि बाल सुभाएँ। आयउँ लाइ रजायसु बाएँ॥
तबहुँ कृपालु हेरि निज ओरा। सबहि भाँति भल मानेउ मोरा॥
देखेउँ पाय सु-मगल-मूला। जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला॥
बड़े समाज बिलोकेउँ भागू। बड़ी चूक साहिब अनुरागू॥
कृपा अनुग्रह अंग अघाई। कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई॥
राखा मोर दुलार गोसाईं। अपने सील सुभाय भलाईं॥
नाथ निपट मैं कीन्हि ढिठाई। स्वामि समाज सकोच बिहाई॥
अबिनय बिनय जथारुचि बानी। छमहि देव अति आरति जानी॥

दो०—सुहृद सुजान सुसाहिबहि, बहुत कहब बड़ि खोरि।
आयसु देइय देव अब, सबइ सुधारिय मोरि॥३००॥

व्याख्या—मैं शोक से या स्नेह से या बालक स्वभाव से आज्ञा को न मानकर चला आया, तो भी कृपालु स्वामी आप ने अपनी ओर देखकर सभी प्रकार से मेरा भला ही माना। मेरे इस अनुचित कार्य को अच्छा ही समझा। मैंने सुन्दर मङ्गलो के मूल आपके चरणो का दर्शन किया और यह जान लिया कि स्वामी मुझ पर स्वभाव से ही अनुकूल हैं। इस बड़े समाज मे अपने भाग्य को देखा कि इतनी बडी चूक होने पर भी स्वामी का मुझपर कितना अनुराग है। कृपानिधान ने मुझपर साङ्गोपाङ्ग भर पेट कृपा और अनुग्रह, सब अधिक ही किये है अर्थात् मैं जिसके जरा भी लायक नही था उतनी अधिक सर्वाङ्गपूर्ण कृपा आपने मुझपर की है। हे गोसाई! आपने अपने शील, स्वभाव और भलाई से मेरा दुलार रक्खा। हे नाथ! मैंने स्वामी और समाज के सकोच को छोड़कर अविनय या विनय भरी जैसी रुचि हुई वैसी ही वाणी कहकर सर्वथा ढिठाई की है। हे देव! मेरी आतुरता को जानकर आप क्षमा करेंगे।

सुहृद बुद्धिमान् और श्रेष्ठ मालिक से बहुत कहना बडा अपराध है। इस-लिये हे देव! अब मुझे आज्ञा दीजिये, आपने मेरी सभी बात सुधार दी।

प्रभु - पद - पदुम पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुखसीवँ सुहाई॥
सो करि कहउँ हिये अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की॥
सहज सनेह स्वामिसेवकाई। स्वारथ छल फल चारि विहाई॥
आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावहि देवा।
अस कहि प्रेम विवस भये भारी। पुलक शरीर विलोचन बारी॥
प्रभु - पद - कमल गहे अकुलाई। समउ सनेह न सो कहि जाई॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाये समीप गहि पानी॥
भरत विनय सुनि देखि सुभाऊ। सिथिल सनेह सभा रघुराऊ॥

छंद—रघुराउ सिथिल सनेह साधु समाज मुनि मिथिला धनी।
मन महँ सराहत भरत-भायप-भगति की महिमा घनी॥
भरतहि प्रसंसत विबुध बरपत सुमन मानस मलिन से।
तुलसी विकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से॥

सो०—देखि दुखारी दीन, दुहु समाज नरनारि सब ।
मघवा महामलीन, मुयेहि मारि मगल चहत ॥३०१ ॥

व्याख्या—भरत कहते हैं कि आप के चरण कमलों की रज, जो सत्य, सुकृत, पुण्य और सुख की सुहावनी सीमा है, उसकी दुहाई करके मैं अपने हृदय की जागते, सोते और स्वप्न में भी बनी रहने वाली इच्छा कहता हूँ । वह रुचि है—कपट, स्वार्थ और अर्थ-धर्म-काम-मोक्षरूपी चारों फलों को छोड़कर स्वाभाविक प्रेम से स्वामी की सेवा करना और आज्ञा पालन के समान श्रेष्ठ स्वामी-की और कोई सेवा नहीं है । हे देव ! अब वही आज्ञारूप प्रसाद सेवक को मिल जाय । भरतजी ऐसा कहकर प्रेम से बहुत ही विवश हो गये । शरीर पुलकित हो उठा, नेत्रों में प्रेमाश्रुओं का जल भर आया । व्याकुल होकर उन्होंने प्रभु श्रीरामचन्द्रजी के चरण कमल पकड़ लिये । उस समय को और स्नेह को कहा नहीं जा सकता । कृपासिन्धु श्रीरामचन्द्रजी ने सुन्दर वाणी से भरतजी का सम्मान करके हाथ पकड़कर उनको अपने पास बिठा लिया । भरतजी की विनती सुनकर और उनका स्वभाव देखकर सारी सभा और श्रीरघुनाथजी स्नेह से शिथिल हो गये ।

श्रीरघुनाथजी, साधुओं का समाज, मुनि वसिष्ठजी और मिथिलापति जनकजी स्नेह से शिथिल हो गये । सब मन-ही-मन भरतजी के भाईपन और उनकी भक्ति की अतिशय महिमा को सराहने लगे । देवता मलिन-से मन से भरतजी की प्रशंसा करते हुए उन पर फूल बरसाने लगे । तुलसीदासजी कहते हैं—सब लोग भरतजी का भाषण सुनकर व्याकुल हो गये, और ऐसे सकुचा गये जैसे रात्रि के आगमन से कमल !

दोनों समाजों के सभी नर-नारियों को दीन और दुखी देखकर महामलिन-मन इन्द्र मरे हुओं को मारकर अपना मङ्गल चाहता है ।

अलङ्कार—वृत्यानुप्रास, उपमा ।

कपट - कुचालि - सीँव, सुरराजू । पर-अकाज-प्रिय आपन काजू ॥
काक समान पाक - रिपु - रीती । छली मलीन कतहुँ न प्रतीती ॥
प्रथम कुमत करि कपट सकेला । सो उचाट सबके सिर मेला ॥

सुरमाया सब लोग बिमोहे। राम प्रेम अतिशय न बिछोहे॥
भये उचाटवस मन थिर नाहीं। छन बन रुचि छन सदन सुहाहीं॥
दुबिध मनोगत प्रजा दुखारी। सरित सिंधु संगम जनु बारी॥
दुचित कतहुँ परितोष न लहहीं। एक एक सन मरम न कहहीं॥
लखि हिय हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुवानू॥

दो०—भरत जनक मुनिजन सचिव, साधु सचेत बिहाइ।
लागि देव माया सबहि, जथाजोग जन पाइ॥३०२॥

शब्दार्थ—सीव = सीमा। पाकरिपु = इन्द्र। सँकेला = साज सजा।

व्याख्या—देवराज इन्द्र कपट और कुचाल की सीमा है। उसे परायी हानि और अपना लाभ ही प्रिय है। इन्द्रकी रीति कौए के समान है। वह छली और मलिन-मन है, उसका कही किसी पर विश्वास नही है। पहले तो बुरा विचार करके कपट को बटोरा अनेक प्रकार के कपट का साज सजा। फिर वह कपट जनित उचाट सबके सिरपर डाल दिया। फिर देवमाया से सब लोगो को विशेष रूप से मोहित कर दिया, किन्तु श्रीरामचन्द्रजी के प्रेम से उनका अत्यन्त बिछोह नही हुआ। भय और उचाट के वश किसी का मन स्थिर नही है। क्षण मे उनकी वन मे रहने की इच्छा होती है और क्षण मे उन्हे घर अच्छे लगने लगते हैं। मन की इस प्रकार की दुविधामयी स्थिति से प्रजा दुखी हो रही है। मानो नदी और समुद्र के सङ्गम का जल क्षुब्ध हो रहा हो। जैसे नदी और समुद्र के सङ्गम का जल स्थिर नही रहता, कभी इधर आता और कभी उधर जाता है, उसी प्रकार की दशा प्रजा के मन की हो गयी। चित्त दोतरफा हो जाने से वे कही सन्तोष नही पाते और एक दूसरे से अपना मर्म भी नही कहते। कृपानिधान श्रीरामचन्द्रजी यह दशा देखकर हृदय मे हँसकर कहने लगे—कुत्ता, इन्द्र और कामी पुरुष एक ही स्वभाव के है।

भरतजी, जनकजी, मुनिजन, मन्त्री और ज्ञानी साधु-संतोको छोडकर अन्य सभी पर जिस मनुष्य को जिस योग्य पाया, उस पर वैसे ही देवमाया लग गयी।

अलंकार—वृत्यानुप्रास, उपमा।

कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेह सुर-पति-छल भारे॥
सभा राउ गुरु महिसुरि मन्त्री। भरत भगति सब कै मति जंत्री॥
रामहि चितवत चित्र लिखे से। सकुचत बोलत बचन सिखे से॥
भरत-प्रीति-नति विनय-बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई॥
जासु विलोकि भगति लवलेसू। प्रेममगन मुनिगन मिथिलेसू॥
महिमा तासु कहइ किमि तुलसी। भगति सुभाय सुमति हिय हुलसी॥
आपु छोटि महिमा बडि जानी। कविकुल कानि मानि सकुचानी॥
कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई। मतिगति बाल बचन की नाई॥
दो०—भरत विमल-जस विमल बिधु, सुमति चकोर कुमारि।
उदित विमल जन हृदय नभ, एक टक रही निहारि॥३०३॥

शब्दार्थ—जंत्री = कील दिया।

व्याख्या—कृपासिन्धु श्रीरामचन्द्रजी ने लोगों को अपने स्नेह और देवराज इन्द्र के भारी छलसे दुखी देखा। सभा, राजा जनक, गुरु, ब्राह्मण और मन्त्री आदि सभी की बुद्धि को भरतजी की भक्ति ने कील दिया। सब लोग चित्र लिखे से श्रीरामचन्द्रजी की ओर देख रहे हैं। सकुचाते हुए सिखाये हुए से वचन बोलते हैं। भरतजी की प्रीति, नम्रता, विनय और बड़ाई सुनने में सुख देने वाली है, पर उसके वर्णन करने में कठिनता है। जिनकी भक्ति का लवलेश देखकर मुनिगण और मिथिलेश्वर जनकजी प्रेम में मग्न होगये, उन भरतजी की महिमा तुलसीदास कैसे कहें? उनकी भक्ति और सुन्दर भाव से कवि के हृदय में सुबुद्धि हुलस रही है।

परन्तु वह बुद्धि अपने को छोटी और भरतजी की महिमा को बड़ी जानकर कवि परम्परा की मर्यादा को मानकर सकुचा गयी। उनका वर्णन करने का साहस नहीं कर सकी। उसकी गुणों में रुचि तो बहुत है; पर उन्हें कह नहीं सकती। बुद्धि की गति बालक के वचनों की तरह हो गयी।

भरतजी का निर्मल यश निर्मल चन्द्रमा है और कवि की सुबुद्धि चकोरी है, जो भक्तों के हृदय रूपी निर्मल आकाश में उस चन्द्रमा को उदित देखकर उसकी ओर टकटकी लगाये देखती ही रह गयी है तब उसका वर्णन कौन करे?

अलंकार—अनुप्रास, उपमा।

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ। लघुमति चापलता कवि छमहूँ॥
कहत सुनत सतिभाउ भरत को। सीय-राम-पद होइ न रत को॥
सुमिरत भरतहि प्रेम राम को। जेहि न सुलभ तेहि सरिस बाम को॥
देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥
धरमधुरीन धीर नयनागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥
देस काल लखि समय समाजू। नीति-प्रीति-पालक रघुराजू॥
बोले बचन बानि सरबस से। हित परिनाम सुनत ससि रस से।
तात भरत तुम्ह परम धुरीना। लोक-वेद-विद परम प्रवीना॥

दो०—करम बचन मानस बिमल, तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुरु समाज लघु-बंधु-गुन, कुसमय किमि कहि जात॥३०४॥

व्याख्या—भरतजी के स्वभाव का वर्णन वेदों के लिये भी सुगम नहीं है। अतः मेरी तुच्छ बुद्धि की चञ्चलता को कवि लोग क्षमा करें। भरतजी के सद्भाव को कहते-सुनते कौन मनुष्य श्री सीताराम जी के चरणों में अनुरक्त न हो जायगा। भरतजी का स्मरण करने में जिसको श्रीरामजी का प्रेम सुलभ न हुआ, उसके समान अभागा और कौन होगा? दयालु और सुजान श्रीरामजी ने सभी की दशा देखकर और भरतजी के हृदय की स्थिति जानकर, धर्मधुरन्धर, धीर, नीति में चतुर, सत्य, स्नेह, शील और सुख के समुद्र, नीति और प्रीति के पालन करने वाले श्रीरघुनाथजी देश, काल, अवसर और समाज को देखकर, ऐसे वचन बोले जो मानो वाणी के सर्वस्व ही थे, परिणाम में हितकारी थे और सुनने में चन्द्रमा के रस सरीखे थे। उन्होंने कहा कि हे तात भरत! तुम धर्म की धुरी को धारण करने वाले हो, लोक और वेद दोनों के जानने वाले और प्रेम में प्रवीण हो।

हे तात! कर्म से, वचनसे और मन से निर्मल तुम्हारे समान तुम्ही हो। गुरुओं के समाज में और ऐसे कुसमय में छोटे भाई के गुण किस तरह कहे जा सकते हैं?

जानहु तात तरनि-कुल-रीती। सत संध पितु कीरति प्रीती॥
समउ समाज लाज गुरुजन की। उदासीन हित अनहित मन की॥

तुम्हहिं विदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू॥
मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा। तदपि कहउँ अवसर अनुसारा॥
तात तात बिनु बात हमारी। केवल कुल-गुरु-कृपा सँभारी॥
न तरु प्रजा पुरजन परिवारू। हमहिं सहित सब होत खुआरू॥
जौं बिनु अवसर अथव दिनेसू। जग केहि कहहु न होइ कलेसू॥
तस उतपात तात विधि कीन्हा। मुनि मिथिलेस राखि सबु लीन्हा॥
दो०—राजकाज सह लाज पति, धरम धरनि धन धाम।
गुरु प्रभाउ पालिहि सबहिं, भल होइहि परिनाम॥३०५॥

व्याख्या—हे तात ! तुम सूर्य कुल की रीति को, सत्य प्रतिज्ञ पिताजी की कीर्ति और प्रीति को, समय, समाज और गुरुजनों की मर्यादा को तथा उदासीन, मित्र और शत्रु सबके मनकी बात को जानते हो तुमको सबके कर्तव्यों का और अपने तथा मेरे परम हितकारी धर्म का पता है। यद्यपि मुझे तुम्हारा सब प्रकार से भरोसा है, तथापि मैं समय के अनुसार कुछ कहता हूँ। हे तात ! पिताजी के बिना उनकी अनुपस्थिति में हमारी बात केवल गुरुवंश की कृपा ने ही सम्हाल रक्खी है, नहीं तो हमारे समेत प्रजा, कुटुम्ब, परिवार सभी बर्बाद हो जाते। यदि बिना समय के सन्ध्या से पूर्व ही सूर्य अस्त हो जाय, तो कहो जगत् में किसको क्लेश न होगा ? हे तात ! इसी प्रकार का उत्पात विधाता ने यह किया है, पर मुनि महाराज ने तथा मिथिलेश्वर ने सबको बचा लिया।

सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुरु प्रसाद रखवारा॥
मातु-पिता गुरु-स्वामि-निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनि-कुल पालक होहू॥
साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥
सो बिचार सहि संकट भारी। करहु प्रजा परिवार सुखारी॥
बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई। तुम्हहिं अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥
जानि तुम्हहिं मृदु कहहुँ कठोरा। कुसमय तात न अनुचित मोरा॥
होहिं कुठायँ सुबन्धु सहाये। ओड़िअहिं हाथ असनिहु घाये॥
दो०—सेवक कर पद नयन से, मुख सो साहिब होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि, सुकवि सराहहिं सोइ॥३०६॥

शब्दार्थ—निदेसू=आज्ञा। ओड़िअहिं=रोके जाते है। असनिहु=वज्र।

व्याख्या—राज्य का सब कार्य, लज्जा, प्रतिष्ठा, धर्म, घर—इन सबका पालन गुरुजी का प्रभाव करेगा और परिणाम शुभ होगा गुरुजी का अनुग्रह ही घरमे और वनमे समाज सहित तुम्हारा और हमारा रक्षक है। माता, पिता, गुरु और स्वामी की आज्ञा का पालन समस्त धर्म रूपी पृथ्वी को धारण करने मे शेषजी के समान है। हे तात! तुम वही करो और मुझसे भी कराओ तथा सूर्यकुल के रक्षक बनो। साधक के लिये यह एक ही सम्पूर्ण सिद्धियो की देने वाली, कीर्तिमयी और सद्गतिमयी और ऐश्वर्यमयी त्रिवेणी है। इसे विचारकर भारी सकट सहकर भी प्रजा और परिवार को सुखी करो। हे भाई! मेरी विपत्ति सभी ने बाँट ली है, परन्तु तुमको तो अवधि चौदह वर्ष तक सबसे अधिक दुख है। तुमको कोमल जानकर भी मैं कठोर वियोग की बात कह रहा हूँ। तात! बुरे समय मे मेरे लिये यह कोई अनुचित बात नही है। कुअवसर मे श्रेष्ठ भाई ही होते हैं। वज्र के आघात भी हाथ से ही रोके जाते हैं।

सेवक हाथ, पैर और नेत्रो के समान और स्वामी मुख के समान होना चाहिये। तुलसीदासजी कहते हैं कि सेवक-स्वामी की ऐसी प्रीति की रीति सुनकर सुकवि उसकी सराहना करते है।

अलकार—सहोक्ति, अनुप्रास।

सभा सकल सुनि रघुबर-बानी। प्रेम-पयोधि अमिय जनु सानी॥
सिथिल समाज सनेह समाधी। देखि दसा चुप सारद साधी॥
भरतहि भयउ परम सन्तोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू॥
मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू॥
कीन्ह सप्रेम प्रनाम बहोरी। बोले पानि पकरुह जोरी॥
नाथ भयउ सुख साथ गये को। लहेउ लाहु जग जनम भये को॥
अब कृपाल जस आयसु होई। करउँ सीस धरि सादर सोई॥
सो अवलम्ब देव मोहि देई। अवधि पारु पावउँ जेहि सेई॥

दो०—देव देव अभिषेक हित, गुरु अनुसासन पाइ।
आनेउँ सब तीरथ सलिल, तेहि कहँ काह रजाइ॥३०७॥

व्याख्या—श्रीरघुनाथजी की वाणी सुनकर, जो मानो प्रेम रूपी समुद्र के अमृत में सनी हुई थी, सारा समाज शिथिल हो गया, उसकी प्रेम समाधि लग गयी। यह दशा देखकर सरस्वती ने चुप साध ली। भरतजी को परम सतोष हुआ। स्वामी के अनुकूल होते ही उनके दुःख और दोषों ने मुँह मोड़ लिया। उनका मुख प्रसन्न हो गया और मन का विषाद मिट गया। मानो गूँगे पर सरस्वती की कृपा हो गयी हो। उन्होंने फिर प्रेम पूर्वक प्रणाम किया और करकमलो को जोड़कर वे बोले—हे नाथ! मुझे आपके साथ जाने का सुख प्राप्त हो गया और मैंने जगत् में जन्म लेने का लाभ भी पा लिया है। हे कृपालु! अब जैसी आज्ञा हो, उसीको मैं सिरपर धरकर आदरपूर्वक करूँ। परन्तु देव! आप मुझे वह अवलम्बन दें। जिसकी सेवा कर मैं अवधि का पार पा जाऊँ।

हे देव! स्वामी आपके अभिषेक के लिये गुरुजी की आज्ञा पाकर मैं सब तीर्थो का-जल लेता आया हूँ, उनके लिये क्या आज्ञा होती है?

अलंकार—वृत्यनुप्रास, उत्प्रेक्षा।

एक मनोरथ बड़ मन माहीं। सभय सकोच जाति कहि नाहीं॥
कहहु तात प्रभु आयसु पाई। बोले बानि सनेह सुहाई॥
चित्रकूट मुनि थल तीरथ बन। खग मृग सरि सर निर्भर गिरिगन॥
प्रभु-पद-अंकित अवनि विसेखी। आयसु होइ तो आवउँ देखी॥
अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत भय कानन चरहू॥
मुनि प्रसाद बन मङ्गल दाता। पावन परम सुहावन भ्राता॥
रिषिनायक जहँ आयसु देही। राखेउ तीरथ जल थल तेही॥
सुनि प्रभु बचन भरत सुख पावा। मुनि-पद-कमल मुदित सिर नावा॥

दो०—भरत - राम - सवाद सुनि, सकल सुमङ्गल-मूल।
सुर स्वारथी सराहि कुल, बरषत सुर-तरु-फूल॥३०८॥

शब्दार्थ—चरहू=विचरण करो। सरहि=सराहना करके।

व्याख्या भरत जी कहते हैं कि मेरे मन में एक और बड़ा मनोरथ है, जो भय और संकोच के कारण कहा नहीं जाता। श्रीरामचन्द्रजीने कहा-हे भाई! कहो। तब प्रभुकी आज्ञा पाकर भरतजी स्नेहपूर्ण सुन्दर वाणी बोले। हे प्रभु

आज्ञा हो तो चित्रकूट के पवित्र स्थान, तीर्थ वन-पक्षी-पशु, तालाव-नदी, झरने और पर्वतो के समूह तथा विशेषकर प्रभु चरण-चिन्हो से अङ्कित भूमिको देख आऊँ। श्रीरघुनाथजी बोले अवश्य ही अत्रि ऋषिकी आज्ञा को सिरपर धारण करो और निर्भय होकर वनमे विचारो। हे भाई! अत्रि मुनिके प्रसादसे वन मङ्गलो का देनेवाला, परम पवित्र और अत्यन्त सुन्दर है। और ऋषियोके प्रमुख अत्रिजी जहाँ आज्ञा दे, वही लाया हुआ तीर्थों का जल स्थापित कर देना। प्रभुके वचन सुनकर भरतजीने सुख पाया और आनन्दित होकर मुनि अत्रिजीके चरण कमलो मे सिर नवाया।

समस्त सुन्दर मङ्गलोका मूल भरतजी और श्रीरामचन्द्रजीका सवाद सुनकर स्वार्थी देवता रघुकुलकी सराहना करके कल्पवृक्षके फूल वरसाने लगे।

अलङ्कार — अनुप्रास।

धन्य भरत जय राम गोसाईं। कहत देव हरषत बरिआईं॥
मुनि मिथिलेस सभा सब काहू। भरत वचन सुनि भयउ उछाहू॥
भरत - राम - गुन - ग्राम - सनेहू। पुलकि प्रससत राउ विदेहू॥
सेवक स्वामी सुभाउ सुहावन। नेम प्रेम अति पावन पावन॥
मति अनुसार सराहन लागे। सचिव सभासद सब अनुरागे॥
सुनि सुनि राम-भरत-सवादू। दुहु समाज हिय हरष विषादू॥
राम मातु दुख-सुख-सम जानी। कहि गुन राम प्रबोधी रानी॥
एक कहहिं रघुबीर बड़ाई। एक सराहत भरत-भलाई॥

दो०—अत्रि कहेउ तब भरत सन, सैल समीप सुकूप।
राखिय तीरथ तोय तहँ, पावन अमिय अनूप॥३०६॥

व्याख्या—'भरतजी धन्य है, स्वामी श्रीरामजीकी जय हो!' ऐसा कहते हुए देवता (अत्यधिक) हर्षित होने लगे। भरतजीके वचन सुनकर मुनि वशिष्ठजी, मिथिलापति जनकजी और सभामे सब किसी को बडा आनन्द हुआ। भरतजी और श्रीरामचन्द्रजी के गुणसमूह की तथा प्रेमकी विदेहराज जनकजी पुलकित होकर प्रशसा कर रहे है। सेवक और स्वामी दोनोका सुन्दर स्वभाव है। इनके नियम और प्रेम पवित्रको भी अत्यन्त पवित्र करनेवाले है। मन्त्री

और सभासद् सभी प्रेममुग्ध होकर अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सराहना करने लगे। श्रीरामचन्द्रजी और भरतजीका सवाद सुन-सुनकर दोनो समाजोंके हृदयोंमें हर्ष और विषाद दोनों हुए। श्रीरामचन्द्रजीकी माता कौसल्याजीने दुःख और सुखको समान जानकर श्रीरामजी के गुण कहकर दूसरी रानियोंको धैर्य बँधाया। कोई श्रीरामजीकी बड़ाई की चर्चा कर रहे हैं, तो कोई भरतजी के अच्छेपनकी सराहना करते हैं।

तब अत्रिजीने भरतजी से कहा—इस पर्वतके समीप ही एक सुन्दर कुआँ है। इस पवित्र, अनुपम और अमृत-जैसे तीर्थजलको उसीमें स्थापित कर दीजिये।

भरत अत्रि अनुसासन पाई। जल भाजन सब दिये चलाई॥
सानुज आप अत्रि मुनि साधू। सहित गये जहँ कूप अगाधू॥
पावन पाथ पुन्य थल राखा। प्रमुदित प्रेम अत्रि अस भाखा॥
तात अनादि सिद्ध थल एहू। लोपेउ काल बिदित नहिं केहू॥
तब सेवकन्ह सरस थल देखा। कीन्ह सुजल हित कूप बिसेखा॥
बिधिबस भयउ बिस्व उपकारू। सुगम अगम अति धरम बिचारू॥
भरतकूप अब कहिहहिं लोगा। अति पावन तीरथ जलजोगा॥
प्रेम सनेम निमज्जत प्रानी। होइहहिं बिमल करम मनबानी॥

दो०—कहत कूप महिमा सकल, गये जहाँ रघुराउ।
अत्रि सुनायउ रघुबरहिं, तीरथ-पुण्य प्रभाउ॥११०॥

व्याख्या—भरतजी ने अत्रि मुनि की आज्ञा पाकर जलके सब पात्र रवाना कर दिये और छोटे भाई शत्रुघ्न, अत्रि मुनि तथा अन्य साधु-संतोंसहित आप वहाँ गये जहाँ वह अथाह कुआँ था। और उन पवित्र जलको उस पुण्यय स्थल में रख दिया। तब अत्रि ऋषिने प्रेममें आनन्दित होकर ऐसा कहा—हे तात! यह अनादि सिद्धस्थल है। कालक्रम से यह लोप हो गया था, इसलिये किसीको इसका पता नहीं था। तब भरतजीके सेवकोंने उस जलयुक्त स्थानको देखा और उस सुन्दर तीर्थोंके जल के लिये एक खास कुआँ बना लिया। दैवयोग से विश्वम्भरका उपकार हो गया। धर्मका विचार जो अत्यन्त अगम था, वह इस कूपके प्रभावसे सुगम हो गया। अब इसको लोग भरत कूप कहेंगे। तीर्थोंके जलके संयोगसे तो

यह अत्यन्त ही पवित्र हो गया। इसमें प्रेमपूर्वक नियम से स्नान करने पर प्राणी मन वचन और कर्मसे निर्मल हो जायँगे।

कूपकी महिमा कहते हुए सब लोग वहाँ गये जहाँ श्रीरघुनाथजी थे। श्रीरघुनाथजी को अत्रिजी ने उस तीर्थ का पुण्य-प्रभाव सुनाया।

कहत धरम इतिहास सप्रीती। भयउ भोर निसि सो सुख बीती॥
नित्य निबाहि भरत दोउ भाई। राम - अत्रि - गुरु आयसु पाई॥
सहित समाज साज सब सादे। चले राम-बन-अटन पयादे॥
कोमल चरन चलत बिनु पनही। भइ मृदु भूमि-सकुचि मन मनहीं॥
कुस कंटक काँकरी कुराईं। कटुक कठोर कुबस्तु दुराईं॥
महि मंजुल मृदु मारग कीन्हे। बहत समीर त्रिबिध सुख लीन्हे॥
सुमन बरषि सुर घन करि छाहीं। बिटप फूल फल तृन मृदुताहीं॥
मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल राम प्रिय जानी॥

दो०—सुलभ सिद्धि सब प्राकृतहु, राम कहत जमुहात।
राम-प्रान-प्रिय भरत कहुँ, यह न होइ बडि बात॥३११॥

व्याख्या—प्रेम पूर्वक धर्मके इतिहास कहते वह रात सुखसे बीत गयी और सवेरा हो गया। भरत-शत्रुघ्न दोनो भाई नित्य क्रिया पूरी करके, श्रीरामजी, अत्रिजी और गुरु वशिष्ठजीकी आज्ञा पाकर समाजसहित सब सादे साजसे श्रीरामजीके वनमे भ्रमण करनेके लिये पैदल ही चले। कोमल चरण हैं और विना जूतेके चल रहे है, यह देखकर पृथ्वी मन-ही-मन सकुचाकर कोमल हो गयी। कुश, काँटे, ककडी, दरारे आदि कडवी, कठोर और बुरी वस्तुओको छिपाकर पृथ्वीने सुन्दर और कोमल मार्ग कर दिये। सुखोको साथ लिये सुखदायक शीतल, मन्द, सुगन्ध हवा चलने लगी। रास्तेमे देवता फूल बरसाकर, वादल छाया करके, वृक्षफूल-फलकर, तृण अपनी कोमलतासे, मृग देखकर और पक्षी सुन्दर वाणी वोलकर—सभी भरतजीको श्रीरामचन्द्रजी के प्यारे जानकर उनकी सेवा करने लगे।

जब एक साधारण मनुष्यो को भी आलस्यसे जँभाई लेते समय 'राम' कह देनेसे ही सब सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं, तब श्रीरामचन्द्रजीके प्राणप्यारे भरतजीके लिये यह कोई बडी आश्चर्यकी वात नहीं है।

अलंकार—वृत्यनुप्रास।

एहि विधि भरत फिरत बनमाहीं। नेम प्रेम लखि मुनि सकुचाहीं॥
पुन्य जलाश्रय भूमि बिभागा। खग मृग तरु तृन गिरिबन बागा॥
चारु बिचित्र पबित्र बिसेखी। बूझत भरत दिव्य सब देखी॥
सुनि मन मुदित कहत रिषिराऊ। हेतु नाम गुन पुन्य प्रभाऊ॥
कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा। कतहुँ बिलोकत मन अभिरामा॥
कतहुँ बैठि मुनि आयसु पाई। सुमिरत सीय सहित दोउ भाई॥
देखि सुभाउ सनेहु सुसेवा। देहिं असीस मुदित बन देवा॥
फिरहिं गये दिन पहर अढ़ाई। प्रभु-पद-कमल बिलोकहिं आई॥

दो०—देखे थल तीरथ सकल, भरत पाँच दिन माँझ।
कहत सुनत हरिहर सुजस, गयउ दिवस भइ साँझ॥३१२॥

व्याख्या—इस प्रकार भरतजी वनमें फिर रहे हैं। उनके नियम और प्रेमको देखकर मुनि भी सकुचा जाते हैं। पवित्र जलके स्थान नदी, बावली, कुण्ड आदि पृथ्वीके पृथक्-पृथक भाग, पक्षी, वृक्ष, तृण, पर्वत वन और बगीचे—सभी विशेषरूपमें सुन्दर, विचित्र, पवित्र और दिव्य देखकर भरतजी पूछते है और उनका प्रश्न सुनकर ऋषिराज अत्रिजी प्रसन्न मनसे सबके कारण, नाम, गुण और पुण्य-प्रभावको कहते हैं। भरतजी कहीं स्नान करते हैं, कहीं मनोहर स्थानोंके दर्शन करते हैं और कहीं मुनि अत्रिजीकी आज्ञा पाकर बैठकर, सीताजी-सहित श्रीराम, लक्ष्मण दोनों भाइयोंका स्मरण करते हैं। भरतजीके स्वभाव, प्रेम और सुन्दर सेवाभाव को देखकर वन-देवता आनन्दित होकर आशीर्वाद देते हैं। यों घूम-फिरकर ढाई पहर दिन बीतनेपर लौट पड़ते हैं और आकर प्रभु श्रीरघुनाथजीके चरणकमलों का दर्शन करते हैं। भरतजीने पाँच दिनमें सब तीर्थस्थानोंके दर्शन कर लिये। भगवान् विष्णु और महादेवजीका सुन्दर यश कहते-सुनते वह (पाँचवाँ) दिन भी बीत गया, सन्ध्या हो गयी।

भोर न्हाइ सब जुरा समाजू। भरत भूमिसुर तिरहुत राजू॥
भल दिन आजु जानि मन माहीं। राम कृपालु कहत सकुचाहीं॥
गुरु नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥

सील सराहि सभा सब सोची। कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची॥
भरत सुजान राम रुख देखी। उठि सप्रेम धरि धीर बिसेखी॥
करि दंडवत कहत कर जोरी। राखी नाथ सकल रुचि मोरी॥
मोहि लगि सबहिं सहेउ संतापू। बहुत भाँति दुख पावा आपू॥
अब गोसाइँ मोहि देउ रजाई। सेवउँ अवध अवधि भर जाई॥

दो०—जेहिं उपाय पुनि पाय जन, देखइ दीनदयाल।
सो सिख देइअ अवधि लगि, कोसलपाल कृपाल॥३१४॥

व्याख्या—अगले छठे दिन सवेरे स्नान करके भरतजी, ब्राह्मण, राजा जनक और सारा समाज आ जुटा। आज सबको विदा करने के लिये अच्छा दिन है, यह मनमे जानकर भी कृपालु श्रीरामजी कहने मे सकुचा रहे हैं। श्रीरामचन्द्रजी ने गुरु वशिष्ठजी, राजा जनकजी, भरतजी और सारी सभा की ओर देखा, किन्तु फिर सकुची दृष्टि फेरकर वे पृथ्वी की ओर ताकने लगे। सभा उनके शील की सराहना करके सोचती है कि श्रीरामचन्द्रजी के समान संकोची स्वामी कहीं नहीं है। सुजान भरतजी श्रीरामचन्द्रजी का रुख देखकर प्रेम पूर्वक उठकर, विशेप रूप से धीरज धारणकर दण्डवत् करके हाथ जोडकर कहने लगे—हे नाथ! आपने मेरी सभी रुचियाँ रक्खी। मेरे लिये सब लोगो ने सन्ताप सहा और आपने भी बहुत प्रकार से दुःख पाया। अब स्वामी मुझे आज्ञा दें, मैं जाकर चौदह वर्ष तक अवध का सेवन करूँ।

हे दीनदयालु! जिस उपाय से यह दास फिर चरणों का दर्शन करे—हे कोसलाधीश! हे कृपालु! अवधि भर के लिये मुझे वही शिक्षा दीजिये।

पुरजन परिजन प्रजा गोसाईं। सब सुचि सरस सनेह सगाईं॥
राउर बदि भल भव-दुख-दाहू। प्रभु बिनु बादि परम-पद-लाहू॥
स्वामि सुजान जानि सब ही की। रुचि लालसा रहनि जनजी की॥
अस मोहि सब विधि भूरि भरोसो। किये विचार न सोच खरो सो॥
आरति मोर नाथ कर छोहू। दुहुं मिलि कीन्ह ढीठ हठि मोहू॥
यह बड़ दोष दूरि कर स्वामी। तजि संकोच सिखइय अनुगामी॥
भरत विनय सुनि सर्वाहि प्रससो। छीर - नीर - विवरन-गति हँसी॥

दो०—दीनबन्धु सुनि बन्धु के, वचन दीन छल हीन।
देस-काल-अवसर सरिस, बोले राम प्रवीन ॥३१५॥

व्याख्या—भरत जी कहते हैं कि हे गोसाईं! आपके प्रेम और सम्बन्ध से अवधपुर वासी, कुटुम्बी और प्रजा सभी पवित्र और आनन्द से युक्त हैं। आपके लिये जन्म-मरण के दुःख की ज्वाला में जलना भी अच्छा है और आप के बिना परमपद मोक्ष का लाभ भी व्यर्थ है। हे स्वामी! आप सुजान हैं, सभी हृदय की और मुझ सेवक के मन की रुचि, अभिलाषा और रहनी जान-कर, हे प्रणतपाल! आप सब किसी का पालन करेंगे और हे देव! दोनों तरफ को और अन्त तक निबाहेंगे। मुझे सब प्रकार से ऐसा बहुत बड़ा भरोसा है। विचार करने पर तिनके के बराबर भी सोच नहीं रह जाता। मेरी दीनता और स्वामी का स्नेह दोनों ने मिलकर मुझे जबर्दस्ती ढीठ बना दिया है। हे स्वामी! इस बड़े दोष को दूर करके सकोच त्यागकर मुझ सेवक को शिक्षा दीजिये। दूध और जल को अलग-अलग करने में हंसिनी-सी गतिवाली भरतजी की विनती सुनकर उनकी सभी ने प्रशंसा की।

दीन बन्धु और परम चतुर श्रीरामजी भाई भरतजी के दीन और छल-रहित वचन सुनकर देश, काल और अवसर के अनुकूल वचन बोले।

तात तुम्हारि मोरि परिजन की। चिंता गुरहिं नृपहिं घर बन की॥
माथे पर गुरु मुनि मिथिलेसू। हमहिं तुम्हहिं सपनेहुँ न कलेसू॥
मोर तुम्हार परम पुरुषारथ। स्वारथ सुजस धरम परमारथ॥
पितु आयसु पालिय दुहुँ भाई। लोक बेद भल भूप भलाई॥
गुरु पितु-मातु स्वामि-सिख पाले। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खाले॥
अस बिचारि सब सोच बिहाई। पालहु अवध अवधि भरि जाई॥
देस कोस पुरजन परिवारू। गुरपद रजहिं लाग छरु भारू॥
तुम्ह मुनि-मातु सचिव-सिख मानी। पालेहु पुहुमि प्रजा रजधानी॥

दो०—मुखिया मुख सो चाहिये, खान पान कहुँ एक।
पालइ पोषइ सकल अंग, तुलसी सहित बिबेक ॥३१६॥

व्याख्या—राम भरतजी कहते हैं कि हे तात! तुम्हारी, मेरी, परिवार की

घर की और वन की सारी चिन्ता गुरु वशिष्ठजी और महाराज जनकजी को है। हमारे सिर पर जब गुरुजी, मुनि विश्वामित्रजी और मिथिलापति जनकजी हैं, तब हमें और तुम्हे स्वप्न मे भी क्लेश नही है। मेरा और तुम्हारा तो परम पुरुषार्थ, स्वार्थ, सुयश, धर्म और परमार्थ इसी मे है कि हम दोनो भाई पिताजी की आज्ञा का पालन करे। राजाकी भलाई से ही लोक और वेद दोनो मे भला है। पिता, माता और स्वामी की आज्ञा का पालन करने से कुमार्ग पर भी चलने से पैर गड्ढे मे नही पडता। ऐसा विचार कर सब सोच छोडकर अवध जाकर अवधि भर उसका पालन करो। देश, खजाना, कुटुम्ब, परिवार आदि सबकी जिम्मेदारी तो गुरुजी की चरण रजपर है। तुम तो मुनि वशिष्ठ-जी माताओ और मन्त्रियो की शिक्षा मानकर तदनुसार पृथ्वी, प्रजा और राजधानी का पालन भर करते रहना।

तुलसीदासजी कहते है—[श्रीरामजी ने कहा—] मुखिया मुख के समान होना चाहिए। जो खाने पीने को तो अकेला है, परन्तु विवेक पूवक सब अङ्गो का पालन पोषण करता है।

अलङ्कार—उपमा।

राज -धरम - सरबसु एतनोई। जिमि मन माहुँ मनोरथ गोई॥
बधु प्रबोध कीन्ह बहु भाँती। बिनु, अधार मन तोष न सांती॥
भरत सील गुरु सचिव समाजू। सकोचू सनेह बिबस रघुराजू॥
प्रभु करि कृपा पावँरी दीन्ही। सादर भरत सीस धरि लीन्हीं॥
चरनपीठ करुनानिधान के। जनु जुग जामिक प्रजा प्रान के॥
सपुट भरत सनेह रतन के। आखर जुग जनु जीव जतन के॥
कुल कपाट कर कुशल करम के। बिमल नयन सेवा-सु-धरम के॥
भरत सील अवलम्ब लहे तें। अस सुख जस सिय राम रहेतें॥

दो०—मागेउ बिदा प्रनाम करि, राम लिए उर लाइ।
रोग उचाटे अमरपति, कुटिल कुअवसर पाइ॥३१६॥

व्याख्या—राजधर्म का सार भी इतना ही है। जैसे मन के भीतर मनोरथ छिपा रहता है। श्रीरघुनाथजी ने भाई भरत को बहुत प्रकार से

समझाया। परन्तु कोई अवलम्बन पाये बिना उनके मन में न सन्तोष हुआ, न शान्ति इधर तो भरतजी का प्रेम और उधर गुरुजनों, मन्त्रियों तथा समाज की उपस्थिति। यह देखकर श्रीरघुनाथजी सकोच तथा स्नेह के विशेष वशीभूत हो गये। अर्थात् भरतजी के प्रेमवश उन्हें पांवरी देना चाहते हैं, किन्तु साथ गुरु आदि का सकोच भी होता है। अन्त में भरतजी के प्रेमवश होकर प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने कृपाकर खड़ाऊँ दे दी और भरतजी ने उन्हें आदरपूर्वक सिर पर धारण कर लिया करुणानिधान श्रीरामचन्द्रजी के दोनों खड़ाऊँ प्रजा के प्राणों की रक्षा के लिये मानो दो पहरेदार हैं। भरतजी के प्रेमरूपी रत्न के लिये मानो डिब्बा है और जीव के साधन के लिये मानो राम-नाम के दो अक्षर हैं। रघुकुल की रक्षा के लिये दो किवाड़ हैं। श्रेष्ठ कर्म करने के लिये दो हाथ की भाँति सहायक हैं और सेवारूपी श्रेष्ठ धर्म के सुझाने के लिये निर्मल नेत्र हैं। भरतजी इस अवलम्ब के मिल जाने से परम आनन्दित हैं। उन्हें ऐसा ही सुख हुआ, जैसा श्रीसीतारामजी के रहने से होता।

भरतजी ने प्रणाम करके विदा माँगी, तब श्रीरामचन्द्रजी ने उन्हें हृदय से लगा लिया। इधर कुटिल इन्द्र ने बुरा मौका पाकर लोगों का उच्चाटन कर दिया।

अलंकार—उपमा, विनोक्ति, छेकानुप्रास, उल्लेख, उत्प्रेक्षा।

सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी। अवधि आससम जीवनि जीकी॥
नतरु लषण सिय-राम-वियोगा। हहरि मरत सब लोग कुरोगा॥
रामकृपा अवरेव सुधारी। विबुध धारि भइ गुन्द गोहारी॥
भेंटत भुज भरि भाइ भरत सो। राम-प्रेम रस कहि न परत सो॥
तन मन वचन उमग अनुरागा। धीर-धुरंधर धीरज त्यागा॥
वारिज-लोचन मोचत वारी। देखि दसा सुरसभा दुखारी॥
मुनिगन गुरुजन धीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसे कनक से॥
जे विरंचि निरलेप उपाए। पदुम पत्र जिमि जग जलजाये॥

दो०—तेउ विलोकि रघुबर भरत, प्रीति अनूप अपार।
भए मगन मन तन वचन, सहित विराग विचार॥३१६॥

व्याख्या—यह कुचाल भी सबके लिये हितकर हो गयी। अवधि की आशा के समान ही वह जीवन के लिये संजीवनी हो गयी। नहीं तो लक्ष्मणजी, सीताजी और श्रीरामचन्द्रजी के वियोगरूपी बुरे रोग से सब लोग हाय-हाय करके मर जाते। श्रीरामजीकी कृपा ने सारी उलझन सुधार दी। देवताओं की सेना जो लूटने आयी थी, वही हितकारी और रक्षक बन गयी। श्रीरामजी भुजाओं में भरकर भाई भरत से मिल रहे हैं। श्रीरामजी के प्रेम का वह आनन्द कहते नहीं बनता। तन, मन और वचन तीनों में प्रेम उमड़ पड़ा। धीरज की धुरी को धारण करने वाले श्रीरघुनाथजी ने धीरज त्याग दिया। कमल सदृश नेत्रों से प्रेमाश्रुओं का जल बहाने लगे। उनकी यह दशा देखकर देवताओं की सभा दुखी हो गयी मुनिगण, गुरु वशिष्ठजी और जनकजी-सरीखे धीर धुरन्धर जो अपने मनों को ज्ञानरूपी अग्नि से सोने के समान कस चुके थे, जिनको ब्रह्माजी ने निर्लेप ही रचा और जो जगत्‌रूपी जल में कमल के पत्ते की तरह ही पैदा हुए।

वे भी श्रीरामजी और भरतजी के उपमारहित अपार प्रेम को देखकर वैराग्य और विवेक रहित तन, मन, वचन से उस प्रेम में मग्न होगये।

अलंकार—उपमा।

जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी॥
बरनत रघुबर-भरत-बियोगू। सुनि कठोर कबि जानिहि लोगू॥
सो सकोच रस अकथ सुबानी। समउ सनेहु सुमिरि सकुचानी॥
भेंटि भरत रघुबर समुझाये। पुनि रिपुदमन हरषि हिय लाये॥
सेवक सचिव भरत-रुख पाई। निज निज काज लगे सब जाई॥
सुनि दारुनदुख दुहूँ समाजा। लगे चलन के साजन साजा॥
प्रभु पद-पदुम बंदि दोउ भाई। चले सीस धरि राम रजाई॥
मुनि तापस बनदेव निहोरी। सब सनमानि बहोरि बहोरी॥

दो०—लखनहिं भेंटि प्रनाम करि, सिर धरि सिय पद धूरि॥
चले सप्रेम असीस सुनि, सकल सुमंगल मूरि॥३१८॥

व्याख्या—जहाँ जनकजी और गुरु वशिष्ठजी की बुद्धि गति कुण्ठित हो

गयी, इस दिव्य प्रेम को लौकिक कहने में बड़ा दोष है। श्रीरामचन्द्रजी और भरत जी के वियोग का वर्णन करते सुनकर लोग कवि को कठोर हृदय समझेंगे वह सर्वोत्तम अकथनीय है। अतएव कवि की सुन्दर वाणी इस समय उनके प्रेम को स्मरण करके सकुचा गयी। भरतजी को भेंटकर श्रीरघुनाथजी ने उनको समझाया। फिर हर्षित होकर शत्रुघ्नजी को हृदय से लगा लिया। सेवक और मन्त्री भरतजी का रुख पाकर सब अपने-अपने काम में जा लगे। यह सुनकर दोनों समाजों में दारुण दुःख छा गया। वे चलने की तैयारियाँ करने लगे। प्रभु के चरण-कमलों की वन्दना करके तथा श्रीरामजी की आज्ञा को सिर पर रख कर भरत-शत्रुघ्न दोनों भाई चले। मुनि, तपस्वी और वन देवता सबका बार-बार सम्मान करके उनकी विनती की।

फिर लक्ष्मणजी को क्रमशः भेंटकर तथा प्रणाम करके और सीताजी के चरणों की धूलि को सिरपर धारण करके और समस्त मङ्गलों के मूल आशीर्वाद सुनकर वे प्रेम-सहित चले।

अलङ्कार—वृत्यनुप्रास।

सानुज राम नृपहि सिर नाई। कीन्हि बहुत विधि विनय बड़ाई॥
देव दयाबस बड दुख पायेउ। सहित समाज काननहिं आयेउ॥
पुर पग धारिय देइ असीसा। कीन्ह धीर धरि गवन महीसा॥
मुनि महिदेव साधु सनमाने। बिदा किये हरि-हर-सम जाने॥
सासु समीप गये दोउ भाई। फिरे बन्दि पग आसिष पाई॥
कौसिक बामदेव जाबाली। परिजन पुरजन सचिव सुचाली॥
जथाजोग करि बिनय प्रनामा। बिदा किये सब सानुज रामा॥
नारि पुरुष लघु मध्य बड़ेरे। सब सनमानि कृपा निधि फेरे॥
दो०—भरत-मातु-पद बंदि प्रभु, सुचि सनेह मिलि भेंटि॥
बिदा कीन्ह सजि पालकी, सकुच सोच सब मेटि॥३१९॥

व्याख्या—छोटे भाई लक्ष्मणजी समेत श्रीरामजी ने राजा जनकजी को सिर नवाकर उनकी बहुत प्रकार से विनती और बड़ाई की और कहा हे देव! दयावश आपने बहुत दुःख पाया। आप समाज सहित वन में आये, अब आशीर्वाद

देकर नगर को पधारिये। यह सुन राजा जनकजी ने धीरज धरकर गमन किया। फिर श्रीरामचन्द्रजी ने मुनि, ब्राह्मण और साधुओ को विष्णु और शिव के समान जानकर सम्मान करके उनको विदा किया। तब श्रीराम-लक्ष्मण दोनो भाई सास सुनयनाजी के पास गये और उनके चरणो की वन्दना करके आशीर्वाद पाकर लौट आये। फिर विश्वामित्र, वामदेव, जाबालि और शुभ आचरण वाले कुटुम्बी, नगर निवासी और मन्त्री सबको छोटे भाई लक्ष्मणजी सहित श्रीरामचन्द्रजी ने यथायोग्य विनय एव प्रणाम करके विदा किया। कृपानिधान श्रीरामचन्द्रजी ने छोटे, मध्यम और बडे सभी श्रेणी के स्त्री-पुरुषो का सम्मान करके उनको लौटाया।

भरत की माता कैकेयी के चरणो की वन्दना करके प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ने पवित्र प्रेम के साथ उनसे मिल-भेंटकर तथा उनके सारे सकोच और सोच को मिटाकर पालकी सजाकर उनको विदा किया।

अलकार—अनुप्रास।

परिजन मातु पितहि मिलि सीता। फिरी प्राण-प्रिय प्रेम पुनीता॥
करि प्रनाम भेंटी सब सासू। प्रीति कहत कवि हिय न हुलासू॥
सुनि सिख अभिमत आसिष पाई। रही सीय दुहुँ प्रीति समाई॥
रघुपति पटु पालकी मँगाई। करि प्रबोधु सब मातु चढ़ाई॥
बार बार हिलि मिलि दुहुँ भाई। सम सनेह जननी पहुँचाई॥
साजि बाजि गज वाहन नाना। भूप भरत दल कीन्ह पयाना॥
हृदय राम सिय लखन समेता। चले जाहि सब लोग अचेता॥
बसह बाजि गज पसु हिय हारे। चले जाहि परबस मन मारे॥

दो०—गुरु गुरु-तिय-पद बन्दि प्रभु, सीता लखन समेत।
फिरे हरष बिसमय-सहित, आये परन निकेत॥३२०॥

व्याख्या—प्राणप्रिय पति श्रीरामचन्द्रजी के साथ पवित्र प्रेम करने वाली सीताजी नैहर के कुटुम्बियो से तथा माता-पिता से मिलकर लौट आयी। फिर प्रणाम करके सब सासुओ से गले लगकर मिली। उनके प्रेम का वर्णन करने के लिये कवि के हृदय मे उत्साह नही होता। उनकी शिक्षा सुनकर और मन

चाहा आशीर्वाद पाकर सीताजी सासुओं तथा माता-पिता दोनों ओर की प्रीति में समायी बहुत देर तक निमग्न रहीं। तब श्रीरघुनाथजी ने सुन्दर पालकियाँ मँगवायीं और सब माताओं को आश्वासन देकर उन पर चढ़ाया। दोनों भाइयों ने माताओं से समान प्रेम से बार-बार मिल-जुलकर उनको पहुँचाया। भरतजी और राजा जनकजी के दलोंने घोड़े, हाथी और अनेकों तरह की सवारियाँ सजाकर प्रस्थान किया। सीताजी एवं लक्ष्मणजी सहित श्रीरामचन्द्र जी को हृदय में रखकर सब लोग बेसुध हुए जा रहे हैं। बैल, घोड़े, हाथी आदि पशु हृदय में शिथिल हुए परवश मनमारे चले जा रहे हैं।

गुरु वशिष्ठजी और गुरुपत्नी अरुन्धतीजी के चरणों की वन्दना करके सीताजी और लक्ष्मणजी सहित प्रभु श्रीरामचन्द्रजी हर्ष और विषाद के साथ लौटकर पर्ण कुटी में आये।

बिदा कीन्ह सनमानि निषादू। चलेउ हृदय बड़ बिरह बिषादू॥
कोल किरात भिल्ल बनचारी। फेरे फिरे जोहारि जोहारी॥
प्रभु सिय लखन बैठि बट छाहीं। प्रिय-परिजन-वियोग बिलखाहीं॥
भरत सनेह सुभाउ सुबानी। प्रिया अनुज सन कहत बखानी॥
प्रीति प्रतीति बचन मन करनी। श्रीमुख राम प्रेमबस बरनी॥
तेहि अवसर खग मृग जल मीना। चित्रकूट चर अचर मलीना॥
बिबुध बिलोकि दसा रघुबर की। बरषि सुमन कहि गति घर घर की॥
प्रभु प्रनाम करि दीन्ह भरोसो। चले मुदित मन डर न खरो सो॥

दो०—सानुज सीय समेत प्रभु, राजत परनकुटीर॥
भगति ग्यान बैराग जनु, सोहत धरे सरीर॥३२१॥

व्याख्या—फिर सम्मान करके निषादराज को विदा किया। वह चला तो सही, किन्तु उसके हृदय में विरह का बड़ा भारी विषाद था। फिर श्रीरामजी ने कोल, किरात, भील आदि वनवासी लोगों को लौटाया। वे सब वन्दना करके लौटे। प्रभु श्रीरामचन्द्रजी, सीताजी और लक्ष्मणजी बड़ की छाया में बैठकर प्रियजन एवं परिवार के वियोग से दुखी हो रहे हैं। भरतजी के स्नेह, स्वभाव और सुन्दर वाणी को बखान-बखान कर वे प्रिय पत्नी सीताजी और

छोटे भाई लक्ष्मणजी से कहने लगे। श्रीरामचन्द्रजी ने प्रेम के वश होकर भरतजी के वचन, मन, कर्म की प्रीति तथा विश्वास का अपने श्रीमुख से वर्णन किया। उस समय पक्षी, पशु और जल की मछलियाँ, चित्रकूट के सभी चेतन और जड़ जीव उदास हो गये। श्रीरघुनाथजी की दशा देखकर देवताओं ने उन पर फूल बरसाकर अपनी घर-घर की दशा कही। प्रभु श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें प्रणाम कर आश्वासन दिया। तब वे प्रसन्न होकर चले, मन मे जरा-सा भी डर न रहा।

छोटे भाई लक्ष्मणजी और सीताजी समेत प्रभु श्रीरामचन्द्रजी पर्ण कुटी मे ऐसे सुशोभित हो रहे है मानो वैराग्य, भक्ति और ज्ञान शरीर धारण करके सुशोभित हो रहे हो।

अलंकार—उत्प्रेक्षा।

मुनि महिसुर गुरु भरत भुआलू। राम बिरह सब साज बिहालू॥
प्रभु-गुन-ग्राम गुनत मन माहीं। सब चुपचाप चले मग जाहीं॥
जमुना उतरि पार सब भयऊ। सो बासर बिनु भोजन गयऊ॥
उतरि देवसरि दूसर बासू। राम सखा सब कीन्ह सुपासू॥
सई उतरि गोमती नहाये। चौथे दिवस अवधपुर आये॥
जनक रहे पुर बासर चारी। राज काज सब साज सँभारी॥
सौंपि सचिव गुरु भरतहिं राजू। तिरहुति चले साजि सब राजू॥
नगर-नारि-नर गुरु सिख मानी। बसे सुखेन राम-रजधानी॥

दो०—राम दरस लगि लोग सब, करत नेम उपवास।
तजि तजि भूषन भोग सुख, जियत अवधि की आस॥३२२॥

व्याख्या—मुनि, ब्राह्मण, गुरु वशिष्ठजी, भरतजी और राजा जनकजी—सारा समाज श्रीरामचन्द्रजी के विरह मे विह्वल है। प्रभु के गुण समूहों का मन में स्मरण करते हुए सब लोग मार्ग मे चुपचाप चले जा रहे हैं। पहले दिन सब लोग यमुनाजी उतरकर पार हुए। वह दिन बिना भोजन के ही बीत गया। दूसरा पड़ाव गङ्गाजी उतरकर शृङ्गवेरपुर मे हुआ। वहाँ रामसखा निषाद राज ने सब सुप्रबन्ध कर दिया, फिर सई उतर कर गोमतीजी मे स्नान

किया और चौथे दिन सब अयोध्याजी जा पहुँचे। जनकजी चार दिन अयोध्याजी में रहे और राजकाज एवं सब साज-समान को सँभालकर तथा मन्त्री, गुरुजी तथा भरतजी को राज्य सौंपकर, सारा साज-समान ठीक करके तिरहुत को चले। नगर के स्त्री-पुरुष गुरुजी की शिक्षा मानकर श्रीरामजी की राजधानी अयोध्याजी में सुख पूर्वक रहने लगे।

सब लोग श्रीरामचन्द्रजी के दर्शन के लिये नियम और उपवास करने लगे। वे भूषण और भोग के सुखों को छोड़-छाड़ कर अवधि की आशापर जी रहे हैं।

सुचिव सुसेवक भरत प्रबोधे। निजनिज काज पाइ सिख ओधे॥
पुनि सिख दीन्ह बोलि लघु भाई। सौंपी सकल मातु सेवकाई॥
भूसुर बोलि भरत कर जोरे। करि प्रनाम बर बिनय निहोरे॥
ऊँच नीच कारज भल पोचू। आयसु देब न करब सँकोचू॥
परिजन पुरजन प्रजा बोलाये। समाधान करि सुबस बसाये॥
सानुज गे गुरुगेह बहोरी। करि दण्डवत कहत कर जोरी॥
आयसु होय तो रहउँ सनेमा। बोले मुनि तन पुलकि सप्रेमा॥
समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम सार जग होइहि सोई॥

दो०—सुनि सिख पाइ असीस बड़ि, गनक बोलि दिन साधि।
सिंहासन प्रभु पादुका, बैठारे निरुपाधि॥३२३॥

व्याख्या—भरतजी ने मन्त्रियों और विश्वासी सेवकों को समझाकर उनका काम सौंप दिया। वे सब सीख पाकर अपने-अपने काम पर लग गये। फिर छोटे भाई शत्रुघ्नजी को बुलाकर शिक्षा दी और सब माताओं की सेवा उनको सौंपी। ब्राह्मणों को बुलाकर भरतजी ने हाथ जोड़कर प्रणाम कर अवस्था के अनुसार विनय और निहोरा किया कि आप लोग ऊँचा-नीचा अच्छा-मन्दा जो कुछ भी कार्य हो, उसके लिये आज्ञा दीजियेगा। सकोच न कीजियेगा। भरतजी ने फिर परिवार के लोगों को, नागरिकों को तथा अन्य प्रजा को बुलाकर, उनका समाधान करके उनको सुखपूर्वक बसाया। फिर छोटे भाई शत्रुघ्नजी सहित वे गुरुजी के घर गये और दण्डवत् करके हाथ जोड़कर बोले आज्ञा हो तो मैं नियम पूर्वक रहूँ। मुनि वशिष्ठजी पुलकित शरीर हो प्रेम के साथ बोले—हे

भरत ! तुम जो कुछ समझोगे, कहोगे और करोगे वही जगत् में धर्म का सार होगा ।

भरतजी ने यह सुनकर और शिक्षा तथा बडा आशीर्वाद पाकर ज्योतिषियों को बुलाया और दिन अच्छा मुहूर्त साधकर प्रभु की चरण पादुकाओं को निर्विघ्नतापूर्वक सिंहासन पर विराजित कराया ।

राम मातु गुरुपद सिरु नाई । प्रभु - पद - पीठ - रजायसु पाई ॥
नन्दि गांव करि परन कुटीरा । कीन्ह निवास धरम - धुर - धीरा ॥
जटाजूट सिर मुनिपट धारी । महि खनि कुस सायरी सवांरी ।
असन बसन बासन व्रत नेमा । करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा ॥
भूसन बसन भोग सुख भूरी । मन तन वचन तजे तृन तूरी ॥
अवधराज सुरराज सिहाई । दसरथ धन सुनि धनद लजाई ॥
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा । चञ्चरीक जिमि चंपक बागा ॥
रमा बिलास राम अनुरागी । तजत बमन जिमि जन बड भागी ॥

दो०—राम-प्रेम-भाजन भरत, बडे न यहि करतूति ।
चातक हंस सराहियत, टेक विवेक विभूति ॥३२५॥

व्याख्या—फिर श्रीरामजी की माता कौसल्याजी और गुरुजी के चरणों में सिर नवाकर और प्रभु की चरणपादुकाओ की आज्ञा पाकर धर्म की धुरी धारण करने मे धीर भरतजी ने नन्दिग्राम मे पर्णकुटी बनाकर उसी मे निवास किया । सिर पर जटा-जूट और शरीर मे मुनियो के वल्कल वस्त्र धारण कर, पृथ्वी को खोदकर उसके अन्दर कुश की आसनी बिछायी । भोजन, वस्त्र, बरतन, व्रत, नियम—सभी बातों मे वे ऋषियो के कठिन धर्म का प्रेम सहित आचरण करने लगे । गहने-कपडे और अनेको प्रकार के भोग सुखो को मन, तन और वचन से तृण तोडकर त्याग दिया । जिस अयोध्या के राज्य को देवराज इन्द्र सिहाते थे और जहाँ के राज दशरथजी की सम्पत्ति सुनकर कुबेर भी लजा जाते थे, उसी अयोध्यापुरी मे भरतजी अनासक्त होकर इस प्रकार रहे हैं जैसे चम्पा के बाग मे भौंरा । श्रीरामचन्द्रजी के प्रेमी, बडभागी पुरुष लक्ष्मी के विलास को वमन की भाँति त्याग देते है ।

फिर भरतजी श्रीरामचन्द्रजी के प्रेम के पात्र हैं। वे इस करनी से बड़े नहीं हुए। पृथ्वी पर का जल न पीने की टेक से चातक की और नीर क्षीर-विवेक की विभूति से हंस की भी सराहना होती है।

अलंकार—छेकानुप्रास, प्रतीप, विनोक्ति, उपमा, दृष्टान्त।

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ न तेज बल मुखछबि सोई॥
नित नव राम-प्रेम-पन पीना। बढ़त धरमदल मन न मलीना॥
जिमि जल निघटत सरद प्रकासे। बिलसत बेतस बनज बिकासे॥
सम दम संयम नियम उपासा। नखत भरत हिय बिमल अकासा॥
ध्रुव बिस्वास अवधि राकासी। स्वामिसुरति सुरबीथि बिकासी॥
राम प्रेम-बिधु अचल अदोखा। सहित समाज सोह नित चोखा॥
भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरतिगुन बिमल बिभूती॥
बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस-गनेस-गिरा गमु नाहीं॥

दो०—नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति।
माँगि माँगि आयसु करत, राज काज बहु भाँति॥३२५॥

व्याख्या—भरतजी का शरीर दिनोंदिन दुबला होता जाता है। तेज (अन्न, घृत आदि से उत्पन्न होने वाला) घट रहा है। बल और मुख की कान्ति वैसी ही बनी हुई है। राम प्रेमका प्रण नित्य नया और पुष्ट होता है, धर्म का दल बढ़ता है और मन उदास नहीं है।

जैसे शरद् ऋतु के विकास से जल घटता है, किन्तु बेंत शोभा पाते हैं और कमल विकसित होते हैं। शम, दम, संयम, नियम और उपवास आदि भरतजी के हृदयरूपी निर्मल आकाश के तारागण हैं। विश्वास ही उस आकाश में ध्रुवतारा है, चौदह वर्ष की अवधि का ध्यान पूर्णिमा के समान है और स्वामी श्रीरामजी की स्मृति आकाशगङ्गा-सरीखी प्रकाशित है। राम प्रेम ही सदा रहने वाला और कलङ्क रहित चन्द्रमा है। वह अपने समाज सहित नित्य सुन्दर सुशोभित है।

भरतजी की रहनी, समझ, करनी, भक्ति, वैराग्य, निर्मल गुण और ऐश्वर्य का वर्णन करने में सभी सुकवि सकुचाते हैं, क्योंकि वहाँ औरों की तो बात ही क्या स्वयं शेष, गणेश और सरस्वती की भी पहुँच नहीं है।

वे नित्य प्रति प्रभु की पादुकाओं का पूजन करते हैं, हृदय में प्रेम समाता नहीं है। पादुकाओं से आज्ञा माँग-माँग कर वे सब प्रकार के राजकाज करते हैं।

अलंकार—दृष्टान्त, वृत्यनुप्रास, सांगरूपक, पुनरुक्ति प्रकाश।

पुलकि गात हियँ सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू॥
लखन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तप तनु कसहीं॥
दोउ दिसि समुझि कहत सब लोगू। सब बिधि भरत सराहन जोगू॥
सुनि ब्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं॥
परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥
हरन कठिन कलि-कलुष-कलेसू। महा मोह निसि दलन दिनेसू॥
पाप-पुंज-कुंजर-मृग-राजू। समन सकल-संताप-समाजू॥
जन-रंजन भंजन भवभारू। राम सनेह सुधारस सारू॥

छंद—सिय-राम-प्रेम-पियूष-पूरन होत जनमु न भरत को।
मुनि मन-अगम नियम सम दम बिषम ब्रत आचरत को॥
दुखदाह दारिद दंभ दूषन सुजस मिस अपहरत को।
कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि राम सनमुख करत को॥

सो०—भरत चरित कर नेम, तुलसी जो सादर सुनहिं।
सीय-राम पद-प्रेम, अवसि होइ भव-रस-बिरति॥३२६॥

शब्दार्थ—करनू = करने वाला। कुंजर = हाथी। पियूष = अमृत।

सन्दर्भ—प्रस्तुत प्रसङ्ग मे कवि नन्दि-ग्राम मे भरत की दशा और उनके ...त्व का वर्णन कर रहे हैं—

व्याख्या—शरीर पुलकित है, हृदय मे श्रीसीता रामजी हैं। जीभ राम-नाम ...रही है, नेत्रो मे प्रेम का जल भरा है। लक्ष्मणजी, रामजी और सीताजी वनमे वसते हैं, परन्तु भरतजी घर ही मे रहकर तपके द्वारा शरीर को कस ...हैं दोनो ओर की स्थिति समझकर सब लोग कहते हैं कि भरतजी सब ...ार से सराहने योग्य हैं। उनके व्रत और नियमों को सुनकर साधु-सन्त भी ...चा जाते है और उनकी स्थिति देखकर मुनिराज भी लज्जित होते हैं। भरतजी

का परम पवित्र आचरण मधुर, सुन्दर और आनन्द-मङ्गलो का करने वाला है। कलियुग के कठिन पापो और क्लेशो को हरने वाला है। महा मोह रूपी रात्रिको नष्ट करने के लिये सूर्य के समान है।

पाप समूह रूपी हाथी के लिये सिंह है। सारे संतापो के दलका नाश करने वाला है। भक्तो को आनन्द देने वाला और संसार के दुःख का भञ्जन करने वाला तथा श्रीराम प्रेम रूपी चन्द्रमा का सार है।

श्रीसीतारामजी के प्रेम-रूपी अमृत से परिपूर्ण भरतजी का जन्म यदि न होता, तो मुनियों के मनको भी अगम यम, नियम, शम, दम आदि कठिन व्रतो का आचरण कौन करता? दुःख, संताप, दरिद्रता, दम्भ आदि दोषो को अपने सुयश के बहाने कौन हरण करता? तथा कलिकाल मे तुलसीदास-जैसे शठों को हठपूर्वक कौन श्रीरामजी के सम्मुख करता?

तुलसीदासजी कहते हैं—जो कोई भरतजी के चरित्र को नियम से आदर पूर्वक सुनेंगे उनको अवश्य ही श्रीसीतारामजी के चरणों में प्रेम होगा और सांसारिक विषय-रस से वैराग्य होगा।

अलंकार—सम, प्रतीप, छेकानुप्रास, रूपक, वृत्यनुप्रास, वक्रोक्ति।

परीक्षोपयोगी महत्त्वपू

१. भुवन चारि दस .... बेली ॥ १ ॥
२. सुनि सुर .... फेरि ॥ १२ ॥
३. सादर पुनि पुनि .... सुभाउ ॥ १७ ॥
४. बिपति .... बिगोई ॥ २३ ॥
५. कुमतिहि .... कोप कर ॥ २५ ॥
६. अस कहि .... अनुकूला ॥ ३४ ॥
७. निधरक .... बीरु ॥ ४१ ॥
८. जेहि भाँति .... यामिनी ॥ ५० ॥
९. नर अहार .... अनुकूल ॥ ६२ ॥
१०. भइ दिनकर .... जोइ ॥ ९२ ॥
११. अस बिचारि .... जग जाल ॥ ९३ ॥
१२. पद कमल .... तनु ॥१००॥
१३. प्रात प्रातकृत .... ग्राम ॥१०५॥
१४. कोटि .... सीस ॥११७॥
१५. आगे .... सिराइ ॥१२३॥
१६. श्रुति सेतु .... कहूं ॥१२६॥
१७ जगु पेखन .... ठाउँ ॥१२७॥
१८. रघुबर .... समेत ॥१३३॥
१९. नयनवंत .... गेहु ॥१३९॥
२०. जिमि कुलीन .... बंठारि ॥१४५॥

का परम पवित्र
है। कलियुग हाट बाट वैन ॥१५६॥
रात्रि को २२ जे अघ मोर ॥१६७॥

२३. वेचहिं कार्य ॥१६८॥

२४ अस विचारि विगारि ॥१७२॥

२५. विधि वाम आनि मन ॥२०२॥

२६ जानहुँ फूल ॥२०५॥

२७ नव विधु अघाइ ॥२०६॥

२८. एहि दुख छोहू ॥२१२॥

२९. सनमानि सनेह जल ॥२२६॥

३०. विपई जीव समान ॥२२८॥

३१. सहसबाहु समान ॥२२९॥

३२. तिमिर तरुन कृपा निकेत ॥२३२॥

३३. बन-प्रदेस नेमु ॥२३६॥

३४. सखा समेत सच्चिदानन्दु ॥२३९॥

३५ लागे सराहन प्रथम ॥२५१॥

३६. अवगाहि विदेह सन ॥२७६॥

३७. तापस वेष सयानि ॥२८७॥

३८. रघुराइ सिथिल चहत ॥३०१॥

३९ विदा कीन्ह सरीर ॥३०१॥

४० देह दिनहुँ भाँति ॥३२५॥

४१ पुलक गात बिरति ॥३२६॥

अयोध्या काण्ड

आलोचनात्मक प्रश्नोत्तर

१ गोस्वामी तुलसीदास

अ. जीवन परिचय और व्यक्तित्व

ब. कवित्व

२ अयोध्या काण्ड

अ. कथावस्तु

ब. चरित्र-चित्रण

स. भाव-पक्ष और कला-पक्ष की दृष्टि से समीक्षा

तुलसीदास

१. जीवन-चरित्र
२. काव्य-साधना

प्रश्न १—गोस्वामी तुलसीदास की जीवन-सम्बन्धी सामग्री पर प्रकाश डालकर अपना मत स्थिर कीजिए।

उत्तर—'स्वान्तः सुखाय रघुनाथ गाथा' लिखने वाले भक्तों ने अपने जीवन और व्यक्तित्व पर प्रकाश नही डाला। यह बात दूसरी है कि दीनता और आत्म-निवेदन के रूप में उनके जीवन-प्रसग आ गये हो। अतः भक्त कवियो के जीवन पर प्रकाश डालने के लिए जनश्रुतियो तथा उनके तत्कालीन व्यक्तियो के कथनो पर विश्वास करना पडता है। बहुत खोज बीन करने पर थोडी सी सामग्री उनके ग्रन्थो में भी मिल जाती है। गोस्वामी तुलसीदास जी के जन्म, माता-पिता परिवार, गुरु आदि के सम्वन्ध मे अब तक मत विभिन्नता है। उनके जीवन की प्रामाणिक रूपरेखा अन्त साक्ष्य के आधार पर खीची जा सकती है, किन्तु अन्तः साक्ष्य की सामग्री उनके ग्रन्थो मे बहुत कम मिलती है। अतः गोस्वामी जी का जीवन परिचय दो साधनो से जाना जा सकता है—

१ बहिःसाक्ष्य—गोस्वामी तुलसीदासजी की जीवन सामग्री पर प्रकाश डालने वाले निम्न लिखित ग्रन्थ हैं—

क—नाभादास का भक्तमाल

ख—प्रियादास की टीका

ग—दो सै बावन वैष्णवन की वार्ता

घ—वेणी माधव कृत गोसाई
चरित और मूल गोसाई चरित।

च—बाबा रघुवर दास कृत
तुलसी चरित।

छ—तुलसी साहब का आत्म-चरित
या घट रामायण

ज—काशी की सामग्री

प—अयोध्या की सामग्री

फ—राजापुर की सामग्री

ब—सोरों की सामग्री

२ अन्तः साक्ष्य—इनके अन्तर्गत गोस्वामी जी के काव्यों में उन कथनों को लिया जा सकता है, जो उन्होंने कहीं-कहीं पर आत्म-निवेदन के रूप में कहे हैं। इसके लिए उनके काव्य रामचरित मानस, गीतावली, कवितावली, विनय-पत्रिका, बरवै रामायण और दोहावली को लिया जा सकता है।

भक्तमाल—भक्तमाल में नाभादास जी ने तुलसीदास के सम्बन्ध में एक छप्पय दिया है। इसमें उनकी जीवन-रेखा पर प्रकाश न पड़ कर उनके महत्व का ही पता चलता है।

भक्तमाल पर सं० १७६९ में प्रियादास जी ने टीका लिखी, इसमें ११ छन्दों में तुलसीदास द्वारा हनुमान-दर्शन, ब्रह्म-हत्या-निवारण, जहाँगीर से संघर्ष आदि अलौकिक प्रसंगों का वर्णन है, जिनकी ऐतिहासिक पुष्टि नहीं होती, अतः इन किम्वदन्तियों के आधार पर गोस्वामी जी के जीवन-चरित्र पर प्रामाणिक रूप में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता—इसमें तुलसीदास जी को नन्ददास का भाई बतलाकर उनका ब्रज में जाना कहा गया है, परन्तु नन्ददास के भाई 'मानस कार' तुलसीदास ही थे, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। तुलसीदास के वचनों और अन्तः साक्ष्य से उनके नन्ददास से किसी पारिवारिक सम्बन्ध का संकेत नहीं मिलता।

वेणी माधवदास कृत गोसाईं चरित्र और मूल गोसाईं चरित्र—

सन् [illegible] में प्रकाशित एक ग्रन्थ वेणी माधव कृत मूल गोसाईं चरित्र नामक [illegible] किया गया। इसे डा० श्यामसुन्दरदास और डा० बड़थ्वाल आदि विद्वान प्रामाणिक मानते हैं, परन्तु मिश्रबन्धु और डा० माताप्रसाद आदि अप्रामाणिक मानते हैं। इसमें अलौकिक घटनाओं का उल्लेख है। इसकी बहुत सी

जनश्रुतियो की पुष्टि प्रियादास की टीका से भी हो जाती है। अन्य आधारो से भी इसमे वर्णित तथ्यो की पुष्टि हो जाती है। मूल गोसाई चरित के आधार पर तुलसीदास का जीवन-चरित्र निम्न प्रकार है।

"गोस्वामी जी का जन्म स० १५५४ वि० मे श्रावण शुक्ला सप्तमी को राजापुर मे हुआ था। तुलसीदास की माता का नाम हुलसी था। आप जन्म के समय पाँच वर्ष के बालक के बराबर थे। आपके मुख से जन्म लेते ही राम-नाम निकलने से आपका रामबोला नाम पड गया। जन्म के तीन दिन के उपरान्त आपकी माता का देहान्त हो गया और पुनियाँ दासी आपका पालन पोषण करने लगी। कुछ दिन के उपरान्त उसकी भी मृत्यु होगई। इसके उपरान्त रामबोला निराश्रय होकर घूमने लगे। शूकर क्षेत्र मे नरहर्यानन्द ने आपको राम कथा सुनाई। इसके पश्चात् काशी जाकर शेष सनातन से अध्ययन किया। इसके उपरान्त आप राजापुर मे लौट आये। १५८३ वि० मे आपका विवाह हुआ। पत्नी की ही चेतावनी से आपके हृदय मे वैराग्य जाग्रत हुआ। वैराग्य ग्रहण करने के उपरान्त इन्होने तीर्थ यात्रा प्रारम्भ की। चित्रकूट मे हनुमान के द्वारा तुलसी को राम-दर्शन हुए। यही स० १६१६ मे महात्मा सूरदास तुलसीदास मे मिले और हित हरिवंश का पत्र आया। स० १६३१ मे अयोध्या मे आकर गोस्वामी जी ने 'मानस' की रचना प्रारम्भ की।

काशी के जमीदार टोडर तुलसीदास के घनिष्ट मित्र थे। सं० १६४२ मे केशवदास आपसे मिले, स० १६७० मे जहाँगीर दर्शनो के लिए आया।

श्रावण शुक्ला तीज शनि स० १६८० को बनारस के असीघाट पर गोस्वामी जी का देहान्त हुआ।

उपर्युक्त विवरण मे तुलसीदास के जीवन से सम्बन्धित बहुत सी बातें, आ गई हैं। इनमे सूरदास और हित हरिवंश के प्रसंग तुलसीदास के महत्व को बढाने के लिए ही आये है। अन्य तथ्यो को यथारूप मे स्वीकार किया जा सकता है।

'तुलसी-चरित्र' और 'घट रामायण' से तुलसीदास के जीवन-चरित्र पर विशेष प्रकाश नही पडता। 'तुलसी-चरित्र' के अनुसार गोस्वामीजी के तीन विवाह हुए और छ छः हजार मुद्राएं दहेज मे मिली, परन्तु यह कथन

विश्वासनीय और प्रामाणिक नहीं है। घट रामायण में हाथरस के तुलसी साहिब ने अपने पूर्व जन्म की कथा लिखी है, परन्तु यह तथ्य सर्वथा काल्पनिक है।

काशी की सामग्री—तुलसी के जीवन पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालती।

अयोध्या की सामग्री—से इतना ज्ञात होता है कि 'तुलसी चौरा' स्थान पर गोस्वामी जी मानस की कथा कहा करते थे।

राजापुर की सामग्री—यहाँ की प्राप्त सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि राजपुर से तुलसी का सम्बन्ध अवश्य था, परन्तु यह निश्चित नहीं होता कि राजापुर ही उनकी जन्मभूमि है। 'बाँदा गजेटियर' के अनुसार तुलसीदास ने सोरो जिला एटा से आकर अकबर के समय मे राजापुर को बसाया। यह बात विश्वासनीय नही है कि एक सन्त शहर बसाता। प्राप्त सामग्री के आधार पर इतना ही कहा जा सकता है कि गोस्वामी जी का राजापुर से बहुत समय तक घनिष्ट सम्बन्ध रहा।

सोरो की सामग्री—अभी हाल की खोजो मे तुलसीदास के सम्बन्ध मे सोरो मे पर्याप्त सामग्री प्राप्त हुई है। इससे उनके जीवन-चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, परन्तु अभी उसमे खोज की आवश्यकता है।

सोरो की सामग्री के आधार पर गोस्वामी जी के पूर्वज रामपुर के निवासी थे। वे सोरों आकर बस गये। इनके पिता का नाम आत्माराम तथा चचेरे भाइयों का नाम नन्ददास और चन्द्रदास था। माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त गोस्वामी जी सोरो मे ही रहे। यही वे नृसिंह चौधरी की पाठशाला मे पढ़ा करते थे। स० १५८९ मे गोस्वामी जी का विवाह दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ। इसी के उपदेश से उनको विरक्ति हुई। इसके उपरान्त का विवरण सोरो की सामग्री में नहीं है।

अन्त' साक्ष्य

आत्म-परिचय या आत्म-निवेदन के रूप में गोस्वामी जी ने यत्र-तत्र अपने ग्रन्थों मे लिखा है, इससे उनके जीवन के सम्बन्ध मे कुछ प्रमाणिक तथ्य मिल जाते हैं। हम उनके ग्रन्थो से उदाहरण लेकर तथ्य पर पहुँचाने का प्रयास करेंगे।

माता-पिता—

रामहि प्रिय पावन तुलसी सी।
तुलसीदास हित हिय हुलसी सी॥

× ×

सूर तिय, नर तिय नाग तिय,
अस चाहत सब कोइ।
गोद लिये हुलसी फिरै,
तुलसी सो सुत होइ।

तुलसीदास की माता का नाम हुलसी था। इसकी पुष्टि 'मूल गोसाईं' चरित्र से भी होती है।

नाम—

राम को गुलाम रामबोला राख्यो नाम —विनय पत्रिका

× × ×

नाम रामबोला हौं गुलाम रामसाहि को, —कवितावली

× × ×

राम जपत भे तुलसी, तुलसीदास, —बरवै

× × ×

नाम राम को कल्पतरु, कलि कल्यान निवास,
जेहि सुमिरत भये भाग ते, तुलसी तुलसीदास। —दोहावली

उपर्युक्त कथनों के अनुसार गोस्वामी जी के बचपन का नाम रामबोला था जो बाद में तुलसी तथा तुलसीदास हो गया।

गुरु –

मैं पुनि निज गुरु सन सूनी,
कथा सो सूकर खेत।

× × ×

बन्दौ गुरुपद कंज, कृपासिंधु नर रूप हरि। —मानस

उपर्युक्त पंक्तियों से गोस्वामी जी के गुरु का नाम नरहरि या नरहर्यानन्द निकलता है।

जाति—

दियो सुकुल जनम शरीर सुन्दर हेतु जो फल चारि कौं।

× × ×

मेरे जाति पाँति न चहौं काहू की जाति पाँति,
मेरे कोऊ काम को न हौं काहू काम को।

× × ×

धूत कहौ, अवधूत कहौ रजपूत कहौ,
जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब,
काहू की जाति बिगारि न सोऊ।

× × ×

भलि भारत भूमि भलो कुल जन्म शरीर समाज भलो लहि कै।

× × ×

जायो कुल मंगन।

उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट होता है कि गोस्वामी जी का जन्म उत्तम कुल (ब्राह्मण वंश) में हुआ था।

बाल्यावस्था—गोस्वामी जी के भिन्न-भिन्न कथनों से स्पष्ट है कि उनकी बाल्यावस्था संकट पूर्ण रही। माता-पिता से जन्म के कुछ दिनों के उपरान्त ही आप को वियुक्त होना पड़ा। वे उदर पूर्ति के लिए द्वार-द्वार पर भटकते हुए फिरे। कुछ लोग कहते हैं कि गोस्वामी जी को उनके माता-पिता ने त्याग दिया था, परन्तु अपनी बुरी से बुरी सन्तान का त्यागन माता-पिता नहीं करते। फिर तुलसीदास के लिए यह किस प्रकार कहा जा सकता है। सत्य यह है कि बाल्यावस्था में ही गोस्वामी जी के माता-पिता की मृत्यु हो गई थी—

तनु तज्यौ कुटिल कीट ज्यों,
तज्यौ मातु पिता हूँ। —विनय पत्रिका

× × ×

मातु पिता जग जाइ तज्यौ,
विधिहू न लिखी कछु भाल भलाई। —कवितावली

पायो कुल मंगन वधावनो बजायो सुनि,

भयो परिताप पाप जननी जनक को।

वारे ते ललात विललात द्वार-द्वार दीन,

जानत हौं चारि फल चार ही चनक को।

यहाँ वधावनो सुन कर माता-पिता को गरीबी के कारण परिताप हुआ, यही अर्थ लेना उचित है।

आकृति और स्वभाव—

गोस्वामी जी नम्रता के अवतार थे। "वे सिया-राम मय सब जग जानी" कहकर समस्त संसार को प्रणाम करते थे। उन्होने बुरे-भले दोनो प्रकार के व्यक्तियों की "प्रनवौं सन्त असन्तन चरना" कहकर वन्दना की है।

गोस्वामी जी विरक्त तापस और फक्कड़ सन्त थे। उन्होने कहा है—

साधु कै असाधु कै पोच सोच कहा,

कहा काहू के द्वार परो जो हौं सो राम राय को।

× × ×

माँगि के खैबो, मसीत को सोइबो,

लैबो को एक न दैबो को दोऊ॥

वृद्धावस्था और अवसान—

वृद्धावस्था मे गोस्वामी जी को भयंकर बाहु पीडा हुई, उसका उल्लेख उन्होंने कवितावली और हनुमान बाहुक मे किया है—

पाँव पीर, देह पीर, बाहु पीर, मुँह पीर,

जरजर सकल सरीर पीर मई है।

मृत्यु—

राम नाम जस बरनि के, भयो चहत अब मौन।

तुलसी के मुख दीजिए, अब ही तुलसी, सोन॥

इससे इतना संकेत मिलता है कि राम का यश-वर्णन करते हुए तुलसीदास की मृत्यु हुई।

जीवन-चरित्र पर अपना मत—उपर्युक्त विवेचन के आधार पर गोस्वामी जी के चरित्र की रूप-रेखा निम्न प्रकार उपस्थित की जा सकती है।

"तुलसीदास की जन्मभूमि न तो राजापुर है और न सोरों ही, वरन सोरों या सूकर के पास कोई स्थान है। जन्मते ही इनकी माता नहीं रही और पिता ने भी कुछ दिनों के अनन्तर ही संसार त्याग दिया। गोस्वामी जी निराश्रय होकर माँगते-खाते और भटकते हुए सूकर-क्षेत्र पहुँचे। वहाँ पर नरहरि दास से राम कथा सुनी। उसके उपरान्त सम्भवतः में चित्रकूट गये और उसके बाद ही विवाहोपरान्त राजापुर में रहने लगे। स्त्री के उपदेश से वैराग्य प्राप्त होने के समय आपका निवास स्थान राजापुर ही था। वहाँ से चल कर आपने चित्रकूट, काशी, अयोध्या आदि में भ्रमण करके ज्ञानार्जन किया और काव्य-रचना भी की। इनकी माता का नाम हुलसी और गुरु का नाम नरहरिदास था। आपने रामचरित मानस की रचना सं० १६३१ में अयोध्या में आरम्भ की। वृद्धावस्था में आप भयंकर रोग से ग्रसित हो गये। गोस्वामी जी का अन्तिम जीवन काशी में व्यतीत हुआ। यहाँ इन्होंने भयंकर महामारी का दृश्य देखा और क्षुब्ध होकर हनुमान, शंकर और राम से उद्धार की प्रार्थना की। काशी में ही सं० १६८० में गोस्वामी जी ने जीवन-लीला समाप्त की। कुछ लोग मृत्यु तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी और कुछ लोग सावन श्यामा तीज शनि मानते हैं। काशी के जमींदार टोडर जो गोस्वामी जी के घनिष्ट मित्र थे, उनके उत्तराधिकारी श्रावण कृष्ण तीज को ही गोस्वामी जी की निधन तिथि मानते हैं और इसी दिन गोस्वामी जी के नाम पर सीधा देते हैं। 'मूल गोसाईं चरित' के निम्न दोहे से भी इसकी पुष्टि होती है—

संवत सोलह सै असी, असी गंग के तीर।
सावन स्यामा तीज सनि, तुलसी तज्यौ सरीर॥

यहि तिथि सर्वमान्य है और गणना से भी सही बैठती है।

जन्म-तिथि—मृत्यु तिथि के समान गोस्वामी जी की जन्म-तिथि में भी अधिक मतभेद है। शिवसिंह सरोज में इनकी जन्म-तिथि सं० १५८३ के लगभग मानी गई। विलसन ने 'रलीजस सेक्ट्स ऑफ हिन्दूज' सं० १६०० वि० को तुलसी की जन्म तिथि माना है, यह तिथि भी निराधार है।

डा० ग्रियर्सन ने 'घट रामायण' के आधार पर तुलसी की जन्म सं० १५८९ वि० मानी है। डा० माताप्रसाद गुप्त भी इसी तिथि को मानते हैं। परन्तु

'घट रामायण' के आधार पर होने के कारण यह अविश्वासनीय है। गोस्वामी जी की जन्म तिथि 'मूल गोसाई चरित' के आधार पर सावन शुक्ला सप्तमी सं० १५५४ अधिक मान्य है। 'मानस मयक कार भी इसी तिथि के अनु ार गोस्वामी जी दीर्घायु ठहरते हैं, जो उन जो उन जैसे महात्मा के लिए असम्भव नही है।

गोस्वामी जी के उपर्युक्त लौकिक वर्णन से स्पष्ट है कि उनका जोवन-चरित्र एक साधारण मनुष्य को महामहिमा पूर्ण आदर्श व्यक्ति वनाने वाला है। गोस्वामी जी के सम्यक् जीवन चरित्र से परिचित होने के लिए अभी पर्याप्त खोज की आवश्यकता है।

प्रश्न २—गोस्वामी तुलसीदास जी की रचनाओ का परिचय दीजिए।

उत्तर विद्वानो द्वारा गोस्वामी जी के रचित ग्रन्थों की दी हुई संख्या मे भिन्नता है। काशी नागरीप्रचारणी सभा की खोज-रिपोर्टों मे तुलसी के नाम से लगभग ३५ ग्रन्थ मिले हैं, परन्तु उनमे से वहुत से ग्रन्थ अन्य तुलसी नामधारी व्यक्तियों के हैं। इनमे से १२ ग्रथ प्रामाणिक माने गये हैं। जो तुलसी ग्रन्थावली के दो भागो मे संग्रहीत हैं। वे निम्नलिखित हैं—

१. रामचरित मानस २. रामलला नहछू ३. वैराग्य संदीपनी ४ वरवै रामायण ५ पार्वती मगल ६. जानकी मगल ७. रामज्ञाप्रश्न ८. दोहावली ९. कवितावली १० गीतावली ११. विनय पत्रिका और १२ श्री कृष्ण गीतावली।

रामचरित-मानस—रामचरित मानस की रचना गोस्वामी जी ने सं० १६३१ वि चैत शुक्ल ९ मगलवार को प्रारम्भ की थी। यह ७ काडों मे विभक्त है। इसमे ५१०० चौपाई या १०२०० अर्द्धाली हैं। 'रामचरित मानस मानव जीवन का महाकाव्य है। इसमे गोस्वामी ने हमारी आध्यात्मिक और भौतिक समस्याओ का सफल विवेचन किया है। ''मानस' का भारत के कोने-कोने मे प्रचार है। इसका अनुवाद विभिन्न भाषाओ मे हो चुका है। राम-चरित मानस 'नाना पुराण निगमागम समस्त' हिन्दू-संस्कृति का सारभूत ग्रन्थ है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम के व्यक्तित्व मे नर और नारायण का आदर्श समन्वय गोस्वामी जी ने किया है।

रामलला नहछू—इसमें विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले २० सोहार छन्द है। गोसाई चरित्र के अनुसार इसकी रचना गोस्वामी जी ने मिथिला में की। इसमे लोक-संस्कृति का स्वरूप मिलता है। इसमे राम साधारण दुलह के रूप मे आते हैं। इस ग्रन्थ मे तुलसीदास मर्यादावादी के स्थान पर यथार्थवादी के रूप मे उपस्थित हुए है। इसमे रसिकतापूर्ण शृंगार के चित्र है। इनके चित्र और भाव अत्यन्त मर्मस्पर्शी है।

३–वैराग्य सदीपनी–यह कृति गोस्वामी जी की प्रारम्भिक रचना जान पडती है। इसकी विषय-वस्तु को निम्न भागो मे विभाजित किया जा सकता है—१—मगला चरण २—सत महिमा ३—वर्णन ४—शान्ति वर्णन। इसमें सदाचर, सत्सग और वैराग्य आदि के द्वारा मनुष्य भक्ति प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। इसमे कुछ दोहे दोहावली के तथा कुछ गोस्वामी जी के अन्य ग्रन्थो के हैं। यह वैरागियो और साधु सन्यासियो के लिये लिखी गई कृति हैं।

४—बरवै रामायण—बरवै रामायण समय-समय पर लिखे गये छन्दो का सकलन हैं। वेणी माधवदास जी इसकी रचना स० १६६६ मे मानते हैं। इसमे कुल मिलाकर ६९ छन्द हैं, जो सात काण्डो मे विभक्त हैं। इन छन्दो मे गोस्वामी जी ने ललित भावो की अभिव्यक्ति की है। सीता के सौन्दर्य, राम के चरित्र, शील, स्वभाव का वर्णन, सीता का विरह वर्णन आदि अलकारिक सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं।

५—पार्वती मगल—इसमे शिव-पार्वती के परिणय का प्रसग है। यह खण्ड काव्य है। पार्वती मगल की कथा का आधार 'कुमार सभव' है। पार्वती मगल की रचना स० १६४३ वि० मे हुई। इस कृति मे मगल और हरिगीतिका छन्दो का प्रयोग हुआ है। पार्वती मगल मे पार्वती-बटु सम्वाद, तपस्या, वैवाहिक कृत्य आदि का मार्मिक वर्णन है। इसमे १४ छन्द हैं।

६—जानकी मगल—यह ग्रन्थ 'पार्वतीमगल' की ही शैली पर लिखा गया है। यह २१६ छन्दो में समाप्त हुआ है। लोक-संस्कृति आस्थाओ और विश्वासो का वर्णन इसमे अधिक है। इस मगल मे प्रमुख उद्देश्य विस्तारपूर्वक वैवाहिक मागलिक कृत्यो का वर्णन है।

७—रामाज्ञा प्रश्न—इसका रचना काल सं० १६२१ वि० है। इसी को कुछ विद्वानों ने दोहावली का नाम दिया है। इसमे दोहो मे रामचरित वर्णन है। इसमे २४३ छन्द है।

'रामाज्ञा प्रश्न' मे वर्णित कथा पर वाल्मीकि रामायण की कथा का अधिक प्रभाव है। परशुराम का विवाह परान्त आगमन विप्र, श्वान के न्याय को निपटाना एव सीता निर्वासन, लव-कुश जन्म आदि का उल्लेख यही सिद्ध करता है। इस कृति मे घटनाओं के मार्मिक स्थल मिलते है।

८—दोहावली—दोहावली की रचना एक लम्बे समय हुई। इसमे राम-चरित मानस के ८५ दोहे 'वैराग्य संदीपनी' के २ दोहे, 'राघाज्ञा प्रश्न' के ३५ मिलते है। यह मुक्तक रचना है।

दोहावली मे समाज, धर्म, व्यक्ति, राजनीति और भक्ति का सुन्दर निरू-पण है। इसका महत्वपूर्ण आदर्श राज्य धर्म सम्बन्धी है, जिसमे गोस्वामी जी ने कलियुग के राजाओं के अनीतिपूर्ण व्यवहार का स्पष्टीकरण किया है, साथ ही विभिन्न प्राकृतिक व्यापारो से उदाहरणों लेकर राजनीति का आदर्श भी प्रगट किया है।

९—कवितावली—कवितावली क्रमबद्ध प्रबन्ध ग्रन्थ नही है। ऐसा जान पडता है कि विविध ग्रन्थो की रचना करते समय जो भाव कवित्त सवैयो मे बंधकर निकले, उनमे कुछ और जोडकर किया गया संग्रह ही 'कवितावली' है। 'कवितावली' सरस, मधुर और ओजपूर्ण छन्दो से परिपूर्ण है। इसमे राम के बालरूप की झाँकी, धनुष यज्ञ-प्रसङ्ग, वनवास-प्रसङ्ग, मार्ग मे जाते हुए राम-सीता-लक्ष्मण को देखकर ग्राम नर-नारियो की भावाभिव्यक्ति, लंका-दहन, कलियुग दशा का वर्णन आदि प्रसग बडे मनोरम हैं। उत्तरकाड की कुछ पंक्तियाँ गोस्वामी जी के जीवन पर प्रकाश डालती है।

कवितावली से ही सलग्न 'हनुमान बाहुक' है। जिसमे ४४ कवित्तो मे गोस्वामी जी ने अपनी बाहु पीडा का वर्णन किया है। कवितावली का रचना-काल स० १६६५ से लेकर १६७१ तक ठहरता है।

१०—गीतावली—इसका रचनाकाल स० १६७७ वि० है। इसमे गोस्वामी ने अष्टछाप के कृष्ण-भक्त कवियो की गीता-शैली का प्रयोग किया

है। इसकी कथा कुछ भेद से 'रामचरित-मानस' की कथा से मिलती है। इसमें सात कांड और ३३० पद हैं। गीत-काव्य होने के कारण इसमे उन्ही मार्मिक स्थलो का वर्णन है जो शृंगार, करुण, वात्सल्य-रस की भावनाओं से युक्त हैं। उत्तरकांड मे झूले का स्वाभाविक वर्णन है, किन्तु यह वर्णन गोस्वामी जी की मर्यादा से कुछ दूर हटा हुआ है—

अति मचत, छूटत कुटिल कच
छवि अधिक सुन्दरि पावही।
पट उड़त भूपण खसति हँसि-हँसि,
अपर सखी झुलावही ॥

गीतावली मे बाल-लीला का वर्णन बहुत स्वाभाविक है। इसमे वे सूर के बहुत निकट आ जाते हैं। तुलसी के वर्णन मे राजसी ठाठ-बाट है, जबकि सूर की बाल-लीला का आकर्षण कृष्ण की नटखटी और ग्वाल-बालों की समत्व की भावना में है।

११—विनय-पत्रिका—'रामचरित मानस' के उपरान्त तुलसी के ग्रन्थों में विनय-पत्रिका' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमे कलियुग की कुचालि से पीड़ित होकर गोस्वामी जी राम के पास अपनी पत्रिका भेजते हैं। सबसे पहले गोस्वामी जी गणेश, शिव, हनुमान, सूर्य आदि देवताओ की स्तुति करके अपने ध्यान को स्थिर करते हैं। इसके उपरान्त कलि कुचाल का वर्णन करते हुए तुलसी राम को विस्तृत पत्रिका लिखते हैं। पदो का क्रम इस प्रकार का है कि एक प्रबन्धात्मकता का अनुभव होने लगता है। गोस्वामी जी समस्त दरबारियों को मिलाकर बड़े सुन्दर ढंग से पत्रिका राम के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

विनय पत्रिका में २७९ पद हैं। यह कृति भक्तो का कंठहार है। इस उत्कृष्ट गीत-काव्य मे भक्ति के विभिन्न भावो का सच्चाई और स्वाभाविकता के साथ वर्णन है। दैन्य, विश्वास, आत्म-भर्त्सना, निर्वेद, बोध, दृढ़ता, हर्ष, गर्व, उपालंभ आदि सभी भाव विनयपत्रिका में हैं।

विनयपत्रिका मे गोस्वामी जी विभिन्न मतवादो को छोड़कर 'राम-भजन' को राज डगरो के समान सरल बतलाते हैं—

"गुरु कह्यो राम भजन नीको,
मोहि लगत राज डगरो सो।

श्री कृष्ण गीतावली–तुलसीदास के काव्यो मे श्रीकृष्ण गीतावली का प्रमुख स्थान है। गोस्वामी के सभी ग्रन्थो मे रामचरित-वर्णन है, जबकि श्री कृष्ण गीतावली मे उन्होने कृष्ण-चरित्र को काव्य-विषय बनाया है। कृष्ण गीतावली का महत्व इसलिये और अधिक हो जाता है कि यह कृति उनके प्रतिनिधित्व का पूर्ण परिचय देने मे सहायक होती है। तुलसी के समय मे कृष्ण की भक्ति का प्रचार भी उत्तरी भारत मे था, तब यह किस प्रकार हो सकता था कि जिस युग-प्रतिनिधि कवि ने अपने काव्य मे सभी काव्य-रीतियो, समस्त समाज तथा ज्ञान, भक्ति, वैराग्य और कौटुम्बिक जीवन का समन्वय किया, यह राम-कथा कहते हुए कृष्ण-चरित्र की चर्चा न करता। ब्रज-भाषा मे लिखित गोस्वामी जी की श्री कृष्ण गीतावली मे गीतावली, विनय पत्रिका आदि की तरह ही भाषा का माधुर्य और काव्यगुणो का समन्वय है, तथा 'मानस' और 'विनय पत्रिका' की तरह ही विषयगत और काव्यगत प्रौढता है।

'श्री कृष्ण गीतावली' में भिन्न-भिन्न राग-रागनियो मे कृष्ण-चरित्र पर ६१ पद है।

'कृष्ण गीतावली' पदो का सग्रह है, किन्तु इसकी शैली और विषय की एक रूपता को देखकर कहना पडता है कि इसके पदो की रचना-काल मे अधिक विराम नही है।

कृष्ण गीतावली शैली और विषय-निर्वाह की दृष्टि से गीतावली से उत्कृष्ट है। गीतावली मे राम-वन पथिक-प्रसंग अनावश्यक विस्तार को लिए हुए हैं, जब कि सुग्रीव-मैत्री, सीता-मिलन, रावण-वध आदि आवश्यक प्रसग छूट ही गये हैं। कृष्ण गीतावली मे कृष्ण चरित्र से सम्बन्धित कोई भी आवश्यक प्रसग छूटने नही पाया है। ६१ पदो मे अत्यन्त कलात्मक रीति से गोस्वामी जी ने कृष्ण-चरित्र उपस्थित किया है।
कृष्ण गीतावली की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसकी शब्दावली और शैली व्रज का वातावरण उपस्थित कर देती है। थाकु, ठाली, सिगरी, भट्ट, लगरी आदि स्थानीय प्रयोग वातावरण को सजीव कर देते हैं। निम्न पद मे देखिए—

कबहुँ न जात पराये धामहिं ।

खेलत ही देखौं निज आँगन सदा सहित बलरामहिं ॥

मेरे थाकु कहा गोरस को नवनिधि मन्दिर-यामहिं ।

ठालो ग्वालि ओरहने के मिस आइ बकहि बेकामहिं ॥

हौं बलि जाउँ जाहु कितहुँ जानि, मातु सिखावति स्यामहिं ।

बिनु कारन हठि दोष लगावति तात गए गृहग्रामहिं ॥

श्रीकृष्ण गीतावली के पदो मे कुछ सूरदास के भी पद मिल गये है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदास के कुछ प्रसिद्ध पद गोस्वामी जी को बहुत प्रिय थे और वे उन्हें गाया करते थे। पीछे उन पदो को गोस्वामी जी के शिष्यों ने उनके नाम से ही सग्रह मे सम्मिलित कर दिया। कुछ पदो में तो 'सूर' और 'तुलसी' नाम की छाप ही का अन्तर है।

प्रश्न ३—तुलसी के काव्य-सौन्दर्य की विवेचना कीजिए।

अथवा

प्रश्न ४—'तुलसीदास' रस-सिद्ध कवि थे"—इस कथन की समीक्षा कीजिए।

अथवा

प्रश्न ५—"तुलसीदास के काव्य मे प्रचलित सभी शैलियों तथा ब्रज और अवधी, दोनों भाषाओ का समन्वय मिलता है। उसमे उच्चकोटि की कलात्मकता है"—इस कथन की समीक्षा कीजिए।

अथवा

प्रश्न ६—"तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है"—इस कथन के आधार पर उनकी काव्य-पद्धति पर प्रकाश डालिए और सिद्ध कीजिए कि वे एक भावुक कवि थे।

अथवा

प्रश्न ७—तुलसी की भावुकता की परीक्षा कीजिए।

उत्तर—कवि की भावुकता का पता यह देखने पर मिल जाता है कि वह किसी आख्यान के मर्मस्पर्शी स्थलों को पहिचान सका है या नहीं। तुलसी का हृदय भावुकता से परिपूर्ण था। उनकी कल्पना-शक्ति सजग और स्वाभाविक थी। उनकी भाविक-कल्पना रामकथा के मार्मिक स्थलो मे इस प्रकार रमकर

लीन हो गई कि उसने अनेको हृदयग्राही चित्र उपस्थित कर दिये। कहा जाता है कि तुलसी को राम-कथा का आश्रय मिल गया था, जिससे वे अपनी भावुकता पूर्ण अभिव्यक्ति मे सफलता प्राप्त कर सके, परन्तु हमारी विचारधारा ऐसे मतो का समर्थन नही करती। केशव ने भी रामचन्द्रिका मे रामचरित्त की चर्चा की है, किन्तु हृदय-हीन की उपाधि मिली, जबकि तुलसी भावुकता के सम्राट कहलाये। कैकेयी के वरदानो के उपरान्त केशव झट "विपिन बीच राम विराजही" कहकर कथा को चलताऊ कर देते हैं, वहाँ तुलसी अपनी भावुकता से वियोग-वागीश ही उडेल देते है। केशव अपनी नीरस भावुकता मे वन मार्ग मे "किधो कोउ ठगौरी लिए जात हैं" की कल्पना करते है। अत: तुलसी की भावुकता का आधार उनकी सरस कल्पना अधिक है, राम का विस्तृत चरित्र कम। राम-कथा के भीतर ये स्थल अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं—राम-जन्म, राम-विवाह, राम और भरत का चित्रकूट मे मिलन, शवरी का आतिथ्य लक्ष्मण-शक्ति पर राम का विलाप, भरत की प्रतीक्षा आदि। इन स्थलो को गोस्वामी जी ने अच्छी तरह अपनाया है। इनका उन्होने विशद और भावुकता-पूर्ण विवेचन किया है।

एक सुन्दर राजकुमार का छोटे भाई, स्त्री को लेकर घर मे निकलने और वन-वन फिरने से अधिक मार्मिक दृश्य और क्या हो सकता है। रमणीय वन-पर्वत के बीच एक सुकुमारी राज-वधू को साथ लिए दो वीर आत्मावलम्बी राजकुमारो को विपत्ति के दिनों को सुख के दिनो मे परिवर्तित करते पाकर वे 'वीरभोग्या वसुन्धरा' की सार्थकता हृदयंगम करते है। इस दृश्य का वर्णन गोस्वामी जी ने मानस, कवितावली और गीतावली तीनो मे अत्यन्त सहृदयता के साथ किया है। ग्राम-बालायें राम-जानकी के अनुपम सौन्दर्य पर स्नेह-शिथिल हो जाती हैं, उनका वृतान्त सुनकर राजा की निष्ठुरता पर पछताती हैं, कैकेयी की कुचालें पर भला-बुरा कहती हैं। उनकी वृत्तियाँ अत्यन्त कोमल हो जाती है। वे सोचती हैं—

'जो जगदीश इन्हें वन दीन्हा। कत न कुसुमय मारग कीन्हा॥"

× × ×

पाँयन ते पनही न पयादेहि क्यो चलिहै सकुचात हियो है॥"

जो माँगा पाइहि विधि पाँही । राखिअ सखि इन्ह आँखिन माँही ॥

तुलसी ने अपनी भावुकता से इस प्रसग मे अत्यन्त हृदयहारी सौन्दर्य-भर दिया है। ग्राम-बालाओ के "साँवरे से सखि रावरे को हैं" पूछने पर जानकी जी—

"तिरछे करि नैन दै सैन तिन्हे समुझाय कछू मुसकाय चली ॥
तुलसी तेहि औसर सोहैं सबै अवलोकत लोचन लाहु अली ॥
अनुराग तड़ाग मे भानु उदय बिकसी जनु मजुल कज-कली ।

यही नही ग्राम-बालायें पथिको के शील-सौन्दर्य से आकर्षित होकर परस्पर कहने लगती है—

"धरि धीर कहैं चलि देखिय जाइ जहाँ सजनी रजनी रहिहैं ।
सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कछु आपस मे पुन जो कहिहैं ॥
कहि है जग पोच न सोच कछू फल लोचन आपन तो लहिहैं ।
तुलसी अति प्रेम लगी पलकैं लखि मूरति राम हिए महिहैं ॥"

चित्रकूट मे राम-भरत के मिलन मे तुलसी की भावुकता का इतना अधिक प्रसार हो गया है कि—

"हुइ गये पूत किरात-किरतिनि राम दरस मिटि गई कलुषाई ।"

छोटे-छोटे सचारी भावो की स्वतन्त्र व्यंजना भी गोस्वामी जी ने जिस मार्मिकता से की है, उससे उनकी मानवी-प्रकृति का सूक्ष्म-निरीक्षण प्रकट होता है। उन्होने ऐसे भावो का चित्रण किया है जिसकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नही गया है। कैकेयी को समझाते समय मथरा के मुख से उदासीनता की व्यजना गोस्वामी जी ने बडी मार्मिकता से कराई है। राम के अभिषेक पर दुःख प्रकट करने के कारण जब मथरा को कैकेई बुरा-भला कहती है, तब उसका कथन देखिए—

"हमहुँ कहब अब ठकुर सोहाती । नाहि त मौन रहब दिन-राती ॥"
"कोउ नृप होउ हमहि का हानी । चेरि छाँडि अब होब कि रानी ॥"

"चकपकाहट—के भाव का बडा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण गोस्वामी जी ने किया है। "चकपकाहट" ऐसी बात पर होती है जिसकी कुछ धारणा हमारे मन मे न रही हो और वह एकाएक हो जाय ।

"वारि वननिधि ? नीर निधि ? जलधि ? सिन्धु ? वारीस ?
सत्य तोयनिधि ? कंपती ? उदधि ? पयोधि नदीस ?"

तुलसीदास जी हिन्दी के उच्चकोटि कवि थे। सब दृष्टियो से उनकी कविता साहित्य मे शीर्ष स्थान प्राप्त करने की अधिकारिणी है। उनका क्षेत्र बडा विशाल था और तत्कालीन परिस्थिति भी बडी भयावह थी। विदेशी सत्ता ने यहाँ पर पूर्ण रूप से अपना अधिकार जमा लिया था। ऐसी विपन्न स्थिति में तुलसी ने जो अभिनव साहित्य का निर्माण किया, उससे समाज पतित होने से बच गया और भावो की पावन सुरसरि मे स्नान कर अपने को आल्हादित और रसमग्न करने लगा। समाज मे लोक-मंगल-साधना की सृष्टि हुई। 'स्वान्त. सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा' कितनी 'परान्त. सुखाय' बनी, उसे आज भी इस देश की जनता जानती है। शील, शक्ति और सौन्दर्य-निधान राम का मर्यादा पुरुषोत्तम रूप अंकित कर उन्होने समाज मे प्राण-प्रतिष्ठा की। तुलसी का काव्य वह मजुल-मुकुर है, जिससे हमे तत्कालीन राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक सभी परिस्थितियों का स्पष्ट चित्र प्रतिबिम्बित होता है।

काव्य मे सभी रसो का पूर्ण परिपाक हो गया है। जिस सिद्धहस्तता के साथ आपने करुणा रस का चित्रण किया है वैसा ही वीर रस और वीभत्स रस का। जिस मनोरमता से शृगार रस का विवेचन किया है वैसा ही भयानक रस का। जिस खूबी से हास्य रस का वर्णन किया है, वैसा ही शान्त रस का। जिस पटुता के साथ का वात्सल्य रस विवेचन है, वैसा ही अद्भुत रस का। एक तो "रामचरित केहि लाग न नीका। सरस होय चाहे अति फीका।।" और फिर उसमे तुलसी की प्रतिभा की माधुरी से मानव मन्त्र-मुग्ध हो जाता है। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का यह कथन कितना करुण रस से अप्लावित है—

"मेरो अब पुरुषारथ थाको।
विपति बटावन-हार बन्धु बिनु करहुँ भरोसो काको।
+ + + +
गिरि कानन जैहैं साखमृग हौं पुनि अनुज संघाती।
ह्वै है कहा विभीषन की गति यहै सोच भर छाती।"

दूल्हा-दुलहिन वेश मे राम-सीता का यह शृंगार युक्त वर्णन देखिए—

"दूल्हा श्री रघुनाथ बने दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माही।
गावत गीत-सबै मिलि सुन्दरि वेद जुवा जुरि विप्र पढाहीं॥
राम को रूप निहारति जानकी कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि रही, कर टेकि रही पल टारति नाहीं।"

वियोग-शृंगार का वर्णन भी अच्छा हुआ है। राम खग-मृग से सीता का पता पूछते हैं—

'हे खग, मृग हे मधुकर श्रेनी,
तुम देखी सीता मृगनैनी।"

लंका-दहन के वर्णन मे भयानक और वीभत्स रस का अच्छा चित्रण हुआ है। धनुष-यज्ञ के अवसर पर 'रौद्र-रस' का बड़ा ही सुन्दर परिपाक हुआ है। 'विनयपत्रिका' मे शान्तरस है। सभी पदो मे शान्त रस की धारा प्रवाहित हुई है। तुलसी के समय मे निम्नलिखित शैलियाँ प्रचलित थी और इन्होंने उन सभी शैलियों मे रचना की है और अपनी कुशलता का परिचय दिया है—

(१) चारण और भाटो की कवित्त, सवैया, वाली शैली।
कवितावली इसी मे शैली है।

(२) विद्यापति एवं जयदेव की पद वाली शैली।
कृष्ण-गीतावली, राम-गीतावली और विनयपत्रिका इसी शैली मे है।

(३) निर्गुणियों की दोहा वाली शैली—
तुलसी सतसई इसी शैली मे है।

(४) जायसी आदि सूफी कवियो की दोहा-चौपाई वाली शैली।
'रामचरित मानस' इसी शैली मे है।

(५) वीरगाथा काल की छप्पय शैली।
'छप्पय रामायण' इसी शैली मे है।

(६) रहीम आदि की बरवै शैली।
'बरवै रामायण' इसी शैली मे लिखी गई है।

भाव-सौन्दर्य के लिए कवि के लिए काव्य-कला का चातुर्य अपेक्षित है। गोस्वामी जी अपनी गहरी अनुभूति को सुन्दर कलात्मक रूप से संवारते है। शृंगार के वर्णन मे सौन्दर्य की भव्यता वे मर्यादा के अन्दर भावात्मक रूपको के द्वारा करते हैं। गोस्वामी जी सीता के अलौकिक, अतुल सौन्दर्य को रूपक मे बाँध कर अभिव्यक्त करते है। सौन्दर्य के सभी उपकरणों के द्वारा समुद्र-मथन से उत्पन्न लक्ष्मी भी सीता की समता नहीं कर पाती। देखिए—

जो छवि-सुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥
शोभा रजु मन्दर सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
यहि विधि उपजहि लच्छि जब,
सुन्दरता सुख मूल।
तदपि संकोच कहैं कवि,
सीय वदन सम तूल॥

इसी प्रकार का मार्मिक अनुभूति पूर्ण रूपक गोस्वामी जी ने राम-सीता के सौन्दर्य-वर्णन में खड़ा किया है—

सुखमा सुरभि सिंगार छीर दुहि,
मयन अमिय मय कियो दही री।
मथि माखन सिय-राम सँवारे,
सकल भुवन छवि मनहुँ मही री।

यहाँ पर भाव और कला का सुन्दर समन्वय है। रूपक अलंकार के अन्तर्गत भाव-सौंदर्य उमड़ पड़ा है।

शब्दावली मे ध्वन्यात्मकता—शब्दों के प्रयोग मे पद-मैत्री और मधुरता वस्तु-वर्णन का सजीव चित्र सा उपस्थित कर देती है? शब्दावली मे विषय-वस्तु के अनुकूल ध्वनि निकलने लगती है। हनुमान का एक कौतुक निम्न छप्पय की शब्दावली स्पष्ट उपस्थित कर देती है—

चरन चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
विकट कटक विद्दरत वीर वारिद जिमि गज्जत॥

निम्न उदाहरण मे अनुप्रास का माधुर्य, पद-मैत्री और ध्वन्यात्मकता, शृंगार-सौन्दर्य का मार्मिक चित्र उपस्थित कर देती है। शब्दों के उच्चारण मे ही 'कंकन,' 'किंकिन और नूपुर' की ध्वनि निकल पड़ती है—

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि ।
कहत लषन सन राम हृदय गुनि ॥

तुलसी की काव्य-कला मे प्रचलित सभी शैलियो का समन्वय है—'रामचरित मानस' में प्रेम गाथाकारो की दोहा-चौपाई की पद्धति और 'बरवै' रामायण मे रहीम के 'बरवै' 'छन्द,' 'रामलला नहछू' मे ग्राम-गीतो, दोहावली मे कबीर आदि सन्तो और नीतिकारो की दोहा पद्धति तथा 'कवितावली' मे गोस्वामी ने भाटो और वीर-गाथा काल की कवित्त-सवैया और छप्पय-पद्धति को अपनाया है। गोस्वामी जी ने कृष्ण-भक्त कवियो की गीत-शैली मे 'विनय-पत्रिका,' 'गीतावली' और 'कृष्ण-गीतावली' की रचना की।

वागवैदग्ध—गोस्वामी जी अपनी अभिव्यक्ति इस प्रकार करते हैं कि उसमे कलात्मक रूप मे विदग्धता आ जाती है। नारद-मोह के प्रसग मे "इनहि बरिहि हरि जान विसेखी"। 'हरि' शब्द के श्लेष द्वारा वन्दर और विष्णु अर्थ का सकेत करके गोस्वामी जी ने विदग्ध हास्य की सृष्टि की है।

गोस्वामी जी का उक्ति-वैचित्र्य कथन को प्रभावशाली बना देता है। तुलसी के काव्य मे कथन के न जाने कितने अनूठे ढग मिलते हैं। कौशल्या का निम्न कथन देखिए। वे कहती हैं कि मृत्यु ही को मृतक बनाकर श्मशान की अग्नि के समान मैंने जला दिया है, अत. मेरा मरण सम्भव नही है। इस युक्ति मे कितनी गहराई और भाव-व्यजकता है—

"हाथ मीजिबो हाथ रह्यो,
पति सुरपुर सियराम लषन वन मुनि व्रत-भरत गह्यो।
हौं रहि घर मसान पावक ज्यों मरिबोई मृतक-दह्यो।

तुलसी की काव्य-कला पर एक विहगम दृष्टि डालने के उपरान्त अब हम क्रमश. उनकी विशेषताओ का उद्घाटन करेंगे। गोस्वामी जी कला-प्रदर्शन से अपने को सर्वथा दूर रखते थे। उन्होने स्पष्ट कहा है—

कवि न होउँ नहि चतुर प्रवीनू।
सकल कला सब विद्या हीनू॥
कवित विवेक एक नहि मोरे।
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥

उपर्युक्त कथन का यह अर्थ कदापि नही है कि गोस्वामी जी काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान से रहित थे। गोस्वामी जी काव्य-कला के पूर्ण पारखी थे, परन्तु उनका उद्देश्य कला को लोकोपयोगी रूप देना था। वे "कला-कला के लिए है" के सिद्धान्त को मानने वाले नही थे। कला वही है जिसमे सुरसरि के समान दूसरो का हित हो—

कीरति भनित भूति भनि सोई।
सुरसरि सम सब कर हित होई॥

गोस्वामी जी की कला-गत विशेषताओ का उद्घाटन निम्न शीर्षको मे किया जा सकता है।

भाषा—गोस्वामी जी की रचनाओ मे संस्कृत बहुला शब्दावली और ठेठ ग्राम्य शब्दावली या लोक-प्रचलित शब्दावली दोनो का प्रयोग मिलता है। 'मानस, 'विनय-पत्रिका, की भाषा जहाँ संस्कृत प्रधान है, वहाँ 'रामलला नहछू' की भाषा मे लोक-प्रचलित शब्दावली है। गोस्वामी जी का ब्रज और अवधी भाषाओ पर समान रूप मे अधिकार था। 'मानस' मे अवधी के पूर्वी और पश्चिमी दोनो रूप हैं। कवितावली, विनयपत्रिका, गीतावली और कृष्ण-गीतावली ब्रज-भाषा मे है। पार्वती-मगल, जानकी-मगल, रामलला नहछू पूर्वी अवधी मे है।

गोस्वामी जी की भाषा मे स्वाभाविकता, सरलता और प्रासादिकता है। प्रान्तीय बोलियो में भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, और ब्रज के स्थानीय (कृष्ण-गीतावली) प्रयोग भी मिलते हैं, परन्तु ऐसे प्रयोगो से अभिव्यक्ति मे स्वाभाविकता आ गई है।

अप्रस्तुत-विधान—गोस्वामी जी ने अलकारो मे परम्परागत उपमानो का प्रयोग किया है और जीवन के निरीक्षण से प्राप्त नवीन उपमानों को भी ग्रहण किया है।

गोस्वामी जी की वर्णन-शैली, और कल्पनाओ की योजना मे भी उनकी कला के दर्शन होते हैं। अलकार भावो के सौन्दर्य मे सहायक होकर कवि की सजी हुई कला का परिचय देते हैं। तुलसी को रूपक बहुत प्रिय हैं। वे लम्बे लम्बे सांग रूपको का निर्वाह करने मे दक्ष हैं। 'रामचरित-मानस' का 'मानस-

रूपक, अपनी कला के लिए प्रसिद्ध है। उपमा, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, अनन्वय अलकारो के प्रचुर उदारहण तुलसी के काव्यो मे मिल जाते हैं।

तुलसी की काव्य-कला मे सरलता और स्वाभाविकता है—तुलसी के काव्य मे कृत्रिमता कही नही है। तुलसी का काव्य सब जन मगलकारी और सरल है। यह महत्वपूर्ण विचारो और अनुभवो का भण्डार है। स्वाभाविक सरलता मे गहरे भाव और अनुभूति की अभिव्यक्ति हुई है। गोस्वामी जी ने बडे-बडे क्लिष्ट भावो को जिस सरलता से पद्य मे अभिव्यक्ति कर दिया है, उतन सरलता से आज हम गद्य मे अभिव्यक्त नही कर सकते। 'कृष्ण गीतावली' के निम्न उदाहरण मे देखिए। कृष्ण किस प्रकार अपने दोषो को छिपा गए और ग्वालिनी के सिर उल्टा दोष मढ दिया—

> अबहि उरहनो दै गई बहुरो फिरि, आई।
> सुन मैया तेरी सौं याकी टेव लरन की सकुचि बेचि सी खाई।
> या ब्रज मे लरिका घने हौं ही अन्यायी॥
> मु ह लाए मूडहि चढी अन्तहु अहिरिनि तू सूधी करि पाई॥

लोक-जीवन के देखे सुने पदार्थों का प्रयोग करने के कारण गोस्वामी जी की काव्य-कला मे विशेष रूप से सरलता और स्वाभाविकता आ गई है। गोस्वामी जी ने प्रस्तुत व्यापार को ठेठ लोक-जीवन से चुना है। इससे भाव और अनुभूति मे तीव्रता आ गई है। निम्न उदारण मे देखिए—

> पीपर पात सरिस मन डोला।
>
> × × +
>
> सो मो पै कहि जात न कैसे।
> साक बनिक मनि गन गुन जैसे॥

तुलसी की काव्य-कला प्रभावोत्पादक है—तुलसी जिस दृश्य, भाव, वस्तु और चरित्र का वर्णन करते है, उसका सजीव रूप सा हमारी कल्पना के समक्ष उपस्थित कर देते हैं। इसीलिए तुलसी के काव्य की इतनी अधिक लोकप्रियता है। निम्न उदाहरण मे बालक राम का सौन्दर्य पाठक के नेत्रों के समक्ष साकार हो जाता है—

"तुलसी मन रंजन रंजित, अंजन,
नैन सुखंजन जातक से।
सजनी ससि मे सम सील उभै,
नवनील सरोरुह से बिकसे॥

तुलसी की काव्य-कला मनोवैज्ञानिक चित्र—उपस्थित कर देती है। गोस्वामी जी किसी वस्तु का वर्णन करते हुए पाठको के मन पर सर्वथा अधिकार कर लेते हैं। निम्न उदाहरण मे देखिए। गोपियां कृष्ण पर नटखटी का आरोप लगाती हैं। कृष्ण सफाई देते हुए कहते है—

मेरी टेव बूझि हलधर सो संतत सग खेलावहि।
जो अन्याउ करे काहू को ते सिसु मोहि न भावहि॥
—कृष्ण गीतावली

हलधर के साथ खेलना ही कृष्ण के सीधे होने का प्रमाण है। क्योंकि हलधर सीधे लडके हैं। यदि कृष्ण अन्यायी और नटखट होते तो वे साथ मे क्यो खिलाते। तुलसी के इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक चित्र भावो का स्फुरण कर देते हैं।

तुलसी की काव्य कला, मर्यादा, सुरुचि और औचित्य की सीमा मे ही पल्लवित हुई है—तुलसी ने कदम-कदम पर मर्यादा का ध्यान रखा है। कृष्ण काव्य मे परकीया प्रेम की प्रधानता होने के कारण मर्यादा का कोई भी बन्धन ही नही है। नायिका डंके की चोट कहती है—

"बावरि जो पै कलंक लग्यो,
तौ निसंक ह्वै काहे न अंक लगावति॥

यहाँ मर्यादा भंग और कुरुचि की पराकाष्ठा हो गई है। गोस्वामी जी प्रेम-वर्णन मे इसी सीमा तक पहुँच जाते हैं: किन्तु वहाँ भी वे मर्यादा के भीतर ही रहते हैं। वन-मार्ग की ग्राम वधुयें प्रेम-दशा मे कृष्ण की प्रेमिकाओ से कम नही है, परन्तु वहाँ कुरुचि है तो यहाँ सुरुचि और प्रेम की पावनता है। ग्राम बालायें 'निसंक ह्वै अंक लगाने' की बात न कहकर उनके प्रेम मे विभोर हो जाती है और हृदय मे ही राम-दर्शन करने लगती हैं। स्त्रियो का यह कथन कि "सादर बारहिंबार सुभाइ चितै तुम त्यो हमरो मन मोहै" मे मर्यादा की पूर्ण रक्षा है। राम सीता की ओर प्रेम दृष्टि से देखते है और

उनका यह देखना ग्राम-बालाओं को मोहित करना है। वे पीछे लगकर गोपियों की तरह न तो स्वयं ही बदनाम होती हैं और न कन्हैया को ही बदनाम करती हैं। वे तो प्रेम विभोर होकर उनके सात्त्विक प्रेम में डूब जाती हैं—

तुलसी अति प्रेम लगी पलकें,
पुलकी लखि राम हिये महि हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तुलसी के काव्य में भाव और कला का मणि-कांचन संयोग हुआ है। उनका काव्य समाज को परिष्कृत करने वाला सुरुचिपूर्ण काव्य है। उसमें प्रत्येक दृष्टि से समन्वय की विराट चेष्टा है।

प्रश्न ८—रामचरित-मानस के काव्य-सौन्दर्य की परीक्षा कीजिए।

उत्तर—'नाना पुराण' निगमागम सम्मत' रामचरित-मानस हिन्दू-संस्कृति का सारभूत ग्रन्थ है। इसके भीतर भारतीय दृष्टि से जीवन की सम्यक् और सम्पूर्ण व्याख्या है। प्रारम्भ में कवि 'नाम' के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए 'मानस-रूपक' में कथा की विशद प्रस्तावना करता है। कथानक का प्रारम्भ बड़े रोचक ढंग से होता है। आदि से लेकर अन्त तक कोई भी प्रसंग भरती का सा नहीं लगता।

मार्मिक प्रकरण—

गोस्वामी जी को कथानक के मार्मिक स्थलों की पूरी पहिचान थी। ऐसे स्थलों में तुलसी की अनुभूति विशेष रूप रम जाती है। राम-लक्ष्मण का जनकपुर दर्शन, पुष्पवाटिका में राम-सीता का प्रथम मिलन, धनुष-यज्ञ, राम-विवाह, राम-वन-गमन, केवट का प्रसंग, वन-मार्ग में राम, चित्रकूट में राम-भरत का मिलन, सीता-हरण, लक्ष्मण के शक्ति लगना, राम-रावण का युद्ध तथा राम-राज्य का प्रभाव आदि प्रसंगों के विस्तार से मार्मिक वर्णन है। गोस्वामी जी ने इन मार्मिक प्रसंगों का विस्तार से वर्णन किया है। उन्होंने रस हीन प्रसंगों को चलता हुआ कर दिया है। उदाहरणार्थ सीतान्वेषण में तत्पर विरहाकुल राम के विलाप का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी नहीं थकते, किन्तु "आगे चले बहुरि रघुराई। ऋष्यमूक पर्वत नियराई॥" कहकर किष्किंधा से ऋष्यमूक तक की कथा चलती कर देते हैं। इसी प्रकार वे अरुचिकर प्रसंगों की

सूचना मात्र ही दे देते हैं। उन्हे निरर्थक वर्णनो से भी विरक्ति है। संजीवनी का पर्वत लाते हुए हनुमान भरत जी के बाण से घायल हो जाते हैं। परिचय होने पर भरत राम का समाचार पूछते हैं। हनुमान सब कुछ संकेत मे ही कह देते हैं—

कपि सब चरित समास बखाने।

गोस्वामी जी के कथन के निर्वाह के साथ मे जीवन के मार्मिक स्थलो का बडी मार्मिकता से वर्णन किया है।

भाव-प्रवणता और रसात्मकता—

गोस्वामी जी को मार्मिक स्थलो की पूर्ण पहिचान थी। उन्होंने मानसिक दशाओ के सुन्दर चित्र प्रस्तुत कर दिये है। भोजन करते हुए बालक राम की स्वाभाविक बाल-चेष्टा का चित्र निम्न उदाहरण मे उपस्थित हो जाता है—

भोजन करत चपल चित, इत-उत अवसरु पाइ।
भाजि चले किलकत मुख, दधि ओदन लपटाइ॥

लक्ष्मण वन-मार्ग मे गाँव के समीप होकर निकलते हैं। गाँव के नर-नारी मोहित हो जाते हैं। उनका आगमन सुनकर—

सुनि सब बाल, बृद्ध, नर-नारी।
चलहि तुरत गृह-काज बिसारी॥

कुछ—

चितवत चले जाँहि सँग लागे।

और कुछ—

नयनन मग छवि उर आनी।
होंहि शिथिल मय तन, मन बानी॥

गाँव के नर-नारियो की अनुभूति निम्न प्रसंग मे उमड पडती है—

एक देखि वट छाँह भलि, डासि मृदुल तृन पात।
कहहि गँवाइअ छिनुक श्रम, गवनब अबहि कि प्रात॥

एक कलस भरि आनहि पानी। अँचइव नाथ कहहि मृदु बानी॥
सुनि प्रिय बचन प्रीति अति देखी। राम कृपालु सुसील विसेखी॥

जानी स्रमित सीय मन माँही। घरिक बिलम्बु कीन्ह वट छाँही॥
मुदित नारि नर देखहिं शोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥
एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचन्द्र मुख चन्द्र चकोरा॥

+ + + +

राम लषण सिय सुन्दर ताईं। सब चितवहिं चित, मन मति लाईं॥
थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहुँ मृगी मृग देखि दिआसे॥

चित्रकूट की सभा मे भरत के हृदय का अन्तर्द्वन्द्व राम के प्रति अटल प्रेम का वर्णन मनोहारी है। वे सोचते हैं, राम मेरा नाम सुनते ही अन्यत्र न चले जाय। माता का अनुगामी समझ कर वे जो करें थोडा ही है, परन्तु अपनी ओर देखेंगे, तो उदारता से मेरा अपराध क्षमा कर देंगे। मुझे चाहे छोडें, चाहे रखें, मैं तो राम की शरण मे हूँ। राम को स्वभाव का स्मरण आते ही भरत विह्वल हो उठते हैं। उनके पैर लटपटाने लगते है।

रसात्मकता तो तुलसी के रामचरित मानस मे कूट-कूट कर भरी हुई है। सीता-हरण हो जाने पर राम के विलाप मे वियोग शृंगार का हृदयग्राही रूप देखा जा सकता है। लता और तरुओ से सीता का पता पूछते ही राम का वियोग चरम सीमा पर पहुँच जाता है—

हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।
तुम देखी सीता मृग नैनी॥

राम लक्ष्मण से कहते हैं—

देखहु तात वसन्त सुहावा। प्रिया हीन मोहि दुख उपजावा।
विरह विकल बल हीन मोहि, जानेसि निपट अकेल।
सहित विपिन मधुकर खग, मदन कीन्ह बगमेल॥

पुष्प वाटिका के प्रसग मे सयोग शृगार को सुन्दर झाँकी मिल जाती है। हास्यरस नारद-मोह और शिव की बरात मे मिलता है। करुण रस का स्रोत, अयोध्या, चित्रकूट और लक्ष्मण-शक्ति के प्रसग मे फूट पडा है। रौद्र-रस धनुष-यज्ञ के अवसर पर लक्ष्मण के कथन तथा चित्रकूट मे लक्ष्मण के ही कथनो मे मिलता है। भयानक, और वीभत्स, रसो का परिपाक लका कांड मे मिल जाता है। वीर रस का सफल परिपाक खरदूषण, राम-रावण के

युद्ध मे मिलता है। राम की बाल-क्रीडायें वात्सल्य रस से ओत प्रोत है। शान्त-रस तो सारे काव्य मे अन्तर्धारा के रूप मे प्रवाहित हुआ है। निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि 'मानस' मे श्रीराम की व्यापक झाँकी अवसर के अनुकूल रसात्मक सौन्दर्य की वेगवती धारा प्रवाहित कर देती है।

'अलकार-योजना—

रामचरित-मानस मे वर्ण, मात्रा, कार्य, निर्णय और अर्थ की स्पष्टता के लिए अलकारो का प्रयोग हुआ है कोई भी पृष्ठ ऐसा नही मिलेगा, जिसमे दो चार सुन्दर उपमायें न मिल जाये। शब्दालकारो मे पुनरुक्ति प्रकाश, पुनरुक्तिवदाभास, वीप्सा, वक्रोक्ति आदि के सुन्दर उदाहरण 'रामचरित मानस' मे मिल जाते है। अलकारो मे सादृश्य मूलक अलकारो का ही अधिक प्रयोग हुआ है। रूपक-उत्प्रेक्षा और उपमा मे तो तुलसी-कला सर्वथा सिद्धहस्त है। इनमे रूपक अलकार गोस्वामी जी को बहुत अच्छा लगता है। बाल-काण्ड का 'मानस-रूपक' उदाहरण के लिए लिया जा सकता है। सभी स्थलो पर अलकारो का प्रयोग वाक्यो की शोभा बढाने के लिए हुआ है।

छन्द-योजना—

'रामचरित मानस' के प्रत्येक सोपान के आरम्भ तथा तीसरे और सातवें सोपानो के अन्तर्गत सस्कृत मे कुछ श्लोक-वृत्तो का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त समस्त काव्य मे अवधी भाषा के छन्दो का प्रयोग हुआ है। 'मानस' मे चौपाई और दोहा को प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त सोरठा हरिगीतका आदि छन्द भी प्रयुक्त हुए है।

उद्देश्य—

रावण के अत्याचार से मानवता को मुक्त करने के लिए गोस्वामी जी ने राम के शौर्य और पराक्रमपूर्ण कार्यो का विस्तार से वर्णन 'रामचरित मानस' मे किया है। रावण पर राम की विजय हो जाने पर वे लोक कल्याणकारी राज्य का वर्णन करते हैं। राम ने अपने आचरण के द्वारा जो आदर्श लोक के सम्मुख रखा था, वह लोक व्यवहार का अग बन गया। गोस्वामी जी ने अपने 'रामचरित मानस" मे इसी 'राम-राज्य' की आदर्श भावना का चित्र खीचा है।

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'रामचरित मानस' मानव-जीवन का महाकाव्य है। इसके द्वारा गोस्वामी जी ने हमारी आध्यात्मिक और भौतिक समस्याओं को सुलझाने का सफल प्रयास किया है। राम, सीता, भरत, दशरथ, कौशल्या, लक्ष्मण, हनुमान आदि का त्याग, प्रेम, सेवा और कर्तव्य-पूर्ण चरित्र हमारे ईर्ष्या, द्वेष और संघर्ष से जर्जरित समाज के लिए अमृत रूपी सञ्जीवन एवं बलदायिनी औषधि है। तुलसी के राम निर्गुण-निराकार होते हुए भी सगुण-साकार हैं। 'रामचरित-मानस' विभिन्न भावों का भण्डार है। यह चरित्र प्रधान महाकाव्य है। इसके पात्र हमारे पारिवारिक जीवन के साथी ही लगते हैं। संवादों की सजीवता, चरित्र का सूक्ष्म निरीक्षण, वार्ता, [illegible] आदि सभी कुछ मार्मिक और कलात्मक है।

प्रश्न ६—सिद्ध कीजिए कि तुलसी की काव्य-कला में मर्यादा, सुरुचि और औचित्य की अपनी निजी विशेषताएँ हैं।

उत्तर—तुलसी के काव्य में उनके व्यक्तित्व की छाप है। उनके काव्य के प्रत्येक स्थल में निजी सिद्धान्तों और धारणाओं का सन्निवेश मिलता है। वे सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, नैतिक, साहित्यिक आदि सभी पक्षों की ओर जागरूक दिखाई पड़ते हैं।

तुलसी में भाव-प्रकाशन की अद्भुत क्षमता है—

भावाभिव्यक्ति के साथ ही भाषा और शब्दों पर उनका पूर्ण अधिकार है। उनका काव्य शब्द-प्रयोग भाषा-प्रयोग, अलंकार भाव-दर्शन चरित्र-चित्रण के साथ साथ लोक-संग्रह के आदर्शों का वैभव है। तुलसीदास कोरे चमत्कार प्रदर्शन से पृथक ही रहना चाहते थे। वे कहते हैं—

कवि न होऊँ नहिं चतुर प्रवीनू।
सकल कला सब विद्या हीनू॥
कवित विवेक एक नहिं मोरे।
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि तुलसी में काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान नहीं था। उनकी कला कला के लिए न होकर जीवन के लिए थी। उनकी काव्य-

कला का उद्देश्य सुरसरि के समान लोक-मगल की भावना से युक्त था। वे अपने काव्य का आदर्श स्पष्ट करते हुए कहते है—

कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि मम सब कर हित होई।

तुलसी की दृष्टि से वास्तविक काव्य वही है जो प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति का कल्याण कर सके।

तुलसी का जीवन सम्बन्धी सिद्धान्त गीता-मार्ग पर आधारित है—

उन्होने अपने दार्शनिक मतवाद मे राम के सगुण और निर्गुण रूप का समन्वय उपस्थित किया है। इसी प्रकार उन्होने अपनी समन्वय की भावना मे शैव, शाक्तो और वैष्णवो के झगडो को समाप्त किया। उनके शंकर राम के अनन्य भक्त हैं और राम स्पष्ट घोषणा करते है—

सिव द्रोही मम दास कहावा।
सो नर सपनेहु मोहि न भावा॥

लोक-जीवन के व्यावहारिक पक्ष मे गोस्वामी तुलसीदास ने लोक और वेद ा समन्वय किया है।

लसी के काव्य मे कलापक्ष—

तुलसी के काव्य के कलापक्ष मे समन्वय की विराट चेष्टा है। शब्दावली, अलकार, वर्णन और काव्य शैली मे उनकी समन्वयकारी प्रतिभा का सफल प्रयास मिलता है। तुलसी के काव्य मे जहाँ सस्कृत की पदावली मिलती है, वहाँ लोक-प्रचलित ठेठ शब्दावली भी मिलती है। निम्न उदाहरणो मे देखिए—

यस्यगुणगण गणति विमलमति शारदा निगम नारद प्रमुख ब्रह्मचारी।
—सस्कृत पदावली

राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।
नाहित भव बेगारि महँ परिहै छूटत अति कठिनाई रे।
ठाठ पुरान साज सब अटखट सरल त्रिकोन खटोला रे।
हमहिं दिहल करि कुटिल करमचन्द मद मोल बिनु डोला रे।

तुलसी ने अलंकार-योजना में जहाँ परम्परागत उपमानों को ग्रहण किया। वहाँ जीवन के निरीक्षण में प्राप्त नवीन उपमानों को भी ग्रहण किया। उनके काव्य में संस्कृत शैली के साथ ही लोक काव्य-शैली में झूलना, बरवै, सोहर आदि गीतों का भी प्रयोग है। साथ ही शब्द-शक्तियाँ, अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि का शास्त्रीय रूप भी तुलसी के काव्य के कला-पक्ष में पूर्णता को प्राप्त हुआ है। यहाँ हम उनकी काव्य-कला की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालेंगे।

सरलता और स्वाभाविकता—

तुलसी की काव्य कला में कृत्रिमता नाममात्र को भी नहीं है। उसमें स्वाभाविकता और सरलता है। वे अपना आदर्श प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

सरल कवित कीरति विमल,
जेहि आदरहिं सुजान।

तुलसी का काव्य सर्वजन मंगलकारी है। उसका हृदय पर स्थायी प्रभाव पड़ता है। उनका काव्य इतना सरल है कि उसे साधारण से साधारण लोग समझ सकते हैं। तथा विद्वान उसके अतल में थाह लेकर रत्न-राशि प्राप्त कर सकते है। तुलसी की काव्य कला में दुरूहता और क्लिष्टता नाम मात्र को भी नहीं मिलती। उनका लोक व्यापी अवधी और व्रज-भाषा का माध्यम भावों को सरलता से अभिव्यक्त कर देता है। तुलसी के काव्य की कविता इतनी सरल और स्वाभाविक है कि वह गद्य में भी अधिक सुलझी हुई जान पड़ती है। श्रीकृष्ण गीतावली के निम्न उदाहरण में देखिए—

अबहिं उरहनो दै गई बहुरो फिरि आई।
सुनु मैया तेरी सो याकी टेव लरन की सकुच बेंचि सो खाई।
या ब्रज में लरिका घने हौं ही अन्यायी।

तुलसीदास ने हमारे लोक-जीवन के देखे सुने पदार्थों और व्यापारों से उपमानों रूपकों और प्रतीकों को चुना है। इस अप्रस्तुत-विधान को लोक-जीवन से चयन करने के कारण उनके काव्य में सरलता और स्वाभाविकता और अधिक आ गई है। निम्न उदाहरणों में देखिए—

नगर व्यापि गई बात सुतीछी ।
छुवत चढी जनु सब तन बीछी ।
× × ×
पीपर पात सरिस मन डोला ।
× × ×
सो मो पं कहि जात न कैसे ।
साग वनिक मनि गुन गन जैसे ।।

इतिहासकार स्मिथ ने तुलसीदास और कालिदास की उपमाओ का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए लिखा है कि अपनी सर्वोत्तम उपमाओ मे तुलसीदास कालिदास से श्रेष्ठ है—

"Tulsi Dass, although not averse to using the Conventional language of Indian poets in many passage is rightly praised because his narrative and themes with similes drawn not from the traditions of the Schools, but from nature herself, and better than Kalidas, at his best (V A. Smith, Akbar the Great Mughul, P 422).

प्रभावोत्पादकता—

तुलसी की काव्य-कला की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी प्रभावोत्पादकता है। वे प्रत्येक भाव, पात्र या चरित्र का चित्र सजीव रूप से पाठक के समक्ष उपस्थित कर देते है। उनकी इस प्रभावोत्पादकता शक्ति ने ही उनके काव्य को इतनी लोक प्रियता प्रदान की। उनका शब्द-सगठन और वर्ण-मैत्री दृश्यगत वर्णन को सजीवता प्रदान करती है, निम्न उदाहरण मे देखिए—

कंकन किंकिनि नूपर धुनि सुनि ।
कहत लषन सन राम हृदय गुनि ।।

तुलसी का उक्ति वैचित्र्य उनके कथन को अधिक प्रभावोत्पादकता प्रदान करता है। तुलसी के कथन के अनूठे ढग हृदय पर सीधा प्रभाव डालते है। निम्न उदाहरणो मे देखिए—

हाय मीजिबो हाय रह्यौ।
पति सुरपुर सिय राम लखन बन मुनि व्रत-भरत गह्यौ।
हौं रहिकर ममान पावक ज्यो मरिवोइ मृतक दह्यौ॥

इस युक्ति मे कितना गहरा व्यंग्य है। मृत्यु ही को मृतक बनाकर श्मशान की अग्नि के समान मैंने जला दिया है। अत: अब मेरा मरना सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार—

है निर्गुण सारी वरीक वलि घरी करी हम जोही।
तुलसी ये नागरिन जोग पट जिनहि आजु सब सोही॥

सजीव मनोवैज्ञानिक चित्रण—

गोस्वामी तुलसीदास की सजीव मनोवैज्ञानिक सूझ पाठकों के हृदय को प्रभावित कर देती है। वे एक-भाव के पश्चात् ठीक दूसरे के विपरीत भाव को तत्काल ही ला देते हैं। पाठक एक भाव-भूमिका मे हटकर दूसरे मे निमग्न हो जाता है। पुष्पवाटिका मे शृंगार के पश्चात् ही वीर, रौद्र, हास्य आदि के प्रसग आ जाते है। तुलसी की काव्य-कला की यह सबसे बडी विशेषता है, जिसमें कि वे एक क्षण जहाँ पाठक को हँसा देते हैं वहाँ दूसरे ही क्षण उसे रुला देते हैं। उनकी विलक्षण मनोवैज्ञानिक सूझ से भावुक जहाँ एक क्षण में आवेश मे आते हैं, वहाँ दूसरे क्षण शान्त हो जाते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास विभिन्न अवस्थाओं मे पडे हुए मानव-हृदय का चित्रण बडी सरलता और स्वाभाविकता मे कर देते हैं। बाल-मनोविज्ञान का चित्र निम्न प्रसग मे द्रष्टव्य है—

मेरी टेव बूझि हलधर सो सतत संग खिलावहि।
जे अन्याउ करें काहू को ते सिसु मोहि न भावहि॥

कृष्ण गोपियों के लगाये हुए अभियोग की सफाई कितनी चतुरता से देते हैं। हलधर सदैव उनके साथ खेलते हैं। यह उनके सीधेपन का सबसे बडा प्रमाण है। वे ग्वालिनी के अपेक्षा उनके सम्बन्ध मे अधिक जानते हैं। कृष्ण की सफाई उनके वास्तविक रूप को स्पष्ट कर देती है।

तुलसी की काव्य-कला मर्यादापूर्ण सुरुचि तथा औचित्य से परिपूर्ण है—

कोई भी बात कहते हुए या प्रसंग उपस्थित करते हुए तुलसी को मार्यादा का पूर्ण ध्यान रहता है। तुलसी के समान औचित्य का ध्यान शायद ही किसी कवि को रहता हो। तुलमी का प्रेम-वर्णन अत्यन्त मर्यादित और सुरुचि सम्पन्न है। वे पुष्प-वाटिका मे सीता राम को मिलाते है, किन्तु एकान्त मे नही। सीता के साथ जहाँ सखियाँ है, वहाँ राम के साथ मे उनके छोटे भाई लक्ष्मण हैं। राम कहते है—

तात जनक तनया यह सोई। धनुष यज्ञ जेहि कारन होई ॥
पूजन गौरि सखी लै आई। करत प्रकाश फिरति फुलवाई ॥
जासु विलोकि अलौकिक शोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा ॥

राम के मन मे क्षोभ अवश्य होता है, किन्तु उसमे पावनता है। साथ मे "प्रीति पुरातन" की बात भी है। तभी तो लघु भ्राता से कहते है—

रघुवंसिन कर सहज सुभाऊ।
मन कुपंथ पग धरहि न काऊ ॥
मो सब कारण जानु विधाता।
फरकहि सुभग अग सुनु भ्राता ॥

और वह समस्त प्रसग गुरु से जाकर कह देते हैं—

राम कहा सब कौसिक पाही।
सरल सुभाइ छुआ छल नाही ॥

वन मार्ग मे इसी प्रकार का सुरुचि पूर्ण प्रसग है। ग्राम बालाये राम के शील, सौन्दर्य से प्रभावित होती हैं, किन्तु सूर की गोपियो की तरह "चितै हम त्यौं हमारौ मन मोहे" नही कहती, किन्तु कहती है—'चितै तुम त्यो हमारो, मन मोहे' की मर्यादा पूर्ण बात कहती है। ग्राम बालाओ की प्रेम मे पलकें लग जाती हैं। वे राम के दर्शन हृदय मे करने लगती है, किन्तु यह कभी नही कहती कि—"बावरी जो पै कलक लग्यो तो पै क्यो निरशक न अक लगावति"। इस प्रसग मे कुछ अनुभूति पूर्ण उदाहरण लीजिए—

जिन देखे सखी सतिभायहु ते,
तुलसी तिन तौ मन फेरि न पाये।

× × ×

मुनि सुन्दरि वानि सुधारस सानि,
नयानी हैं जानकि जानी भली।
तिरछे करि नैन दै सैन तीन्हें,
समुझाइ कछु मुसुकाइ चली॥
तुलसी तेहि औसर सोहैं, सबै,
अवलोकति लोचन लाहु अली॥
अनुराग तड़ाग में भानु उदय,
बिकसी जनु मंजुल कंज कली॥

× ×

धरि धीर कहैं चलि देखिय जाइ,
जहाँ सजनी रजनी रहिहैं।
कहिहैं जग-पोच न सोच कछू,
फल लोचन आपन तौ लहिहैं?
तुलसी अति प्रेम लगी पलकैं,
लखि मूरति राम हिये महिहैं॥

यहाँ प्रेम पराकाष्ठा को पहुँच गया है, किन्तु कहीं भी मर्यादा भंग नहीं होने पाई है। तुलसी का वियोग-वर्णन भी औचित्य पूर्ण और मर्यादित है। वह निठल्लेपन में बैठकर छाती पीट कर हाय-हाय करने वाला नहीं है, अपितु कर्मक्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा देने वाला है। राम—

हे खग, मृग, हे मधुकर स्रेनी।
तुम देखी सीता मृग नैनी॥

कहते हुए विरह-विह्वल अवश्य होते हैं, किन्तु वानर-सैन्य का संगठन कर लंका पर चढ़ाई करने के आयोजन में तत्काल ही तत्पर हो जाते हैं।

तुलसी की काव्य-कला उदात्त भावों से पूर्ण है—

वह मानव के हृदय का परिष्कार करती हुई जीवन-संग्राम में आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करती है। अपनी प्रतिभा से तुलसी ने राम और सीता के व्यक्तित्व में चरम-सौन्दर्य, चरम शील और चरम शक्ति का समावेश कर दिया है। तुलसी की महान प्रतिभा से राम-सीता को विश्व नायक और विश्व-

नायिका मे सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। राम के साथ ही रावण, हनुमान आदि के चरित्र मे भी गोस्वामीजी ने चरमोत्कर्ष उपस्थित किया है। रावण के परम घोर चरित्र को जिस उदात्तता से गोस्वामीजी ने चित्रित किया है, वह सराहनीय है।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि तुलसी की काव्य-कला मानव के लिए महान प्रेरणा देने वाली है। तुलसी के निम्न कथन मे देखिए; इसमे हमे दानी बनने की, तथा उदारता की और याचक के संयम को एक साथ प्रेरणा मिलती है—

तुलसी चातक माँगनो, एक-एक घन दानि।
देत जो भू भाजन भरत, लेत जो घूँटक पानि॥

प्रश्न १०—तुलसी के दार्शनिक विचारो की सम्यक् विवेचना कीजिए।

उत्तर—तुलसी के दार्शनिक सिद्धान्तो मे समन्वय की महान् चेष्टा है—उन्होंने अपने समन्वित सिद्धान्तो से शैव और वैष्णवो के विरोध का शमन किया। उन्होंने शंकर को सबसे बडा राम भक्त बतलाया। 'रामचरित-मानस' के सर्व प्रथम रचयिता शकर जी ही हैं—

रचि महेश निज मानस राखा।
पाइ सुसमय सिवा सन भाखा॥

तुलसी को भी शकर जी ने ही 'मानस' लिखने की प्रेरणा दी—

शमु प्रसाद सुमति हिय हुलसी।
रामचरित मानस कवि तुलसी॥

तुलसी ने जहाँ शकर को राम-भक्त कहा, वहाँ राम ने भी शकर की पूजा कराई— "पूजि पर्थिवनायो माथा"

इसी प्रकार वे सीता से गिरिजा की पूजा करा-कर भक्तो के विरोध का शमन करते हैं। तुलसी की धर्म-भावना बहुत उदार है। वे समस्त जगत को सिया राम मानकर प्रणाम करते है—

सिया राम मय सब जग जानी।
करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी॥

गोस्वामी तुलसीदास विशिष्टाद्वैतवादी थे—तुलसी ने अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, सगुण-निर्गुण तथा अवतारवाद की समस्या को सुलझाकर समन्वित मतवाद की स्थापना की। अद्वैतवाद संसार को असत्य और केवल ब्रह्म को सत्य मानता है। अद्वैतवाद की धारणायें 'अहम् ब्रह्मास्मि' तथा 'ब्रह्म सत्यम् जगन्मिथ्या' की हैं। अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त द्वैत-भावना के रूप में जो कुछ भी दिखाई देता है, वह भ्रम है। अद्वैतवाद का ब्रह्म, जीव और माया का अभेद युक्ति-संगत नहीं जंचता। अतः रामानुजाचार्य ने ब्रह्म, जीव और माया में भेद करते हुए विशिष्टाद्वैत की स्थापना की। इसके अनुसार जीव ईश्वर का अंश है। ईश्वर विशिष्ट है तथा जीव और प्रकृति उसके विशेषण हैं। तुलसीदास ने अपने सिद्धान्त में शंकर और रामानुजाचार्य दोनों के मतों का समन्वय किया। ईश्वर, जीव और प्रकृति की एकता तथा माया के प्रभाव का वर्णन ये शंकर के अद्वैतवाद के अनुरूप करते हैं। राम के रूप में माया का वर्णन करते हुए ये मानस के आरम्भ में कहते हैं—

> यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा।
> यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
> यत्पादप्लवमेकमेवहि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।
> वन्देऽहम् तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।

यहाँ भी तुलसी पूर्ण रूप से अद्वैती नहीं रहे हैं। वे कहते हैं कि 'माया जिसके वश में है'—इस कथन से ईश्वर और माया दो का अस्तित्व हो गया। तीसरा जीव है, जिसका कि माया पर प्रभाव पड़ता है और वह संसार-सागर से पार जाना चाहता है।

गोस्वामी जी ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, अजन्मा निर्विकार सर्वान्तर्यामी अनादि, सत्-चित् आनन्दमय मानते हैं। उनके मत से जीव ब्रह्म का अंश है, किन्तु वह माया के वश में है और ईश्वर माया से परे है। गोस्वामी जी ईश्वर और जीव का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

> ईश्वर अंश जीव अविनासी।
> चेतन अमल सहज सुखरासी।
> सो मायावस पर्‌यो गोसाईं।
> बँध्यो कीट मरकट की नाईं॥

× × ×

माया वस्य जीव अभिमानी।
ईस वस्य माया गुण खानी॥
परबस जीव स्ववस भगवन्ता।
जीव अनेक एक श्री कन्ता॥

अत. स्पष्ट है कि तत्वतः एक मानते हुए भी तुलसीदास ब्रह्म और जीव मे भेद करके चलते हैं।

माया—माया का वर्णन तुलसीदास ने विद्या माया और अविद्या माया दो रूपो मे किया है। दोनो प्रकार की माया द्वैत बुद्धि की ओर ले जाती है। विद्या माया से दृष्टि का विस्तार और विकास होता। सीता का रूप विद्या-माया का है। गोस्वामी तुलसीदास कहते हे—

श्रुति सेतु पालक राम तुम,
जगदीश माया जानकी।
जो सृजति, जग पालति हरति,
रुख पाइ कृपा निधान की।

माया प्रभु के सकेत पर उनकी चेरी बनकर रहती है। अविद्या जनित माया दु ख, उन्माद और मोह को जन्म देती है। रावण पर अविद्या माया का प्रभाव था, जिसने उसे दुराचार की ओर प्रेरित किया। तुलसी की दृष्टि से माया शिव और ब्रह्मा को भी प्रभावित करती है। जीव इसी माया के वशीभूत होकर ईश्वर को भूला रहता है—

सिव विरचि कहँ मोहहि को है बपुरा आन।
अस जिय जानि भजहि, मुनि मायापति भगवान॥

माया मायापति भगवान के भजन मे ही दूर हो सकती है।

ब्रह्म सगुण है अथवा निर्गुण—इस सम्बन्ध मे भी गोस्वामी तुलसीदास अपना समन्वित मत प्रकट करते हैं—

हिय निरगुण नयनन्हि सगुण
रसना राम सुनाम॥
मनौ पुरट सम्पुट लसत,
तुलसी ललित ललाम॥

अतः ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी। वह तीनों गुणों से परे होते हुए भी गुणों वाला है। गोस्वामी जी निर्गुण और सगुण में भेद नहीं करते—

अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा।
गावहिं बुधि, पुराण मुनि वेदा॥
अगुन अरूप अलख अज जोई।
भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

अवतार—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि निर्गुण और सगुण वस्तुतः एक ही हैं। निराकार ब्रह्म जब रूप धारण करता है, तब वह सगुण होकर अवतार लेता है। तुलसी के मत में राम निर्गुण और सर्व शक्तिमान है। वह भक्तों के लिए अवतार भी लेता है—

व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुण नाम न रूप।
भगत हेतु नाना विधि, करत चरित्र अनूप॥

× ×

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन, विगत विनोद।
सो अज प्रेम भगति बस, कौशल्या की गोद॥

राम समस्त देवताओं, त्रिदेवों और विष्णु से भी परे हैं। ब्रह्मा, विष्णु महेश तो उनसे शक्ति प्राप्त करते हैं—

हरिहि हरिता, विधिहि विधिता,
शिवहि शिवता जेहि दई।
सो जानकी पति मधुर मूरति,
मोदमय मंगल मयी॥

राम सर्वोच्च हैं और सीता उनकी महाशक्ति है। राम सदैव सत्य हैं और उनकी सत्यता की व्याप्ति से हरिमाया भी सत्य लगती है—

जासु सत्यता ते जड माया।
भास सत्य इव मोह सहाया।

तुलसी के राम सर्व व्यापी हैं—गोस्वामी तुलसीदास ईश्वर के निवास के रूप में वैकुंठ की कल्पना नहीं करते। वे राम को किसी विशेष लोक में प्रतिष्ठित न करके सर्वान्तयामी मानते हैं। रावण के अत्याचारों से पीड़ित होकर

जब देवता, ब्रह्मा, पृथ्वी आदि मिलकर ईश्वर की प्रार्थना करते हैं, और कहते हैं कि ईश्वर की प्राप्ति कहाँ होगी ? तब शंकर जी सर्वान्तर्यामी भगवान का महत्व प्रकट करते हुये कहते हैं कि वे प्रेम से सभी स्थान पर प्रकट हो सकते हैं—

बैठे सुर सब करहिं विचारा। कहँ पाइय प्रभु करिअ पुकारा।
पुर वैकुण्ठ जान कह कोई। कोउ कह क्षीर-सिन्धु बस सोई॥
तेहि अवसर गिरिजा मैं रहऊँ। अवसर पाइ वचन एक कहऊँ॥
हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना॥
देस-काल दिसि बिदिसहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥
अग-जग मय सब रहित विरागी। प्रेम ते प्रभु प्रकटइ जिमि आगी॥

ज्ञान और भक्ति—तुलसीदास ज्ञान को बहुत उत्तम मानते हैं, परन्तु ज्ञान की प्राप्ति सरल नहीं है। यदि ज्ञान का दीप प्राप्त भी कर लिया जाय तो उसकी ज्योति को जगाये रखने के लिए बड़ी सतर्कता की आवश्यकता है। वे कहते हैं—

कहत कठिन समुझत कठिन,
साधन कठिन विवेक।
होइ घुनाच्छर न्याय जो,
पुनि प्रत्यूह अनेक॥

इस प्रकार का ज्ञान सर्व-साधारण के लिए सुलभ नहीं है। राजमार्ग की तरह भक्ति-पथ ही सर्व-साधारण के लिए कल्याणकारी है। तुलसी के लिए राम भजन राज-मार्ग के समान है—

"गुरु कह्यो राम-भजन, मोहि नीको लगत राज-डगरो सो"

गोस्वामीजी ईश्वर और जीव के बीच में दास और स्वामी के सिद्धान्त के लिए सेवक-सेव्य भाव की भक्ति को प्रधानता देते हैं—

सेवक सेव्य भाव बिनु,
भव न तरिय उरगारि॥

गोस्वामी तुलसीदास कर्म, उपासना और ज्ञान को ईश्वर राम की भक्ति के निमित्त ही मानते थे—

कर्म उपासन और ज्ञान मत सो सब भाँति खरो।
सोने मावन के श्रंघरेहि सब सूझत हरो-हरो ॥

निष्कर्ष—उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गोस्वामी तुलसीदास के दार्शनिक सिद्धान्तों में समन्वय की विराट चेष्टा है। कुछ लोग उन्हें अद्वैतवादी और कुछ विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं, परन्तु तुलसी दोनों को मानते हुए पूर्ण रूप से किसी से भी सहमत नहीं हैं। तत्व-ज्ञान की दृष्टि से वे अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं, परन्तु साथ ही वे जीव को ईश्वर का अंश मानकर ब्रह्म और जीव में भेद करते हैं। वे ज्ञान को उत्तम मानते हुए भी मनुष्य के लिये भक्ति आवश्यक समझते हैं। भक्ति-प्राप्त करने में वे प्रयत्न के साथ में ईश्वर की कृपा को भी प्रमुख मानते हैं। उनका यह ईश्वरानुग्रह का भाव वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैतवाद के पुष्टि-मार्ग से साम्य रखता है। अन्त में गोस्वामी जी समस्त भ्रमों को त्याग कर अपने को पहचानने को कहते—

कोऊ कह सत्य झूठ कह कोऊ युगुल प्रबल कोउ मानै।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम सो आतम पहिचानै ॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गोस्वामी तुलसीदास ने विभिन्न सिद्धान्तों की विरोधी बातों को छोड़कर सामान्य विचारधाराओं को लेकर अपना मत विकसित किया, जिसका नाम भक्ति है।

प्रश्न ११—'तुलसी काव्य समाज को एक महान देन है'—इस कथन की युक्तिपूर्ण समीक्षा कीजिये।

उत्तर—तुलसी का काव्य सामाजिक है—उनके काव्य में समाज की रीति नीति, संस्कृति, सामाजिकता तथा राजनैतिकता का स्पष्ट रूप अंकित हुआ है। गोस्वामी जी की राम-राज्य की कल्पना व्यावहारिक है। इसमें राम ही का राजा होना आवश्यक नहीं है, अपितु प्रत्येक राजा इस आदर्श को पूरा कर सकता है। रामचरित मानस-सन्देश देता है कि राजा प्रजा का पालन उसको अपना पुत्र समझ कर करे और प्रजा को अपना परिवारी समझे। राजा राज्य का लोलुप न होकर भरत की तरह उसे प्रजा की सौंपी हुई थाती समझे।

तुलसी का काव्य समाज को दासता से मुक्ति का सन्देश देता है—तुलसी का काव्य संसार के प्रति निर्लिप्त रहने और निर्वेद की भावना जागकर हमारी आर्थिक दशा से मुक्ति प्रदान करता है। तुलसी का यह महान् सन्देश है कि मनुष्य समाज की उन्नति के लिए अपने व्यक्तिगत एव पारिवारिक सुख का बलिदान कर दे। राम प्रजा-अनुरजत के लिए सीता तक का त्याग कर देते हैं। तुलसी का कथन है कि मनुष्य "सुत-वित, लोक-ईषणा' का परित्याग करके ही समाज का हित कर सकता है। इसी भावना की प्रधानता होने के कारण हमारे गाधीजी समाज के इतने हित-कारक हो सके। आर्थिक प्रलोभन, पारिवारिक पक्षपात का भाव तथा अपने यश के विस्तार का प्रलोभन दूर होने पर ही ससार मे चलती हुई स्पर्द्धापूर्ण आर्थिक दौड समाप्त हो सकेगी। ऐसी स्थिति मे निर्धन व्यक्ति भी हीनता का अनुभव न करेगा। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास का आर्थिक दृष्टिकोण हमे आर्थिक दासता मे मुक्ति प्रदान करता है।

मानसिक-दासता से मुक्ति—तुलसी का काव्य मनुष्य को मानसिक दासता के भी मुक्ति प्रदान करता है। भगवान बुद्ध ज्ञान और कर्मकाण्ड सम्बन्धित रूढियो का खडन एक बार कर चुके थे, किन्तु वे नए रूप मे उत्पन्न हो गयी थी। ज्ञानी जहाँ अपने ज्ञान के अह मे ज्ञान-हीन मनुष्यो को पशु से भी बढकर मानता था वहाँ कर्मकाण्डी दूसरो को अपने से नीच समझता था।

गोस्वामी तुलसीदास ने रूढियो की दीवारो को गिराकर ज्ञानी, अज्ञानी तथा धनी और निर्धन सभी को भक्ति का मार्ग सुलभ बनाया था। इस भक्ति-भावना मे व्याध, गणिका, जवन, वानर, भालु निशिचर आदि सबके लिए प्रवेश का अधिकार था।

रूढियो के खडन मे तुलसी के काव्य मे कबीर के समान उग्रता नहीं मिलती। वह तो असामयिक रूढियो को हटाकर भेद-भाव को दूर कर मानसिक दासता को हटाने मे सहायक है। तुलसी की वर्णाश्रम-व्यवस्था समाज की नीव को दृढता प्रदान करने वाली है।

तुलसी के काव्य मे जीवन की पूर्ण कल्पना है—तुलसी की काव्य जैसी जीवन की पूर्ण कल्पना कालिदास, भवभूति, सूर और कबीर के काव्य मे नही

मिलती। गोस्वामी जी अपने काव्य में राम का सर्वांग जीवन लेकर हमारे सामने उपस्थित होते हैं। उनके राम हमारे जीवन की सुख दुःख की प्रत्येक परिस्थिति में पग से पग मिलाकर चलते हुए दिखाई पड़ते हैं। राम-चरित्र की प्रत्येक घटना के बीच में हम अपने को खड़ा पाते हैं। राम की बाल-लीला में भाग लेकर जहाँ हमारा हृदय आह्लाद से भर जाता है, वहां पुष्प-वाटिका में राम-सीता के पावन-प्रेम की झाँकी पाकर गद्-गद् हो उठता है। राम-विवाह तथा राज्याभिषेक के उत्सव पर हम फूले नहीं समाते। राम को वनवास होते देखकर हम भी अयोध्या वासियों के साथ में करुण-क्रन्दन कर उठते हैं। कठिन-वन-पर्वतों में सुकुमारी वधू को साथ लिये वीर भोग्या वसुन्धरा की कहावत को चरितार्थ करते देखकर राम से हम जीवन-संग्राम में कठिनाइयों का सामना करने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। लक्ष्मण को शक्ति लगने के अवसर पर राम के विलाप को सुनकर हम भी विलखने लगते हैं। तुलसी के राम-काव्य में हमें स्थान-स्थान पर माता-पिता, गुरु, बन्धु, सास, बहू, स्वामी सेवक, राजा-प्रजा आदि के पवित्र और आदर्श सम्बन्ध मिलते हैं। इस जीवन के सम्पूर्ण चित्रण के कारण ही तुलसी का काव्य भारतीय समाज का कण्ठहार हो रहा है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि तुलसी का समस्त काव्य मानव-जीवन और समाज के लिए कर्मयोग की गीता है, जो मनुष्य को ऊँचा उठने तथा कर्म-क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा प्रदान करती है। हम उनके काव्य से जीवन के लिए महान् प्रेरणाएं प्राप्त करते हैं। जितने भी पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक तथा राजनैतिक सम्बन्ध हैं, उन सब पर गोस्वामी की आदर्श मान्यताएं उनके काव्य में प्राप्त होती हैं। सामाजिक दृष्टि से तुलसी के काव्य में कोई भेद-भाव नहीं है। गुरु वशिष्ठ निषाद-राज को गले लगाते हैं। राम कोल-किरात और भीलों के साथ परिवार जैसा बर्ताव करते हैं। तुलसी के काव्य में व्यक्ति और समाज के लिए सबसे बड़ा संदेश यह है कि समाज और लोक के लाभ के लिए अपने स्वार्थ का त्यागन कर देना चाहिए यदि अपना कुटुम्बी भी अन्यायी है, तो उसके विरुद्ध खड़ा हो जाना चाहिए। उनके काव्य के पात्र ऐसा ही करते हैं। रावण रामत्व का विरोधी होने के कारण

लोक का विरोधी था, अत विभीपण ने उसको छोड दिया। इसी प्रकार से भरत ने अपनी माता कैकेयी को कटु शब्द कहे। वह भी राम-विरोधी कृत्य करके समाज और लोक की विरोधिनी बन चुकी थी। अतः स्पष्ट है कि तुलसी का समस्त काव्य व्यक्ति और समाज के लिए आचरण की संहिता है।

प्रश्न १३—गोस्वामी तुलसीदास के शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण पर विचार प्रकट कीजिए।

अथवा

प्रश्न १३—"मानव प्रकृति के जितने अधिक रूपो के साथ हम गोस्वामी तुलसीदास के हृदय का रागात्मक सामंजस्य देखते हैं उतना अधिक हिन्दी-भाषा के अन्य-किसी कवि का नहीं।"

उक्त कथन की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—तुलसी के विशाल मानस मे लोक-जीवन के विराट-स्वरूप की महान प्रतिष्टा कर लेने की अद्भुत क्षमता थी। उन्होने प्रत्येक पात्र के शील को सवारा है। प्रत्येक स्थिति की भाव सकुलता को वाणी दी है। और मानव प्रकृति के प्रत्येक पक्ष का उद्घाटन किया है। रस-संचार मे भाव या किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना ही पर्याप्त होती है पर किसी पात्र मे उसे शील-रूप मे प्रतिष्ठित करने के लिए कई अवसरो पर उसकी अभिव्यक्ति दिखानी पडती है। रामचरित मानस के भीतर राम, लक्ष्मण, भरत, दशरथ और रावण ये कई ऐसे पात्र हैं, जिनके स्वभाव और मानसिक प्रकृति की विशेषता गोस्वामीजी ने कई अवसरो पर प्रदर्शित भावो और आचरणो की एकरूपता दिखाकर प्रत्यक्ष की है।

राम का जीवन भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे दिखाया गया है। अनन्त शक्ति के साथ धीरता गम्भीरता और कोमलता राम का प्रधान लक्षण है। यही उनका 'रामत्व' है। लक्ष्मण के चरित्र मे उग्रता और चपलता सर्वत्र ही दिखाई पडती है। भारत का चरित्र सर्वत्र ही लोक-पावन और निर्मल है। भरत के हृदय का विश्लेषण करने पर हम उसमे लोक-भीरुता, स्नेहार्द्रता, भक्ति और धर्म-प्रवणता पाते हैं। महाराज दशरथ सत्य और प्रेम दोनो की एक साथ रक्षा करते है। रामचन्द्र जी भरत को समझाते हुए इस विषय को स्पष्ट करके कहते है—

"राखेउ राउ सत्य मोहि त्यागी।
तनु परिहरेउ प्रेम-पनु लागी॥"

हनुमान के चरित्र में सेवक-सेव्य भाव का पूर्ण स्फुरण दिखाई पडता है। रावण हमारे सामने उन ललकारने वालों में आता है, जिनकी ललकार पर उन्हें आना पड़ा था। आदि से अन्त तक उसके चरित्र की यही रूप-रेखा रहती है। बालकों की प्रकृति का चित्रण परशुराम और लक्ष्मण सम्वाद में सम्यक् रूप से मिलता है।

तुलसी यद्यपि आदर्शवादी थे, परन्तु यथार्थ की भूमि पर खड़े होकर उन्होंने आदर्श को परखने का प्रयास किया है। त्याग, आदर्श, भक्ति, वात्सल्य आदि की उच्चतम भावनाओं के साथ-साथ लोभ-ईर्ष्या, द्वेष, दंभ, पाखंड आदि निम्न भावनाओं का भी इन्होंने निरूपण किया है उनके बालि, सुग्रीव, अंगद, विभीषण आदि सभी पात्र मानवीय प्रकृति का परिचय देते हैं। मानव जीवन की कोई भी परिस्थिति तुलसी से अछूती नहीं रही। वे मानव में सन्तों के साथ असन्तों की भी स्तुति करते हैं। तथा उत्तरकांड में कलियुग का वर्णन करते हुए विभिन्न वर्ग की प्रवृत्तियों का रोचक चित्र प्रस्तुत करते हैं।

तुलसी का अधिकार पूरे मानव-हृदय पर है। रति, शोक, उत्साह, आश्चर्य भय, क्रोध, हास घृणा तथा निर्वेद आदि प्रत्येक हृदय की वृत्ति पर उनका अधिकार है जब कि सूर का केवल रति-वृत्ति पर ही। 'कबहुँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिम्ब निहारि डरैं" में पाठक वात्सल्य भाव का अनुभव करके राम-लक्ष्मण के प्रवास का उत्साहपूर्ण जीवन देखते हैं। फिर आचार्य विषयक रति का स्वरूप देखते हुए वे जनकपुर में जाकर सीता-राम के परम पवित्र दाम्पत्य भाव के दर्शन करते हैं। इसके उपरान्त अयोध्या-त्याग के करुणा दृश्य के भीतर भाग्य की अस्थिरता का कटु स्वरूप सामने आता है। सीता-हरण पर विप्रलम्भ-शृंगार का माधुर्य देखकर पाठक फिर लंका दहन के अद्भुत, भयानक वीभत्स दृश्य का निरीक्षण करते हुए—राम-रावण-युद्ध के रौद्र और युद्ध वीर तक पहुँचता है। शांत-रस का पुट तो बीच-बीच में बराबर मिलता ही है। हास्य-रस का पूर्ण समावेश-'रामचरित-मानस' के भीतर न करके नारद मोह प्रसंग में उन्होंने किया है।

छोटे-छोटे सचारी भावो की स्वतन्त्र व्यजना भी गोस्वामी जी ने जिस मार्मिकता से की है, उसमे उनकी मानवी प्रकृति का सूक्ष्म-निरीक्षण प्रकट होता है। उन्होने ऐसे भावो का चित्रण किया है जिनकी ओर किसी कवि का ध्यान तक नही गया है। कैकेयी को समझाते समय मथरा के मुख से उदासीनता की व्यजना गोस्वामी जी ने बडी मार्मिकता से कराई है। राम के अभिषेक पर दुःख प्रकट करने के कारण जब मथरा को कैकेयी बुरा-भला कहती है, तब उसका कथन देखिए—

"हमहुँ कहब अब ठकुर सोहाती। नाहिं त मौन रहब दिन-राती॥
कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँडि अब होब कि रानी॥

"चपकाहट" के भाव का बडा ही मनोवैज्ञानिक चित्रण गोस्वामीजी ने किया है। "चपकाहट" किसी ऐसी बात पर होती है, जिसकी कुछ धारणा हमारे मन में न रही हो और जो एकाएक हो जाय।

"बाँधे बननिधि ? नीर निधि ? जलधि ? सिन्धु ? वारीस ?
सत्य तोयनिधि ? कपति ? उदधि ? पयोधि नदीस ?"

इस भाव का प्रत्यक्षीकरण स्पष्ट करता है कि गोस्वामी जी सब भावो को अपने अन्त करण मे देखने वाले थे, केवल लक्षण-ग्रन्थो मे देखकर उनका सन्निवेश करने वाले नही। देखिए 'श्रम' की व्यजना किस कोमलता के साथ गोस्वामी जी करते है। सीता राम-लक्ष्मण के साथ पैदल वन की ओर चली है—

"पुर तें निकसी रघुबीर वधू धरि-धीर दए मग मे डग द्वै।
झलकी भरि भालकनी जल की पुट सूखि गये मधुराधर वै॥
फिरि बूझति है "चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै"?
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चली जल च्वै

कुल वधू के 'श्रम' की यह व्यजना कैसी मनोहर है ? यह श्रम स्वतन्त्र है, किसी और भाव का सचारी होकर नही आया है।

गोस्वामी जी को मनुष्य की अन्त' प्रकृति की जितनी परख थी उतनी हिन्दी के और किसी कवि को नही। कैसे अवसर पर मनुष्य के हृदय मे

स्वभावत. कैसे भाव उठते हैं, इनकी वे बहुत सटीक व्यजना करते थे। राम के अयोध्या लौटने पर जब सुग्रीव और विभीषण ने राम और भरत का मिलना देखा होगा तब उनके चित्त मे क्या आया होगा, यह देखिए—

"सघन चोर मग मुदित मन, धनी गही ज्यो फेंट।
त्यो सुग्रीव, विभीषनहि भई, भरत की भेंट।।"

उनके मन मे आया कि एक —भाई भरत है और एक हम लोग है, जिन्होंने अपने भाईयो के साथ ऐसा व्यवहार किया।

प्रश्न १५—रामकाव्य का विकास दिखाकर उसमे 'रामचरित-मानस' का स्थान निश्चित कीजिए।

राम-काव्य मे रामचरित मानस—गोस्वामी तुलसीदास ने अपने पूर्ववर्ती राम चरित साहित्य से सार तत्व को ग्रहण कर मानस की रचना की। किन्तु तुलसी ने 'मानस मे राम के विभिन्न गुणो—शक्ति शील और सौन्दर्य आदि का जो व्यक्तित्व उपस्थित किया, वह पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्यो मे नहीं मिलता। भागवत कार ने कृष्ण के चरित्र के जो महत्व और लोक-प्रियता प्रदान की, वहा गोस्वामी तुलसीदास न राम के चरित्र को प्रदान की।

वैदिक साहित्य मे राम का उल्लेख—

वेदो मे राम का उल्लेख अवश्य है, किन्तु वे दशरथ पुत्र के रूप मे नहीं आते। ऋगवेद मे राम का नाम असुर राजाओ के प्रसग मे आया है। निम्न ऋचा मे देखिए—

प्र तद्द शी मे पृथवाने वेने प्र—
रामे वोचमसुरे मघवत्सु।
ये युक्त्वाय पञ्च शतास्त्रयु—
पथा विश्राव्याम्॥

यहाँ राम यजमान के रूप मे है। कुछ प्रसंगो मे ब्राह्मण के नाम-रूप मे भी आये है। वैदिक-साहित्य मे सीता शब्द का प्रयोग हल से बनी हुई लकीर (कूँड) के लिए हुआ है। सीता का प्रयोग सूत्री-पत्नी के रूप मे भी हुआ था। दशरथ का नाम वैदिक में एक योद्धा के रूप मे आया है और जनक का उल्लेख एक विद्वान राजा के रूप मे मिलता जा। यह निश्चय रूपसे कहा जा सकता है कि राम, सीता, दशरथ, जनक आदि पात्रों का सम्बन्ध 'मानस' के पात्रो से नही है। राम का चरित्र वैदिक ऋषियो को अज्ञात ही था।

वाल्मीकि रामायण—

'वाल्मीकि रामायण' रामचरित पर सर्व प्रथम महत्व पूर्ण काव्य है। इसका समय कुछ लोग ई० पू० ६०० से ४०० तक और कुछ ३०० वर्ष ई० पू० मानते हैं। कुछ लोगो का विचार है कि राम-कथा की परम्परा मौखिक थी। इसी मे उसका विकास होता चला गया। वाल्मीकि रामायण मे इसका सकेत निम्न प्रकार है—

इक्ष्वाकूणा इदं तेषां राज्ञातेरो महात्यनान्
महदुत्पन्न या ख्याल रामायणमिति श्रुतम् ॥

इस प्रकार सबसे पहले प्रचलित रामायण आख्यान को एक कथा-सूत्र मे बांधकर रामायण की रचना की अश्वघोष ने लिखा है कि राम का चरित सबसे पहले च्यवन ऋषि ने किया। इसे ही वाल्मीकि जी ने काव्य-सौन्दर्य से युक्त किया। वाल्मीकि की मूलकथा अयोध्याकाड से लेकर युद्ध कांड तक मानी जाती है। *बालकाड और उत्तरकांड बाद मे लिखे गए। वाल्मीकि की लिखी हुई कथा* का प्रचार कुश और लव समस्त देश मे किया। वाल्मीकि रामायण मे विष्णु का राम से कोई सम्बन्ध नही है। वे सदाचारी, पराक्रमी, सुन्दर, सद्गुण सम्पन्न राजा के रूप मे हमारे सामने आए हैं।

महाभारत मे रामकथा का संकेत—

'महाभारत' के कई प्रसगो मे राम-कथा के सकेत आये है। युधिष्ठिर को सात्वना देने के लिए मार्कण्डेय ऋषि ने रामोख्यान सुनाया। इस रामोख्यान का आधार वाल्मीकि रामायण ही है। इसके अतिरिक्त द्रोण, शान्ति, और सभा पर्व मे भी रामचरित का वर्णन आया है।

बौद्ध-ग्रंथ जातक मे राम कथा का प्रसग—

'जातक' मे राम कथा के कुछ प्रसग है। आन्तर नेवर रामकथा का मूल बौद्ध जातको मे सुरक्षित मानते हैं, 'दशरथ जातक' मे सीता-हरण और राक्षसो के साथ राम के सघर्ष का वर्णन हुआ है। इसके अनुसार दशरथ वाराणसी के राजा थे। सीता को राम की बहिन कहा गया गया है, पिता की आज्ञा से राम लक्ष्मण और सीता-सहित बारह वर्ष के लिए वन चले गये। नौ वर्ष के उपरान्त दशरथ की मृत्यु हो गयी। इसी समय भरत उनको लौटान

गये, किन्तु अवधि से पहले वे लौटने को तैयार न हुए। बारह वर्ष के बाद राम लौटकर आये। और अपनी बहिन सीता देवी से विवाह कर सोलह सहस्र वर्ष तक राज्य करते रहे। 'अनामक जातक' में राम की पूरी कथा मिलती है, किन्तु उसमें राम-सीता आदि के नाम न होकर राजा-रानी के रूप में कथा कही गई है।

जैन ग्रन्थों में राम कथा का रूप—

जैन ग्रन्थों में राम-कथा का अपना निजी रूप मिलता है। इनमें राम-लक्ष्मण और रावण जैन-धर्मानुयायी महापुरुषों के रूप में हैं। विमल सूर कृति 'पउम चरिउ,' 'पम्प रामायण', और गुणभद्र कृत 'उत्तर पुराण' आदि में भी राम-कथा का उल्लेख मिलता है इन प्रसंगों में सीता को रावण और मन्दोदरी की सन्तान बताया गया है। अनिष्ट के भय से रावण ने सीता को एक मंजूषा में बन्द रखवाकर मिथिला में गड़वा दिया। जो हल जोतते समय जनक को मिली। रावण ने सीता के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर रावण उसे हर ले गया। इसके अनुरूप रावण का वध-राम नहीं अपितु लक्ष्मण करते हैं। जैन-कथाओं में भी राम-लक्ष्मण को अयोध्या के राजा दशरथ का पुत्र कहा गया है।

भारत के बाहर भी राम-कथा का रूप—

चीन, तिब्बत, इण्डोनेशिया, स्याम जावा आदि देशों में भी राम-कथा के रूप मिलते हैं। चीन का 'दशरथ कथानम' 'तिब्बत रामायण' 'इण्डोनेशिया का रामायण' काकरतीन, जावा का 'सेरतराम' स्याम का 'रामकिएन' कम्बो-डिया का 'रेआमकेर' तथा वह्मा का 'यामरेत' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

पुराणों में राम-कथा—

पुराणों में राम-कथा के जो प्रसंग आये हैं, उनका आधार वाल्मीकि रामायण ही है। इनके रूप की प्रतिष्ठा अवतार के रूप में है। छटी शताब्दी ई० में राम ब्रह्म के अवतार के रूप में प्रतिष्ठित हो गये, यहीं से राम-काव्य का सम्यक् विकास मानना चाहिए। भागवत् पुराण, योग वाशिष्ठ, आनन्द रामायण आदि में राम के चरित्र का महात्म्य प्रकट हुआ है। 'अध्यात्म-रामायण' में राम को पूर्ण ब्रह्म के रूप में प्रतिबिम्ब किया गया है।

राम-कथा के संस्कृत तथा अन्य भारतीय कलाओ के ग्रंथ—

कालिदास के 'रघुवश', प्रवर सेन के, 'रावण-वध', कुमारदास के 'जानकी-हरण', क्षेमेन्द्र के 'रामायण' 'मजरी', 'दशावतार' चरित, आदि काव्यो तथा संस्कृत भवभूति कृत 'महावीर चरित' और 'उत्तर रामचरित', राजशेखर कृत 'बाल रामायण', जयदेव कृत 'प्रसन्नराघव', हनुमान कृत हनुमन्नाटक आदि नाटको मे राम कथा का वर्णन है। इनम प्राय. वाल्मीकि रामायण का ही आधार लिया गया है।

संस्कृत के अतिरिक्त भारत की अन्य भाषाओ मे भी राम-कथा लिखी गई। 'तामिल रामायण', तेलगु की 'द्विपदा रामायण,' या 'रगनाथ रामायण' मलयाराम की 'इराम चरित', कन्नड की 'तोरावे रामायण' 'वगाल की 'कृत्ति-'वासीय रामायण' तथा रघुनन्दन 'गोस्वामी कृत रामायण' उडिया की 'जगन्मोहन रामायण', 'विचित्र रामायण' आदि मराठी की 'भावार्थ रामायण' तथा 'राम-विजय' गुजराती की 'राम-विवाह' और 'रामबाल चरित' एव 'गीति रामायण' आदि काव्य प्रसिद्ध है। इन समस्त काव्यो के कथानक लोक-परम्परा की राम-कथा या वाल्मीकि रामायण पर आधारित है। इन काव्यो मे राम का रूप 'तुलसी' के 'रामचरित मानस की तरह स्पष्ट और पूर्ण नही है। 'वाल्मीकि रामायण', भागवत्', 'रघुवस, अध्यात्मक रामायण', 'हनुमन्नाटक', 'उत्तर रामचरित' तथा 'रामचरित' 'प्रसन्न राघव' आदि ग्रन्थो मे राम का चरित्र विशेष रूप से निखरा हुआ है। परन्तु राम का वह पूर्ण चरित्र या चित्र सामने नही आता, जो, कि तुलसी के 'राम चरित्र मानस' मे स्पष्ट हुआ है। इसलिए राम-काव्य के भीतर, तुलसी द्वारा 'रामचरित मानस' मे प्रतिष्ठित राम के चरित्र की अपनी विशेषता है। तुलसी ही ने राम को पूर्ण ब्रह्म के रूप मे प्रतिष्ठित किया है। तुलसी ने पूर्ववर्ती तथा तत्कालीन साहित्य से सार-ग्रहण कर रामचरित-मानस के रूप मे राम-चरित्र का सुन्दर महाप्रसाद खडा कर दिया है। अतः पूर्ववर्ती तथा समकालीन कोई भी ग्रन्थ तुलसी के 'रामचरित मानस' की समता मे नही ठहर सकता।

हिन्दी मे राम-काव्य की परम्परा—

हिन्दी मे राम-काव्य की अपनी परम्परा है। तुलसी से पहले भूपति कवि ने स० १३४२ मे 'रामचरित रामायण' की रचना की। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इसका उल्लेख मात्र मे १९७६ की खोज रिपोर्ट मे मिलती है। तुलसी के समकालीन मुनिलाल कवि ने 'राम प्रकाश' की रचना की। यह काव्य रीतिशास्त्र के आधार पर है। तुलसी के समकालीन कवियो मे नाभादास केशवदास और सेनापति उल्लेखनीय हैं। नाभादास ने रामभक्ति के सम्बन्ध मे कुछ सुन्दर पदो की रचना की। केशव जी की 'रामचन्द्रिका' का आधार 'हनुमन्नाटक', और प्रसन्न राघव नाटक हैं। किन्तु 'रामचन्द्रिका' 'रामचरित मानस' की तुलना मे नही ठहरती, सं० १६६७ मे प्राणचन्द्र चौहान ने 'रामायण महानाटक' की रचना की। इसमे संवाद रूप मे राम-चरित्र का वर्णन है। हृदय राम ने स० १६२३ मे 'हनुमन्नाटक' की रचना की। इनके अतिरिक्त राम के चरित्र पर और भी कई छोटे-मोटे काव्य लिखे गये। इन पर कृष्ण काव्य के प्रभाव के कारण शृगार तथा विलास की चेष्टाएँ विशेष रूप मे आ गई। ये ग्रन्थ 'रामचरित-मानस' की तुलना मे कही भी नही ठहर सकते। अठाहरवी शताब्दी के अन्त मे रीवाँ-नरेश महाराज विश्वनाथ सिंह का 'आनन्द-रघुनन्दन' विशेष रूप मे उल्लेखनीय है। गोस्वामी तुलसीदास के पश्चात 'रामचरित-मानस' की तरह अन्य कोई ग्रन्थ ख्याति प्राप्त न कर सका हो।

आधुनिक युग मे रामचरित पर कई ग्रन्थ लिखे गये। इनमे रामचरित उपाध्याय का 'रामचरित चिन्तामणि', हरिऔध का 'वैदेही वनवास', मैथिली शरण गुप्त का 'पंचवटी' और 'साकेत' और बलदेव प्रसाद कृत 'साकेत'-सन्त उल्लेखनीय हैं। इसमे गुप्त जी का साकेत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। 'साकेत' मे राम के चरित्र की आधुनिक परिस्थितियो के अनुरूप व्याख्या दी गई है। इससे राम मे देवत्व के स्थान पर आदर्श मानवत्व अधिक है। इसकी प्रमुख विशेषता उर्मिला के उपेक्षित चरित्र पर प्रकाश डालना है।

तुलसी का रामचरित-मानस—

अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती राम-काव्यो मे 'तुलसी का रामचरित मानस, अपना विशेष स्थान रखता है। इसकी समता में रामचरित-चित्रण,

से सम्बन्धित अन्य काव्य ठहर नहीं सकता। किसी में भी 'रामचरित-मानस' की पूर्णता, व्यापकता और प्रभावात्मक तथा गभीरता नहीं है। अतः राम-काव्य मे 'रामचरित-मानस' का सर्वोपरि स्थान है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानम के निर्माण मे अनेक शास्त्रो तथा समस्त ग्रन्थों का 'रस' ग्रहण किया। विभिन्न शास्त्र, और ग्रन्थो से सार-तत्व ग्रहण कर तुलसी के 'रामचरित-मानम' के रूप मे हिन्दी-जगत को जो कुछ प्रदान किया, उसकी ममता विश्व-साहित्य में नहीं मिल सकती। राम-चरित का इतना व्यापक रूप उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती किसी गन्थ मे नही मिलता। अतः यह निर्विवाद है है कि 'रामचरित' से सम्बन्धित काव्य मे तुलसी के रामचरित-मानम का स्थान सर्वोपरि है।

प्रश्न १६—गोस्वामी तुलसीदास की राम-राज्य की धारणा को स्पष्ट करते हुए सिद्ध कीजिए कि वह गांधी जी के राम-राज्य की धारणा कहाँ तक मेल मे है?

उत्तर—गोस्वामी तुलसीदास ने राम-राज्य मे सम्पूर्ण समृद्धि और एक पुण्य मय पवित्र ममाज की कल्पना की है। राम-राज्य मे होने पर हारती हुई 'सुकृत-सेन' भी विजयी हो गई है—

राम-राज्य भयो काज सकल सुभ,
राजा राम जगत विजयी है।
ममरथ बडो सुजान सुसाहिब,
सुकृत सेन हारत जितयी है।

राम-राज्य समत्व का राज्य था—

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने इस आदर्श को स्पष्ट करते हुए कहा है—

वयरु न करै काहू सन कोई।
राम प्रताप विपमता खोई॥

तुलसी के गम राज्य मे ऊँच नीच का भेद-भाव नहीं था। गांधी जी का भी यही उद्देश्य था। जिम राम राज्य की स्थापना का आज हम प्रयत्न कर रहे हैं और जिसका स्वप्न गाँधी जी ने देखा था, तुलसी के 'मानस' मे राम-राज्य की यही धारणा है। उनकी यह धारणा आदर्श और पूर्ण है,

किन्तु इसको अव्यवहारिक नही कहा जा मकता। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्यो का पालन करे, तो रामराज्य की स्थापना हो सकती है। यही धारणा हमारे गाँधी जी की थी।

तुलसी की धारणा राजतन्त्र पर आधारित है—

इसमे राजा को ईश्वर का अश माना गया है—

साधु मुजान सुशील नृपाला।
ईश प्रेम भव परम कृपाला ।।

राजा को ईश्वर का अश मानना आज की धारणा के सर्वथा विपरीत है। अत आज के युग मे तुलमी का राम-राज्य स्वप्न ही रहेगा। वह यथार्थ का रूप ग्रहण नही कर मकता। राजा को ईश्वर का अश मानने मे तुलसी ने अपने समय की धारणा को व्यक्त किया है। यह आवश्यक नही है कि आज हम उसे उसी रूप मे स्वीकार करते हैं। तुलमी जहाँ राजा को ईश्वर का अश कहते है, वहाँ उनका अभिप्राय प्रजा पालक राजा से होता है। वे निरकुश राजा की भर्त्सना ही करते हैं—

शास्त्र सुचिन्तित पुनि-पुनि देखिय।
नृपति सुसेवक पुनि-पुनि सेइय ॥
राखिय नारि जदपि उर माँही।
नृपति शास्त्र, तरुणी बस नाही ।।

इस कथन से स्पष्ट होता है कि राजा के प्रति तुलसी की अच्छी धारणा नही थी। किन्तु राम के समान माधु, धर्मात्मा और प्रजा पालक राजाओ के प्रति उन्होंने श्रद्धा व्यक्त की है। तुलसी के रामराज्य के आदर्श राजा राम हैं। राम मे वैभव, ऐश्वर्य और राज-पद का मान किंचित भी नही है। उनका शासन प्रेम, मर्यादा निर्वाह और कर्तव्य-पालन पर आधारित है। वे स्वभाव से ही धर्मशील हैं। स्वभाव से ही धर्मशील राजा शासन, सूत्र अपने हाथ में ले सकता है। इस सम्बन्ध मे भरत का निम्न कथा दृष्टव्य है—

कहहुँ साँच सब सुनि पतियाहू।
चहिय धर्म सील नरनाहू ।।

घरम शीलता मे राजा की समता अन्य कौन कर सकता है ? उन्होंने माता-पिता भी राज-पालन के लिए चौदह वर्ष का वनवास महर्ष स्वीकार किया। वे सत्य से कभी नहीं डिगे। उन्होने राक्षसो के अत्याचार से ऋषि-मुनियों को निर्भय करने का प्रण किया। उन्होंने लका को विजय किया, किन्तु उसे साधु प्रकृति और प्रजा पालक विभीषण को सौप दिया। अतः तुलसी की दृष्टि मे राजा वही हो सकता है जो राम के समान त्यागी और साधु चरित्र का हो। राम का स्तवन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है—

प्रसन्नता या न गताऽभिषेकतस्तथा,
न मम्ले वनवास दु.खत ॥
मुखाम्बुज श्री रघुनन्दनस्य मे,
सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गल प्रदा ॥

तुलसीदास ने 'रामचरित मानस' मे स्पष्ट किया है कि जिसके हाथ मे शासन हो वह राम के समान सद्‌गुण सम्पन्न हो। वह बलवान, सुन्दर और शान्त और गम्भीर, उपाएँ शीलवान, और स्नेही हो।

तुलसी ने स्पष्ट किया कि राम जनता मे रमे है। और राज्य जनता की थाती है। राम जब भरत के आग्रह पर भी लौटकर नही आते, तब भरत राज्य को राम और जनता की थाती समझकर उसका प्रवन्ध करने लगते है। वे राम की पादुकाओ से आदेश माँग-माँग कर कार्य करते रहते हैं—

जटा जूट सिर मुनि पट धारी।
महि-जनि कुस साथरी संवारी ॥
असन, वसन वासन व्रत नेमा।
करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा ॥
नित पूजत प्रभु पाँवरी, प्रीति न हृदय समाति।
माँगि-माँगि आयसु करते, राज काज बहुभाँति ॥

शासक का कर्तव्य है कि वह अपने कर्तव्य का पालन करे इसी से राम-राज्य की स्थापना हो सकती है।

जनता का कर्त्तव्य—

प्रजा राजा का अनुसरण करती है। राम के माधुर्य गुणों का अनुसरण करती हुई उनकी समस्त प्रजा दिखाई पड़ती है। प्रजा मे वैर-द्वेष, की भावना नहीं है। समस्त विषमता नष्ट हो गई है—

वरनाश्रम निज-निज धरम,
निरत वेद, पथ लोग।
चलहि सदा पावहि सुखहि,
नहि भय शोक न रोग॥

भारत मे आज विषमता की भावना ने वर्णाश्रम व्यवस्था को दूषित कर दिया है।

राम-राज्य की यह विशेषता है कि उनमें सभी स्त्री और पुरुष गुणी एवं चतुर है। सभी उदार और परोपकारी हैं। सभी गुण-ग्राहक तथा दोष और विकारों को दूर करने मे प्रयत्नशील हैं।

इस प्रकार राम राज्य मे राजा प्रजा-पालक तथा सद्गुण सम्पन्न होना चाहिए। राजा और प्रजा के सम्बन्ध प्रत्येक दृष्टि से मधुर हो।

राम राज्य मे सभी प्रजा सुखी और समृद्धि हो जाती है। तुलसीदास 'रामचरित मानस' मे राम-राज्य की जनता की समृद्धि का वर्णन निम्न प्रकार करते है—

दैहिक, दैविक भौतिक तापा।
राम राज नहि काहूहि व्यापा॥
अलप मृत्यु नहि कवनिउ पीरा।
सब सुन्दर सब विरुज सरीरा॥
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना।
नहि कोउ अबुध न लच्छन हीना॥
राम राज्य कर सुख संपदा।
वरनि न सकै फनीस सारदा॥

गांधी जी का स्वप्न भी इसी प्रकार के रामराज्य की स्थापना का था। इस सर्वांगपूर्ण रामराज्य मे प्रकृति भी सुख-समृद्धि में अपना योग देती है—

फूलहि फरहिं सदा तरु कानन।
रहहिं एक संग गज पंचानन॥
कूजहिं खग-मृग नाना वृन्दा।
अभय चरहिं वन करहिं अनन्दा॥
लता विटप माँगे मधु चूवही।
मन भावतो धेनु पय स्त्रवही॥
विधुमहि पूर मयूखनहिं, रवि तप जेतवइ काज।
माँगे वारिद देहिं जल, रामचन्द्र के राज॥

राम राज्य के प्रताप से अकाल आदि आपदायें नही आती। राम-राज्य मे तो सभी कुछ व्यवस्थित रहता है। इस व्यवस्थित राम राज्य का स्वप्न ही गांधी जी ने देखा था, जिसे साकार करने के लिए हमारा देश आज शीघ्रगामी चरणों मे दिन-प्रतिदिन आगे बढता जा रहा है।

प्रश्न १७—गोस्वामी तुलसीदास अपने समय के सबसे वडे लोकनायक थे। बुद्धदेव के पश्चात भारत के वे ही सबसे वडे लोक-नायक थे"—इस कथन की समीक्षा कीजिए।

अथवा

प्रश्न १८—"अपने समय की विषय-परिस्थितियो मे समन्वय की विराट चेष्टा लेकर ही गोस्वामी तुलसीदास लोकनायक हो सके। इस कथन की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—लोकनायक की परम्परा—

समाज की व्यवस्था नष्ट होने पर, तथा उसके पथ भ्रष्ट होने पर किसी ने किसी महापुरुष—लोकनायक का प्रतिभाव हुआ। जिसने समस्त विरोधो का शासन समाज को पुनः उपस्थिति किया महाभारत के समय मे भारत प्रत्येक क्षेत्र मे अव्यवस्थिति हो गया था। दुर्योधन आदि दुष्ट राजाओ के अन्धविश्वासो और कुरीतियो को विरक्त कर समन्वित 'मध्यम मार्ग' का उपदेश दिया। उनकी लोकनायकता भारत ही नही अपितु अर्द्ध विश्व मे छा गया।

तत्कालीन अव्यवस्थित समाज और तुलसीदास—

हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दो मे लोकनायक वही हो सकता है, जो समन्वय कर सके। कृष्ण, बुद्ध, तुलसी आदि सभी लोकनायक समन्वयकारी थे—

"भगवान कृष्ण और बुद्धदेव समन्वय करने में सफल हो सके थे। तुलसी दास के समय में भी भारतीय समाज में आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार की विश्रृंखलता फैल रही थी। समाज के सामने कोई उच्च, आदर्श नहीं था। उच्च वर्ग विलासी था। निम्न वर्ग की दशा अत्यन्त हीन थी। वे दरिद्र अशिक्षित और रोग-ग्रस्त होने के कारण अत्याचारों के शिकार बन रहे थे। वैरागी हो जाना साधारण बात थी—

नारि मुई घर सम्पति नासी।
मूँड मुँडाइ बने सन्यासी।

एक ओर सन्त नामधारी साधु वेद पुराणकी निन्दा का अपने मत का प्रचार कर रहे थे, दूसरी ओर योगमार्गी अपने चमत्कार से लोगों को भ्रमित एवं आतंकित कर रहे थे, नाना सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हो चुका था और हो रहा था। सन्त महात्माओं के कारण नीच जातियों में आत्म-विश्वास भर गया था, परन्तु वे अशिक्षित और असंस्कृत अपने दुस्सह गर्व के कारण मिथ्या विचार एवं झूठ अहं का प्रचार कर रहे थे।"

सोचनीय राजनीतिक स्थिति—

गोस्वामी तुलसीदास जी के समय में राजनैतिक दशा अत्यन्त सोचनीय थी। अत्याचारी मुसलमान शासक अपनी धर्मान्धता से जनता को मुसलमान बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। हिन्दुओं के लिए रक्षा का कोइ मार्ग नहीं था। कबीर हिन्दू-मुस्लिम एकता के प्रयास कर चुके थे, परन्तु यह विशेष फल-दायक न हुआ। सूफियों की प्रेम-पीर और कृष्ण-भक्त कवियों का मनमोहक और माधुर्य रूप भी जनता के समक्ष कोई शक्तिशाली आदर्श उपस्थित न कर सका। गोस्वामी तुलसीदास ने शील-शक्ति और सौन्दर्य से समन्वित राम का शक्तिशाली आदर्श जनता के सामने उपस्थित किया। तुलसी ने राम के अवतार का उद्देश्य घोषित करते हुए कहा—

जब जब होहि धर्म की हानी।
बाढ़हि असुर महा अभिमानी॥
तब-तब प्रभु धरि मनुज सरीरा॥
हरहिं कृपा निधि सज्जन पीरा॥

असुर मारि थापहिं सुरन, राखहिं निज श्रुति सेतु।
जग विस्तारहिं विमल जस, राम जन्म कर हेतु॥

तुलसी की इस घोषणा ने हिन्दू जनता को मबल प्रदान किया, वे "निसिचर हीन करौं महि" की प्रतिज्ञा भुजा उठाकर करते दिखाई पडते हैं।

तुलसी का साहित्य समन्वय की विराट चेष्टा है—

तुलसी प्रत्येक दृष्टि और प्रत्येक क्षेत्र मे समन्वयकारी थे। वे ब्राह्मण वश में उत्पन्न हुए। उनका बाल्यकाल घोर दरिद्रता मे व्यतीत हुआ। प्रारम्भ मे गृहस्थ-जीवन की निकटतम आसक्ति के वे शिकार हुए। उनका सम्पर्क अशिक्षित व्यक्तियो से लेकर काशी के दिग्गज विद्वानो तक रहा। सस्कृत तथा लोक-भाषा पर उनका समान रूप से अधिकार था।

तुलसी का समस्त काव्य समन्वय की विराट चेष्टा है। उनके काव्य मे भक्ति और ज्ञान का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय, गार्हस्थ और सन्यास का समन्वय, भाषा और सस्कृत का समन्वय, ब्राह्मण और चाण्डाल का समन्वय विराट रूप मे मिलता है। उनका रामचरित मानस अनेकता मे एकता का सुन्दर आदर्श प्रस्तुत करता है। गृह और वन का समन्वय निम्न दोहे में द्रष्टव्य है—

घर कीन्हे घर जात है,
घर छोडे घर जाय।
तुलसी घर वन बिचि ही,
राम प्रेम-पुर छाय॥

तुलसी के समय मे शैव-वैष्णवो और शाक्तो मे घोर विरोध था। वे जहाँ शिव को सबसे बडा राम भक्त कहते हैं, वहाँ राम के मुख से कहलाते हैं—

सिव द्रोही मम दास कहावा।
सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा॥

इसी प्रकार आद्या शक्ति सीता पार्वती की वन्दना—

जय जय गिरिराज किशोरी।
जय महेश मुख चन्द्र चकोरी॥
जय गज वदन, षडानन माता।
जगत जननि दामिनि दुति दाता॥

कहकर करती दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार तुलसीदास 'विनय-पत्रिका' में अद्वैत, विशिष्टा द्वैत, द्वैत आदि विभिन्न वादो मे समन्वय उपस्थित करते हुए कहते हैं—

कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ,
उभय प्रबल कोऊ मानै।
तुलसीदास परि हरि तीनो भ्रम,
सो आपुन पहिचानै॥

इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने जहाँ शैव, वैष्णव और शाक्तो मे समन्वय किया, वहाँ ज्ञान कर्म और भक्ति में भी अनुपम समन्वय किया।

धार्मिक आडम्बरो का विरोध—

गोस्वामी तुलसीदास ने भी कबीर के समान बाह्याडाम्बरो का विरोध कर समाज में एकता और ममत्व की भावना स्थापित करने का प्रयास किया। किन्तु कबीर को तरह उन्होने कटु खडन-मडन नही किया। वे मर्यादावादी थे। वेद, पुराण, शास्त्र, मूर्ति-पूजा, तीर्थ, वर्ण-व्यवस्था तथा लोक-मत आदि में उनकी पूर्ण आस्था थी। यही कारण है कि वे हिन्दू-समाज मे इतने अधिक लोकप्रिय हो गये। उनके काव्य ने तत्कालीन समाज का ही परिष्कार नही किया, अपितु भविष्य के समाज की भी आधार शिला रखी। इसी प्रकार मे वे भविष्य द्रष्टा और सृष्टा भी थे। यह कहना असत्य नही होगा कि आज का उत्तरी भारत गोस्वामी तुलसीदास का ही रचा हुआ है।

निष्कर्ष—समन्वय की विराट-चेष्टा की भावना के कारण ही तुलसी का काव्य आज हिन्दू-जन-जीवन का कठहार हो रहा है। उसका शिक्षित और अशिक्षितो मे समान रूप से सम्मान है। अत निर्विवाद है कि कि तुलसी कवि-भक्त, सुधारक, भविष्य-सृष्टा और लोकनायक आदि सब कुछ थे। गाधी जी ने राम-राज्य की भावना तुलसी के मानस से ही ग्रहण की।

प्रश्न १९—तुलसी के काव्य के लोक-पक्ष और लोक-संस्कृति का विचार कीजिए और सिद्ध कीजिए कि ऐसी सगीतपूर्ण रचना किसी कवि ने नहीं की।

उत्तर—तुलसी के काव्य में लोक-जीवन का रूप—

'स्वान्त. सुखाय' रघुनाथ गाथा की घोषणा करते हुए तुलसी-काव्य कितना अधिक परान्त सुखाय: वह लोक-जीवन और संस्कृति के समीप है, इसे कोई भी अस्वीकार नही कर सकता। उनका काव्य लोक-जीवन और संस्कृति की झलक से युक्त है। लोक-जीवन के ग्राम्य-जीवन और नागरिक-जीवन दो पक्ष है। लोक-जीवन के भीतर प्राय ऐसी बातो का चित्रण रहता है। जो ग्रामीण और नागरिक दोनो प्रकार के समाज के भीतर मिलती हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने लोक-जीवन के चित्रण मे ग्राम्य और नागरिक विशेषताओ का समन्वय स्थापित किया है। तुलसी ने राम की प्रशंसा उनके शील के कारण की हैं। शील मे बौद्धिक और धार्मिक गुणो का समन्वय करता है। इसमे कर्तव्य और प्रेम का भी योग रहता है। ग्राम्य और नागरिक जीवन का यही सफल समन्वय है। इसके कारण ही राम इतने लोक-प्रिय हुए। गोस्वामी तुलसीदास राम के शील का वर्णन करते हुए कहते हैं—

सुनि सीता पति शील सुभाउ।
मोद न मन तन पुलक नयन जल सो नर खेहर खाउ।
सिसुपन ते पितु-मातु बन्धु गुरु सेवक सचिव सखाहू।
कहत राम विधु बदन रिसौ है सपनेहुँ लखेउ न काहू॥

लोक-जीवन की झलक—

गोस्वामी जी के काव्य मे काशी, प्रयाग, सीतावट, चित्रकूटआदि का वर्णन है। इन स्थानो मे भारतीय लोक-जीवन का विशेष आकर्षण है। चित्रकूट का वर्णन करते हुए तुलसीदास कहते है—

चित्रकूट अति विचित्र, सुन्दर वन महि पवित्र,
पावन पय सरित तीर भक्त निकदनी।
सानुज जहाँ बसत राम लोक लोचनाभिराम॥
वाम अग वामावर विश्व वन्दिनी,
वर विधान करत गान, वारत धन मान प्रान।
झरना, झरत झिग झिग-झिग जल तरगिनी॥

राम-लोकजीवन—के-प्राण हैं। उनके आजाने से चित्रकूट मे विशेष शोभा आ जाती है—

आइ रहे जबते दोउ भाई।

तब ते चित्रकूट कानन छवि, दिन-दिन अधिक-अधिक अधिकाई।

किष्किंधा काड मे ऋष्यमूक पर्वत पर निवास करते समय वर्षा और शरद ऋतुओं के वर्णन के रूप मे गोस्वामी तुलसीदास लोकनीति और व्यवहार को समन्वित कर देते है—

भूमि परत भा ढावर पानी।
जिमि जीवहि माया लपटानी॥
भिमिटि-भिमिटि जल भरहि तलावा।
जिमि सदगुण सज्जन पहँ आवा॥

गोस्वामी जी ने लोक और वेद दोनों की मर्यादा का पालन कर लोक-जीवन और लोक-सस्कृति का सजीव रूप खडा कर दिया है।

राम-जीवन की कथा मे लोक संस्कृति का रूप—

तुलसी के काव्य मे स्थान-स्थान पर सस्कारो के वर्णन मे लोक-संस्कृति का रूप मिलता है। पार्वती मगल, रामलला नहछू, गीतावली, रामचरित-मानस के विभिन्न प्रसगो मे लोक-जीवन और लोक-सस्कृति का रूप स्पष्ट है, यह सभी प्रसग आज हमारे जीवन और समाज मे उसी प्रकार दिखाई पडते है। राम के जनम जात कर्म, नामकरण मुण्डन, कर्णवेध उपनयन और विवाह के सस्कार का वर्णन हमारे लोक-जीवन को सजीव मे रूप खड़ा कर देता है। इन सस्कारो का आँखो देखा वर्णन निम्न उदाहरण मे द्रष्टव्य है—

आंलेही बांस के मांडव मनिगन पूरन हो,
मोतिन झालरी लाग चहुदिसि झूलन हो।
गगा जलकर कलस तौ तुरत मंगाईव हो।
जुवतिन्ह मगल गाइ राम अन्हवाइय हो।

—रामलला नहछू

बर दुलहिन्हीह बिलोक सकल मन रहसहिं।
साखोच्चार समय सब सुर मुनि बिहँसहिं॥

लोक, वेद, विधि कीन्ह कीन्ह जल कुसकर।
कन्यादान सकलप कीन्ह धरनि वर॥

—पार्वती मगल

चहु प्रकार जेवनार भई वहु भातिन्ह।
भोजन करत अवधपति सहित वरातिन्ह॥
देहि गारि नर-नारि नाम लै दुहुं दिसि।
जेवत वढेउ आनन्द सोहावन भो निसि॥
नाम करन रघुवरनि, कं नृप सुदिन सोधाए।
घर-घर मुद-मगल महा गुन गाय मुहाए॥
गृह, आंगन, चौहट, गली, बाजार बनाए।
कलसु चँवर, तोरन, धुजा सुवितान बनाए॥
भरि-भरि सरवर वापिका अरगजा सनाए।

—गीतावली

रामचरित मानस मे सस्कारो के वर्णन मे लोक-जीवन की सुन्दर झलक मिलती है—

उत्सव और त्योहार के वर्णन मे हमारी लोक सस्कृति सजीव हो उठी है। तिलकोत्सव झूना, दीपावली, फागआदि का वर्णन रामचरित-मानस गीता-वली मे स्थान-स्थान पर मिलते है। इन वर्णनो मे हमारे सामूहिक और सामजिक जीवन का सुदृढ सगठन अन्तर्हित है। इन सस्कारो, उत्सवो और त्योहारो मे समस्त समाज सम्मिलित होता है।

शिष्टाचार का कलात्मक रूप—

शिष्टाचार के वर्णन मे गोस्वामी तुलसीदास ने यथार्थ और आदर्श का सुन्दर समन्वय किया है। गुरु, मित्र, राजा, पुरोहित, सेवक, स्वामी, शत्रु आदि के विविध प्रसग आए है। सुमन्त्र और राजा की बात-चीत मे 'जयजीव' शब्द का प्रयोग हुआ है—

देखि सचिव जयजीव कहि,
कीन्हेउ दड प्रणाम।

+ +

मुदित महीपति मदिर आये।
मेवक सचिव मुमन्त बुलाये।
कहि जयजीव सीस तिन्ह नाये।
भूप सुमगल वचन सुनाये॥

तुलसी के काव्य मे स्थान-स्थान पर चित्र, नृत्य, संगीत, काव्य आदि कलाओं का उल्लेख मिलता है। विवाह आदि के अवसरो का उन्होंने सजावट का जो वर्णन किया है, उसमे उनकी कलात्मक रुचि का परिचय मिलता है। जनकपुरी की सजावट का निम्न वर्णन द्रष्टव्य है—

विधिहि वदि तिन कीन्ह अरम्भा।
विरचे कनक कदलि के खंभा॥
हरित मनिन्ह के पत्र फल, पद्मराग के फूल।
रचना देख विचित्र अति, मन विरंचि कर भूल॥
वेनु हरित मनिमय सब कीन्हे।
मरल सपरव परहि नहि चीन्हे॥
कनक कलित अहि वेलि बनाई।
लखि नहि परहि सपरन सुहाई॥
तेहि के रचि-पचि बंध बनाए।
बिच-बिच मुकता दाम मुहाए॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा।
चीरि, कोरि पचि रचे मरोजा॥
किए भृग बहु रग विहगा।
गुजहि कजहि पवन प्रसगा॥
सुर प्रतिमा खभन गढि काढी।
मगल द्रव्य लिए मव ठाढी॥
चौक भाँति अनेक पुराई।
सिधुर मनिमय महज महाई॥
रभ पल्लव सुभग सुठि, किए नीलमणि कोरि।
बौर मरकत घवरि लसत पाटमय डोरि॥

इस प्रकार के अनेक वर्णन दीपोत्सव तथा हिंडोला आदि के वर्णन मे मिलते है—

सगुन आदि का वर्णन—

भारत की लोक-सस्कृति मे यात्रा आदि के समय सगुन-विचार का विशेष महत्व रहा है। बालकाड मे अयोध्या से बरात के प्रयाण के समय इसी प्रकार मगल सगुनो का विचार गोस्वामी तुलसीदास ने किया है—

लोवा फिरि फिरि दरस दिखावा।
सुरभी सन्मुख सिसुहि पियावा॥
सन्मुख आयेउ दधि अरु मीना।
कर पुस्तक दुइ विप्र प्रवीना॥

इसी प्रकार निपादराज के प्रसग मे छीक का वर्णन निम्न प्रकार हुआ है—

इतना कहत छीक भइ बाये।
कहेउ सगुनिहन्ह खेत सुहाये॥

रावण जब युद्ध के लिए चलता, है—अनेको अपशकुन उसके समक्ष आ जाते है।

लोक-जीवन का आदर्श—

तुलसी ने लोक-जीवन और लोक-सस्कृति का जो वर्णन किया है, उसमे उनका उद्देश्य आदर्श की स्थापना करता रहा है। लोक-जीवन मे ऐहिक-आदर्श राजा, प्रजा, भाई-माता, पिता-गुरु, मित्र, स्त्री, सेवक, शत्रु आदि सभी के कर्त्तव्यो का अलग-अलग वर्णन किया है। लोक-जीवन मे इन्ही आदर्शो की स्थापना करना तुलसी का मुख्य ध्येय था। राम के आदर्श जीवन को सामने लाकर उन्होने सामाजिक जीवन को दृढता प्रदान की।

परलौकिक आदर्श—

गोस्वामी तुलसीदास ने लोक-जीवन के परलौकिक जीवन आदर्श को भी प्रस्तुत किया है। इस पारलौकिक आदर्श का सार ईश्वर भक्ति है। तुलसी का विश्वास है कि भक्ति के बिना लोक-जीवन मे कभी भी सफलता नही मिल सकती। रामकथा के सभी पात्र ईश्वर-भक्त है। हनुमान भरत आदि तो भक्ति

के पावन आदर्श हैं। रावण भक्ति पाने के लिए हठकर बैर करता है। वह जानता है—

खरदूषण मोसो बलवन्ता।
तिन्हहि को मारै बिनु भगवन्ता॥
× × ×
तौ मैं जाय बैर हठि करिहौं।
बिनु प्रयास भव-सागर तरिहौं॥

तुलसी का मुख्य उद्देश्य लोक-जीवन के समस्त भावों को ईश्वर भक्ति से ओत-प्रोत करना है। तुलसी की दृष्टि से भक्ति मानव-जीवन का सार है। तुलसी को लोक-जीवन और मर्यादा का सर्वत्र ध्यान रहता है—

चित्रकूट की सभा में गोस्वामी तुलसीदास लोक-मर्यादा की बड़ी सुन्दर भाँकी उपस्थित कर देते हैं। चित्रकूट की सभा की कार्यवाई धर्म का एक अंग बन जाती है। केवट वशिष्ठ को दूर से प्रणाम करता है और वे उसे हृदय से लगा लेते हैं। कोल-किरातों की विनम्रता तथा उनके प्रति सब का मृदुल और सुशील व्यवहार लोक-संस्कृति का सुन्दर रूप उपस्थित करता है।

गोस्वामी तुलसीदास मर्यादा के साथ लोक-जीवन को प्रस्तुत करते हैं। शृंगार की चेष्टाओं का विधान भी मर्यादा के साथ वे प्रस्तुत करते हैं। वन मार्ग में ग्रामीण स्त्रियाँ राम की ओर लक्ष्य करके सीता से पूछती हैं कि यह तुम्हारे कौन हैं ?

इस पर सीताजी—

तिनहिं बिलोकि बिलोकति धरनी।
दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी॥

यहाँ सीता खुले शब्दों में राम को अपना पति कहने में संकोच करती हैं और यह भी जानती हैं कि उत्तर न पाने से इन स्त्रियों को कष्ट होगा और वे मुझे अभिमानिनी समझेंगी। वे बड़े सुन्दर ढंग से मर्यादा के अन्दर उनको संकेत से सभी कुछ बता देती हैं—

बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी।
पिय तनु चितै भौंह करि बाँकी॥
खजन मजु तिरछे नैननि।
निज पति कहेहु तिनहिं सिय सैननि॥

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवेचन मे स्पष्ट है कि तुलसी ने हमारे लोक-जीवन की विभिन्न झाँकियो का बडा मनोहरी और यथार्थ चित्र उपस्थित किया है। उनके लौकिक आदर्शों के द्वारा आज भी हमारे समाज का यथार्थ लाभ और कल्याण हो सकता है। सक्षेप म कहा जा सकता है कि लोक-पक्ष के प्रत्येक अग को पुष्ट करते हुए जैसी सवाग पूर्ण रचनाएँ तुलसीदास जी ने प्रस्तुत की है, वैसी दूसरे कवि न कर सके।

प्रश्न २१—गोस्वामी तुलसीदास की भाषा शैली पर प्रकाश डालते हुए उनके काव्य का महत्व बतलाइये।

ब्रज और अवधी पर समान अधिकार—

उत्तर—तुलसी के काव्यो मे ब्रज और अवधी का समान प्रतिनिधित्व मिलता है। 'रामचरित-मानस' 'जानकी मगल', 'पार्वती मंगल', रामलला नहछू, बरवै रामायण, की भाषा विशुद्ध अवधी है और 'विनय-पत्रिका' 'गीतावली' और 'कवितावली' ब्रज भाषा मे है, जायसी जहाँ अवधी ही लिख सके और सूर ब्रज-भाषा पर ही सफल आधिपत्य कर सके, वहाँ तुलसी का ब्रज और अवधी पर समान रूप से अधिकार है। उनकी अवधी जायसी से कही अधिक परिमार्जित है और ब्रजभाषा मे भी वे सूर से पीछे नहीं हैं। विषय के अनुसार भाषा का प्रयोग करने मे तुलसी सिद्धहस्त थे। मुहावरो और कहावतो-का प्रयोग तुलसी ने बडी कुशलता से किया है। निम्न उदाहरण मे देखिए—

एकहि बार आस सब पूजी।
अब कछु कहब जीभ कर दूजी॥
फोरइ जोग कपार अभागा।
भलेउ कहत दुख रउरेउ लागा॥

कहहिं झूँठ फुरि बात बनाई।
ते प्रिय तुमहिं करुइ मैं माई।
हमहुँ कहब अब ठकुर सुहाती।
नाहित मौन रहब दिन राती॥
करि कुरूप विधि परबस कीन्हा।
बवा सो लुनिय चहिय जो दीन्हा॥
कोउ नृप होइ हमहिं का हानी।
चेरि छाँडि अब होब कि रानी॥

संस्कृत बहुलता तथा ठेठ लोक-प्रचलित भाषा का समन्वय—

गोस्वामी तुलसीदास के काव्य मे जहाँ संस्कृत की तत्सम शब्दावली मिलती है, वहाँ लोक-प्रचलित ठेठ ग्रामीण शब्दावली की भी कमी नही है। 'रामचरित मानस' के प्रत्येक काड के प्रारम्भ मे संस्कृत के श्लोक हैं के प्रारम्भिक पद तथा 'विनय-पत्रिका' के प्रारम्भ के ६४ पद संस्कृत की तत्सम-शब्दावली युक्त हैं। बरवै, रामलला नहछू, जानकी मंगल और पार्वती-मगल के बहुत से स्थलो की भाषा ठेठ लोक-भाषा का माधुर्य लिए हुए हैं। तुलसी के काव्य मे परम्परागत उपमानो के साथ मे लोक-जीवन मे प्रचलित उपमानो का भी प्रयोग मिलता है। शैली मे संस्कृत के छन्दो के साथ में लोक-काव्य शैली के झूलना, बरवै, सोहर, मगल आदि गीतों का भी प्रयोग मिलता है। तुलसी की भाषा मे अलंकार, रस, गीत, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि का शास्त्रीय रूप भी मिलता है।

स्वाभाविकता और सरलता—

तुलसी की भाषा की प्रमुख विशेषता स्वाभाविकता और सरलता है। उन्होंने अपना आदर्श प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

सरल कवित कीरति विमल, जेहि आदरहिं सुजान।
सहज बैर बिसराय रिपु, जो सुनि करहिं बखान।

इससे स्पष्ट है कि तुलसी की काव्याभिव्यक्ति सरल और स्वाभाविक है।

भाव-गाम्भीर्य—

तुलसी का काव्य सरल होते हुए भी भावों का भंडार है। साधारण पढा लिखा रामचरित मानस को पढकर, जहाँ आनन्दित होता है, वहाँ काव्य-मर्मज्ञ

भाव-राशि और काव्यांग के सुन्दर रत्न प्राप्त करता है। तुलसी की भाषा मे न तो दूरूहता है और न कल्पना मे क्लिष्टता ही आने पाई है। बडे बडे क्लिष्ट भावो को तुलसी की भाषा सरलता से अभिव्यक्त कर देती है, काव्य मे बात-चीत का सा आनन्द आने लगता है। निम्न उदाहरण मे देखिए—

अर्वाह उराहनो दै गई वहुरो फिरि आई।
सुन मैया तेरी सौं याकी टेव लरन की सकुच वेचिसी खाई।
या व्रज मे लरिका घने हौं ही अन्यायी।
मुँह लाये मूडहिं चढी अंतहु अहीरिनि तू सूधी करि पाई।

वर्ण-मैत्री और संगीतात्मकता—

तुलसी के काव्य में स्थान-स्थान पर वर्ण-मैत्री, शब्द-मैत्री संगीतात्मकता मिल जाती है। 'कवितावली' के निम्न उदाहरण मे देखिए—

वरदन्त की पंगति कुंद कली,
अधराधर पल्लव खोलन की॥
चपला चमकै घन बीच जगै,
छवि मोतिन माल अमोलन की॥
घुँघराली लटैं लटकै मुख ऊपर।
कुंडल लोल कपोलन की॥
नेवछावरि प्राण करै तुलसी।
बलि जाऊँ लला इन बोलन की॥

तुलसी ने भावाभिव्यक्ति के लिए लोक-जीवन से अप्रस्तुत—विधान लिया है, इसी से उनकी भाषा मे इतनी सरलता और स्वाभाविकता आ गई। निम्न उदाहरणो मे देखिए—

नगर व्यापि गई बात सुतीछी।
छुअत चढी जनु सब तन बीछी॥
× × ×
पीपर-पात सरिस मन डोला।
× × ×

सो मोपै कहि जात न कैसे।
साक वनिक मनि गन गुन जैसे॥

प्रभावोत्पादकता—

तुलसी की भाषा में प्रभाव-सृष्टि की अनुपम शक्ति है। वह भाव या वस्तु का सजीव चित्र उपस्थित कर देती है। तुलसी का शब्द-संगठन इतना गठित है कि मार्मिक वर्णन सजीव हो उठता है। शब्द संहिति, पद-संगठन, वर्ण-मैत्री, आदि का समन्वय छन्द को गति प्रदान करता है। निम्न उदाहरणों में देखिए—

तुलसी मन रंजन रंजित अंजन,
नैन सुखंजन जातक से,
सजनी ससि में समशील उभै,
नवनील सरोरुह से बिकसे।
× × ×
कंकन, किंकिनि नूपुर धुनि सुनि,
कहत लषण सन राम हृदय गुनि॥

उक्ति-वैचित्र्य—

तुलसी के शब्द और अर्थ दोनों के योग में विलक्षणता है। कथन के न जाने कितने उलटे सीधे ढंग तुलसी के काव्य में मिल जाते हैं। उक्ति-वैचित्र्य की छटा निम्न उदाहरणों में द्रष्टव्य है—

हाथ मींजिबो हाथ रह्यो।
पति सुरपुर, सिय-राम लषन बन मुनि व्रत भरत गह्यो॥
ह्वौ रहि घर मसान पावक ज्यों मरिबोइ मृतक दह्यो।

—गीतावली

तनु विचित्र कायर वचन,
अति अहार मन घोर।
तुलसी हरि भये पच्छधर,
ताते कह सब मोर।

—दोहावली

है निर्गुन सारी वरीक वलि,
धरी करौ हम जोही।
तुलसी ये नागरिन जोग पट,
जिन्हहि आज सब सोही ॥

गोस्वमी जी ने काव्य मे कही-कही वीर गाथा काल की राजस्थानी मिश्रित भाषा और भोजपुरी तथा बुन्देलखण्डी प्रभावित भाषाओ का भी प्रयोग किया है। आवश्यकतानुसार अरवी-फारसी के शब्द भी आ गये है। परन्तु उनको उन्होने हिन्दी के सांचे मे ढाल लिया है। इस प्रकार के शब्द मदेसा, खाना, गरीव-निवाज, गर्दन, जहाज, जहान, निसान, प्यादा, फौज इत्यादि हैं।

तुलसी की भाषा मे सरलता, बोधगम्यता, सौन्दर्य—चमत्कार, प्रसाद, माधुर्य, ओज आदि समस्त गुणो का समावेश है। प्रत्येक शब्द अपने स्थान पर नगीने की तरह जडकर अर्थ-गौरव की वृद्धि मे सहायक होता है। वाक्य-विन्यास सर्वत्र ही व्यवस्थित है। उनकी भाषा भावो की चेरी है, उसमे कही भी शिथिलता नही है। अवसर के अनुकूल भाषा कोमल या ओजपूर्ण हो जाती है। तुलसी जैसा विशाल शब्द-कोप अन्य कवि के काव्य मे नही मिलता। थोडे शब्दो मे गम्भीर भाव भर देना तुलसी की अपनी विशेषता है।

शैली —

गोस्वामी तुलसीदास ने अपने समय की प्रचलित समस्त काव्य-शैलियो को अपनाया। वीरगाथा की छप्पय-शैली और भाटो की कवित्त-सवैया शैली का प्रयोग कवितावली मे हुआ है। विद्यापति और सूरदास आदि कृष्ण भक्त कवियो की गीत-शैली 'विनय-पत्रिका' 'गीतावली' और 'श्रीकृष्ण गीतावली' मे मिलती है। अपभ्रंश काल से चली आने वाली 'नीति' और 'सूक्ति शैली' का प्रयोग 'सतसई', 'दोहावली' और 'रामज्ञा प्रश्न' तथा सूफी कवियो की दोहा-चौपाई वाली शैली का प्रयोग 'रामचरित-मानस' मे मिलता है।

काव्य का महत्व—

तुलसी के काव्य की सवसे वडी विशेषता यह है कि वह मानव-जीवन का व्यापक चित्र उपस्थित कर देता है। मानवीय भावो और अवस्थाओ का कोई

भी अंश गोस्वामी जी की दृष्टि से ओझल नहीं होने पाया है। मानव-जीवन की कोमल और स्वाभाविक भावनाओं के उतार चढ़ाव और मानसिक द्वन्द्व व मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इतने विशाल विस्तार से अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

मार्मिक स्थलों की पहिचान—

तुलसी की प्रतिभा राम-कथा के मार्मिक स्थलों को पहिचानने में कुशल है। इन प्रसंगों के वर्णन में उनकी वृत्ति विशेष रूप से रमी है। इन सरस स्थलों में साधारण कथात्मक प्रसंग भी सरस हो गये हैं। वन-मार्ग के रमणीय प्रसंग तथा चित्रकूट की सभा में जहाँ वे पाठकों को बहुत समय तक रमा लेते हैं, वहाँ ऋष्यमक् पर्वत तक की कथा एक ही पंक्ति में—

"आगे चले बहुरि रघुराई।
ऋष्यमूक पर्वत नियराई।"

कहे जाते हैं। वे नीरस प्रसंगों में बहुत समय तक रोक कर पाठकों को उबाना नहीं चाहता—

गोस्वामी तुलसीदास का काव्य भावों का भंडार है। उसमें वात्सल्य, शृंगार, वीर, भयानक, हास्य, अद्भुत, शान्त, करुणा, रौद्र आदि सभी रसों का सफल परिपाक मिलता है।

स्वयं विरक्त होते हुए भी गोस्वामी तुलसीदास समाज को गृहस्थ-जीवन के लिए उत्साहित करते हैं। वे भौतिक प्रगति के साथ में आध्यात्मिक उन्नति को प्रमुखता देते हैं। रामशक्ति के अभाव में केवल भौतिक शक्ति उनकी दृष्टि में पाशविक है। उससे समाज और व्यक्ति की उन्नति नहीं हो सकती है।

तुलसी भक्ति का आदर्श 'चातक-प्रेम' मानते हैं। जिस प्रकार चातक के प्रेम में अनन्यता, निस्वार्थ और निष्काम की भावना होती है, उसी प्रकार मनुष्य का राम के प्रति प्रेम होना अनिवार्य है। चातक की तरह ही भक्त की भक्ति एक निष्ठ होनी चाहिए—

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास॥

गोस्वामी जी की जन-प्रियता का मुख्य कारण यह है कि उन्होंने समाजिक धार्मिक, तथा मार्मिक स्थितियो का आदर्श और व्यावहारिक रूप सामने रखा। उन्होंने ज्ञान और वैराग्य की मूल बातें अपना कर सगुण भक्ति का मार्ग दिखाया और निर्गुण का झगडा दूर किया। तुलसी का काव्य अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच कर मानवता और विश्व-मैत्री का पावन सन्देश देता है। वह व्यक्ति और समाज के विकारो को दूर करने वाली अमोघ औषधि है।

प्रश्न २२—तुलसी का काव्यादर्श स्पष्ट करते हुए बतलाइये कि उनकी स्वान्त सुखाय रघुनाथ-गाथा-परान्तः सुखाय किस प्रकार हो गई ?

उत्तर—तुलसी ने गगा को काव्य का आदर्श माना है। उनकी दृष्टि से कविता और सम्पत्ति वही उत्तम है जो गगा के समान सब का हित करने वाली हो—

"कीरति भनिति भूति भलि सोई,
सुरसरि सम सब का हित होई।"

तुलसी लौकिक विभूति को बुरा नहीं कहते, परन्तु उसे गगा के समान हित करने वाली होनी चाहिए। तुलसी की दृष्टि मे कविता सुरसरि के समान हित करने वाली हो, इसी मे उसकी सार्थकता है।

भारतीय जीवन मे गगा का महत्वपूर्ण स्थान है। वह हमारे लौकिक और पारलौकिक दोनो रूपो को सुधारने वाली है। वह आर्यावर्त को सींचकर उसे भौतिक सम्पन्नता प्रदान करती है। उसका जल स्वास्थ्य-वर्द्धक है। साथ ही वह मोक्ष-दायिनी भी है। अतः तुलसी ने गगा को अपने काव्य का आदर्श माना है।

कीर्ति का रूप—

कीर्ति की प्राप्ति एक तो व्यक्तिगत उन्नति द्वारा और दूसरे सार्वजनिक कार्यों तथा सेवा मे योग देने से होती है। प्रथम की अपेक्षा दूसरी का क्षेत्र विस्तृत होता है। तुलसी के काव्य का उद्देश्य व्यापक-भावना को लेकर विस्तृत मानवता का प्रसार करना है।

तुलसी का काव्य-सोद्देश्य है—

तुलसी के लिए वह कला व्यर्थ है, जो केवल कला के लिए हो। वह तो सुरसरि के समान सबको हित करने वाली होनी चाहिए। अतः काव्य मे

उपयोगिता का तत्व रहना अनिवार्य है। तुलसी की उपर्युक्त पंक्ति का अर्थ भी यही है। काव्य वही है जो मनुष्य को 'स्व' से ऊपर उठाकर जीवमात्र के प्रति दया, ममता, करुणा और स्नेह की भावना भर दे।

तुलसी सन्त-असन्त, सहृदय-असहृदय आदि समस्त समाज के अस्तित्व को स्वीकार कर उनकी वन्दना करते हैं। वे सबकी कृपा चाहते हैं। वे संसार को सिया राममय जानकर उसे करबद्ध होकर प्रणाम करते हैं।

यद्यपि तुलसी ने 'स्वान्तः सुखाय' 'रघुनाथ गाथा' लिखने की घोषणा की किन्तु उनका काव्य लगभग साढ़े तीन सौ वर्षों से भारतीय समाज का कल्याण और पथ प्रदर्शन कर रहा है, अत यदि हम उनके काव्य को 'स्वान्तः सुखाय' कहें तो भी वह 'लोकातीत परान्तः सुखाय' है। वे कवि होकर भी अपने को कवि नहीं मानते थे, सुधारक होकर भी अपने को सुधारक नहीं कहते थे, तथा लोकनायक होकर भी अपने को लोकसेवक मानते थे।

तुलसी का काव्य सुरसरि के समान हितकारी क्यों बना—

तुलसी 'प्राकृतजन गान' करना काव्य के लिए उपयुक्त नहीं समझते थे। उनके राम इतने उच्च आदर्श चरित्र को लेकर सामने आते हैं, जिनके सम्पर्क में आने वाले सभी आदर्श और साधु हो जाते हैं। कोल किरात तक उनकी भावना और शील से प्रभावित होते हैं—

> हुइ गये पून किरात किरातन्हि,
> राम दरस मिटि गइ कलुषाई॥

अतः स्पष्ट है कि तुलसी के काव्य में लोकहृदयता के साथ-साथ उपयोगिता भी है। उन्होंने राम के रूप में शील, शक्ति और सौन्दर्य का समन्वित आदर्श सामने रखा। उनके काव्य में इस प्रकार सत्य, शिव और सुन्दरम् का समन्वय हो गया। सत्य, शिवं और सुन्दरम् में तुलसी शिवं को प्रमुख स्थान देते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि जीवन की मूल-भावना 'शिवं' ही है।

उद्देश्य—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तुलसी का काव्य एक ओर जहाँ मानव-मात्र के लौकिक आदर्श की प्रतिष्ठा करता है, वहाँ दूसरी ओर आध्यात्मिक उन्नति का भी सोपान बन जाता है। उनका काव्य साढ़े तीन-सौ वर्ष से इह लोक में सुख-शान्ति के साथ-साथ परलोक की प्राप्ति के लिए भी साधन बनता आ रहा है।

अयोध्या काण्ड

प्रश्न २३—'अयोध्या काड' की कथावस्तु सक्षेप मे लिखकर उसकी विशेषताओ पर संक्षेप मे प्रकाश डालिए।

उत्तर—

पृष्ठ सख्या ३ से लेकर २६ तक पढिए।

प्रश्न २४—काव्य-कला की दृष्टि से तुलसी के अयोध्या काड की समीक्षा कीजिए।

अथवा

प्रश्न २५—अलकार-योजना, छुन्द-योजना, भाषा और वचन-विदग्धता की दृष्टि से अयोध्या काड की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—

गोस्वामी तुलसीदास ने 'मानस' के प्रारम्भ मे नम्रता प्रदर्शित करते हुए लिखा है—

> कवि न होहुं नहि वचन प्रवीनू।
> सकल कला सब विद्याहीनू॥
> आखर अरथ अलकृति नाना।
> छन्द प्रवन्ध अनेक विधाना॥
> भाव-भेद रस-भेद अपारा।
> कवित दोष गुन विविध प्रकारा॥
> कवित विवेक एक नहि मोरे।
> सत्य कहौ लिखि कागद कोरे॥

गोस्वामीजो का उपर्युक्त कथन नम्रता प्रदर्शन के ही अर्थ मे लिया जा सकता है। उनके 'मानस' मे काव्य के वाह्य और आन्तरिक सभी प्रकार के उपकरण विद्यमान है। यह सत्य है कि गोस्वामीजो ने अपना पाडित्य—प्रदर्शन के लिए रचना नही की। किन्तु उनका काव्य 'आखर अरथ अलकृतिव नान' से सजा

हुआ है। परन्तु इसके लिए उनको कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ा। राम-यश से भूषित उनका काव्य स्वयं ही काव्य-अलंकरणों से सज गया है।

'अयोध्या कांड' में तुलसी की काव्य-कला में कहीं भी प्रयत्न साध्य चमत्कार नहीं। उसमें सर्वत्र स्वाभाविकता है। अलंकार स्वाभाविक सौन्दर्य के उत्कर्ष में सहायक होते हैं। उनसे वर्ण्य विषय का प्रभाव बढ़ जाता है। वे नेत्रों के सामने चकाचौंध और उलझन उत्पन्न नहीं करते। कहीं भी दूर की कौड़ी लाने की अस्वाभाविक चेष्टा नहीं है। गोस्वामीजी प्रत्येक बात को ऐसी सरलता से कह जाते हैं कि उनमें अनूठापन और विदग्धता आ जाती है। अतः अलंकार सर्वत्र ही वर्ण्य, भाव, कार्य विषय और अर्थ के उत्कृष्ट बनाने में सहायक होते हैं।

अयोध्या कांड में अलंकार-योजना—

अन्त्यानुप्रास, छेकानुप्रास, से तो अयोध्या कांड की कोई भी अर्द्धाली-रिक्त नहीं है। वृत्यनुप्रास का प्रयोग भी बहुत हुआ है। अनुप्रास छटा निम्न पंक्तियों में द्रष्टव्य है—

मातु पिता भगिनी प्रिय भाई। प्रिय परिवार सुहृदय समुदाई॥
सासु ससुर गुरु सजन सहाई। सुत सुन्दर सुसील सुखदाई॥
जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनि तें ताते॥

× + +

धर्म धुरीन धीर नय नागर। सील सनेह सत्य सुख सागर॥

× × ×

विधि कँकेयी किरातिनि कीन्ही। येहि दव दुम्ह दसहुँ दिसि दीन्ही॥

× + ×

जौ प्रभु पार अवसि गा चहहू। मोहि पद पदुम पखारन कहहू॥

+ + ×

काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानि।

अन्य शब्दालंकारों में यमक, वीप्सा, पुनरुक्त वदाभास, पुनरुक्ति प्रकाश वक्रोक्ति आदि के अनेकों उदाहरण 'अयोध्या कांड' में मिल जाते हैं—

हा रघुनंदन ! प्राण पिरीते ।
तुम बिनु जियत बहुत दिन बीते ॥

—वीप्सा

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू ।
तुमहि उचित तप मो कहँ भोगू ॥

—वक्रोक्ति

\+ × +

मोहि मोहि सुख सजय सुराजु ।
कीन्ह कैकयी सब कर काजु ॥

—वक्रोक्ति

अर्थालंकार —

अयोध्या काड मे अर्थालंकारो का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। इनके द्वारा सर्वत्र ही भाव अथवा वस्तु के सौन्दर्य वृद्धि मे सहायता मिली है। अर्थालंकारो मे सादृश्य मूलक अलकारो का ही प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। सादृश्य मूलक, अलकारो मे उपमा, उत्प्रेक्षा, और रूपक का ही विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। इनमे अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत के उत्कर्ष की सिद्धि हुई है।

गोस्वामी तुलसीदास की उपमा अनूठी है। उनमे कालिदास की उपमाओ का सौन्दर्य है। निम्न उदाहरणो मे देखिए —

चित्रकूट की सभा मे देव-माया के वश मे पड़े अयोध्या वासियो की दशा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

रामहि चितवत चित्र लिखे से ।
सकुचत बोलत बचन सिखे से ॥

सीता को ग्रामबालायें असीसती हुई कहती है —

पारबती सम पति प्रिय होहू ।
देवि न हम पर छोड़ब छोहू ॥

गोस्वामी जी ने उपमा मे जहाँ परम्परा प्रसिद्ध उपमानों को ग्रहण किया है, वहाँ परम्परा मुक्त नवीन उपमान भी ग्रहण किए हैं। भरत और शत्रुघ्न अयोध्या वासियो और सेना के सहित राम को मनाने के लिए चित्रकूट को पहुँचने वाले हैं। लक्ष्मण उनके आने की सूचना पाकर उत्तेजित होकर कहते हैं।

जिमि करि निकर दलइ मृगराजू
लेइ लपेट लवा जिमि बाजू।
तैसेहि भरतहि सेन समेता,
सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥

यहाँ सेन-समेत भरत को 'करि निकर' मानकर उसको दलने वाले लक्ष्मण के लिए 'मृगराज' उपमान का प्रयोग किया गया है और 'सानुज' भरत को 'लवा' कहकर लक्ष्मण को 'बाज' कहा है। अकेला सिंह हाथियों के झुंड को नष्ट कर देता है। वह आकार में छोटा होने पर भी अपनी शक्ति से ही ऐसा करने में समर्थ होता है। लक्ष्मण भी भरत से छोटे हैं और वहाँ अकेले हैं। भरत के साथ विशाल सेना है। यह उपमा इस प्रकार बहुत ही सटीक है। यही सौन्दर्य 'लवा' और 'बाज' कीउपमा में है।

राजा दशरथ ने कैकेयी को राम बनवास का वर दिया। वे व्याकुल होकर बोले—

जिअइ मीन वर बारि-विहीना।
मनि-बिनु फनिकु जिअइ दुख दीना।
कहउँ सुभाउ न छल मन माहीं।
जीवनु मोर राम बिनु नाहीं।

इसी प्रकार जिस समय सुमंत राम को लिवाकर दशरथ के पास जाते हैं, उस समय दशरथ की दशा का वर्णन उत्प्रेक्षा के द्वारा बहुत मार्मिक बन पड़ा है।

सूखहिं अधर जरइ सब अंगू।
मनहुँ दीन मनि हीन भुअंगू ॥

प्राण त्यागन करते समय दशरथ की दशा का वर्णन इस प्रकार की उत्प्रेक्षा द्वारा किया गया है—

प्राण कण्ठगत भयउ भुआलू।
मनि विहीन जनु व्याकुल व्यालू ॥

निम्न उदाहरण में मालोपमा का सुन्दर उदाहरण है। राम के बिना अयोध्या की दशा किस प्रकार हो जायगी इसका वर्णन मालोपमा के द्वारा देखिए।

भानु विनु दिन प्रान विनु तन,
चन्द्र विनु जिमि जामिनी।
निमि अवध तुलसीदास प्रभु विनु,
ममुधि धौं जिय भामिनी।

प्रतीप अलकार के सहारे गोस्वामी जी ने कई स्थान पर सौन्दर्य की सृष्टि करते हुए वर्ण्य विषय को स्वाभाविकता और बोधगम्यता प्रदान की है। प्रतीप मे उपमेय का उत्कर्ष बढाने के लिए उपमा के अगो मे उलट फेर कर दिया जाता है। प्रतीत के कुछ उदाहरण लीजिए—

विदा किये वहु विनय करि, फिरे पाइ मन काम।
उतरि नहाने जमुन जल, जो सरीर सम स्याम॥

× × ×

राज कुँवर दोउ सहज सलोने।
इन्ह ते लहि दुति मरकत सोने॥

× + ×

भूपति भवन सुभाय सुहावा।
सुरपति सदन न पटतर पावा॥

अयोध्या काड मे स्थान-स्थान पर गोस्वामी जी ने सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ की है। जब सुमन्त्र राम को गगा तट पर पहुँचा कर अयोध्या लौटे तब दशरथ ने व्याकुल होकर पूछा कि राम कहाँ है ? सुमन्त्र को देखते ही उन्हें आशा वँधी। इस पर कवि ने उत्प्रेक्षा की है—

भूप सुमन्त्र लीन्ह उर लाई, वूडत कछु अधार जनु पाई।

इसी प्रकार, अन्यत्र "पैरत थके थाह जनु पाई" तथा "सूखत धान परा जनु पानी" भी सुन्दर उत्प्रेक्षाएँ है। राम के वियोग मे तडपती हुई कौशल्या की दशा पर भी कवि ने वडी सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

मलिन वसन विवरन विकल कृस सरीर दुखभार।
कनक कलपतरु-वेलि-वन, मानहुँ हनी तुसार॥

इसमे गौरवर्ण कौशल्या के दुःख के कारण सूख कर काली पड़ जाने का,

पाला पड जाने पर सूखी और काली कनक-लता से किया गया साम्य सुन्दर है।

रूपक अलंकार—गोस्वामीजी को अत्यन्त प्रिय जान पड़ता है। मानस में न जाने कितने परम्परित और सांग रूपक में प्रस्तुत वर्णन भरे पड़े हैं। सुमन्त्र राम के वियोग में व्याकुल होकर कहते हैं—

हृदय न बिदरेउ पंक जिमि, बिछुरत प्रीतमु नीरु।
जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि, यहु जातना सरीरु॥

वर्षा के अनन्तर नदी का पानी घटने लगता है। कीचड़ निकल आता है। सूर्य की तीखी किरणों के पड़ने से वह पानी सूख जाता है। मिट्टी फट जाती है। अपने प्रीतम पानी के वियोग में मानो उसका हृदय विदीर्ण हो जाता है। कीचड़ की छाती तो प्रीतम के वियोग में फट जाती है, परन्तु सुमन्त्र की छाती राम के वियोग में नहीं फटती। इनके वियोग का कैसा सजीव चित्रण है।

कैकयी की कठोरता का निम्न परम्परित रूपक दर्शनीय है—

भूप मनोरथ सुभग बनु, सुख सुबिहंग समाजु।
भिल्लिनि जिमि छाड़न चहति, बचन भयंकर बाजु॥

उत्प्रेक्षा से पुष्ट रूपक का सफल प्रयोग निम्न उदाहरण में देखिए। इसमें कैकेयी का रोष प्रत्यक्ष हो रहा है—

होत प्रात मुनि-बेषु धरि, जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजसु, नृप समुझिअ मन माहिं॥

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी, मानहुँ रोष-तरंगिनि बाढ़ी।
पाप पहार प्रगट भइ सोई, भरी क्रोध-जल जाइ न जोई।
दोउ वर कूल कठिन हठ धारा, भँवर कूबरी-बचन प्रचारा।
ढाहत भूप-रूप तरु मूला, चली बिपति बारिधि अनुकूला।

सांग रूपक के उदाहरण में 'प्रयाग राज', 'अहेरी चित्रकूट', तथा 'करुणा सरिता" देखने योग्य हैं। इन सब में गोस्वामीजी प्रस्तुत और अप्रस्तुत के विविध अवयवों का सादृश्य भली भाँति प्रदर्शित किया है। विस्तृत वर्णन होने पर भी कहीं किसी प्रकार की कमी नहीं दिखलाई देती। ये रूपक बहुत लम्बे हैं।

प्रयाग राज रूपक—

तेहि दिन भयउ विटप तर बासू। लषन सखा सब कीन्ह सुपासू ॥
प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराजु देखि प्रभु जाई ॥
सचिव सत्य स्रद्धा प्रिय नारी। माधव सरिस मीत हितकारी ॥
चारि पदारथ भरा भँडारू। पुन्य प्रदेस देस अति चारू ॥
क्षेत्र अगम गढ गाढ सुहावा। सपनेहुँ नहिं प्रतिपच्छिन्ह पावा ॥
सेन सकल तीरथ बरबीरा। कलुष-अनेक-दलन रनधीरा ॥
संगम सिंहासन सुठि सोहा। छत्र अछयबट मुनि मन मोहा ॥
चवंर जमुन अरु गंग तरंगा। देखि होहिं दुख दारिद भंगा ॥

दो०—सेवहिं सुकृती साधु सुचि, पावहिं सब मन काम।
वंदी वेद पुरान गन, कहहिं विमल गुनग्राम ॥

को कहि सकइ प्रयाग प्रभाऊ। कलुष-पुञ्ज-कुंजर-मृगराऊ ॥
अस तीरथपति देखि सुहावा। सुख सागर रघुवर सुख पावा ॥
लषन सीख पय उतर करारा। चहुंदिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा।
नदी पनच सर सम दम दाना। सकल कलुष कलिसाउज नाना ॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी ॥

कुछ अन्य अलंकार—

विपति बीजु वर्षा ऋतु चेरी।
भुइ भइ कुमति कैकेई केरी ॥
भुवन चारि दस भूधर भारी।
सुकृत मेघ बरसहिं सुख वारी ॥

—(सम अभेद रुपक)

सुतहि राज रामहिं बनवासू। देहु, लेहु, सब सवति हुलासू ॥

(परिवृत अलङ्कार)

+ + + +

नृप मनोरथ सुमन वन, सुख सुविहंग समाज ।
भिल्लिनि जिमि छाँड़न चहत, वचन भयकर बाज ॥

(रूपकालङ्कार)

राम साधु तुम्ह साधु सयाने । राम मातु भलि सब पहिचाने ॥

(वक्रोक्ति अलङ्कार)

राम चले बन प्रान न जाहीं । केहि सुख लागि रहत तन माँहीं ॥

(विशेषोक्ति अलङ्कार)

राम दरस हित नेम व्रत, लगे करन नर-नारि ।
मनहुँ कोक कोकी कमल, दीन विहीन तमारि ॥

(उत्प्रेक्षालंकार)

करि कुरूप विधि परवस कीन्हा । बावा सो लुनिअ लहिअ जो दीन्हा ॥

(लोकोक्ति)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गोस्वामी तुलसीदास ने अयोध्या कांड में कितने ही अन्य अलंकारों का प्रयोग किया है। परन्तु ये अलंकार प्रबन्ध के अन्तर्गत आने से कथा के वर्णन में बाधा नहीं पहुँचाते। यदि थोड़ी देर के लिए अलंकारों को हटा दिया जाय तो भी कहीं वर्णन में प्रवाह नहीं रुक सकेगा। अलंकारों का प्रयोग केवल शोभा बढ़ाने के लिए हुआ है। 'अयोध्या कांड, में यही उनका धर्म है।

छन्द-योजना—

कथानक का प्रारम्भ कुछ श्लोकों से होता है, इन प्रारम्भ के श्लोकों को छोड़कर सर्वत्र अवधी भाषा के छन्दों का प्रयोग हुआ है। दोहा और चौपाई अयोध्या कांड के मुख्य दो छन्द हैं।

कहीं-कहीं सोरठा भी आया है। यही छन्द अयोध्या काड मे मुख्य हैं। हरिगीतिका छन्द का भी दो एक स्थलो पर प्रयोग हुआ है। इस छन्द की रचना मे एक विशेषता यह है कि यह चौपाई के ठीक पीछे आता है। इसके प्रथम चरण के आरम्भ मे कुछ उन शब्दो की आवृत्ति हुई हैं, जो उसके पूर्ववर्ती अर्द्धाली के अन्त मे आये हैं। निम्न उदाहरण मे देखिए—

राम तुम्हहि प्रिय तुम्ह प्रिय रामहि। यह निरजोसु दोष विधि वामहि॥

विधि वाम की करनी कठिन जेहि मातु कीन्ही वावरी।
तेहि राति पुनि-पुनि करहि प्रभु सादर सराहन रावरी॥
तुलसी न तुम्ह सो राम प्रीतमु कहतु हौ सौह किए।
परिनाम मंगल जानि अपने आनिए धीरज हिए॥

इस प्रकार हरिगीतिका छन्द के प्रथम चरण मे कुडलियो की झलक मिलती है। गोस्वामीजी ने स्थायी प्रभाव की स्थापना करने के विचार से छन्द बदलने की चेष्टा नही की। सर्वत्र ही प्रवाह के निर्वाह के लिए छन्द-योजना प्रायः एकसी रखी है।

वर्णन-वैचित्र्य और वचन-विदग्धता—

अयोध्या काड मे गोस्वामी तुलसीदास ने स्थान-स्थान पर वर्णन-वैचित्र्य और वचन विग्धता के चित्र प्रस्तुत कर दिये हैं, जो उनके कवि-कौशल को प्रकट करते है। निम्न प्रसग मे देखिए, केवट किस चतुराई और विदग्धता से राम के पैर पखारने की वात कहता है—

मांगी नाव न केवटु आना। कहइ तुम्हार मरमु मैं जाना॥
चरन कमल रज कहुँ सवु कहई। मानुष करनि मूरि कछु अहई॥
छुअत सिला भइ नारि सुहाई। पाहन तें न काठ कठिनाई॥
तरनिउ मुनि घरिनी होइ जाई। वाट परइ मोरि नाव उडाई॥
वन प्रदेश मुनि वास घनेरे। जनु पुर नगर गाउँ गन खेरे॥
विपुल विचित्र विहग मृग नाना। प्रजा समाज न जाइ वखाना॥

केवट की रसमयी विनोद वार्ता सुनकर श्रीरामचन्द्र हँस पड़ते हैं कहते हैं—

"सोइ करिअ जेहि नाव न जाई"

वन-मार्ग में ग्राम-वधुओं का प्रसंग अत्यन्त मार्मिक है। वे सीताजी से—"कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को अहहिं तुम्हारे" कहकर पूँछ-ताँछ करती हैं। यहाँ बड़ी सुरुचि पूर्ण मर्यादा के अन्दर गोस्वामी तुलसीदास सीताजी से उत्तर दिलवाते हैं। यहाँ आर्य नारी का पावन आदर्श ही उपस्थित हो जाता है। सीता देवर लक्ष्मण का नाम लेकर परिचय देती हैं और भाव-भंगी से अपने पति का परिचय बड़ी कुशलता से दे देती हैं। यहाँ तुलसी की कला और कल्पना चर्मोत्कर्ष पर पहुँची हुई है—

कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहि तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुचि सीय मन महुँ मुसुकानी॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ संकोच सकुचित बरबरनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पियतन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि॥

राम के वियोग में अयोध्या में किस प्रकार भयंकरता और करुणा फैली हुई है, इसका स्पष्ट चित्र निम्न कथन में सामने आ जाता है—

खर सिआर बोलहिं प्रतिकूला। सुनि-सुनि होइ भरत मन सूला॥
श्रीहत सर सरिता बन बागा। नगरु बिसेषि भयावनु लागा॥
खग मृग हय गय जाहिं न जोए। राम बियोग कुरोग बिगोए॥
नगर नारि नर निपट दुखारी। मनहुँ सबन्हि सब सम्पत्ति हारी॥
हाट बाट नहिं जाइ निहारी। जनु पुर दहुँ दिसि लागि दवारी॥

निम्न प्रसंग में मुनियों के आश्रम का चित्र नेत्रों के सामने अंकित हो जाता है। प्राणिमात्र के अभेद और ऐक्य का वर्णन दृष्टव्य है—

बैर बिहाइ चरहिं एक संगा। जहँ तहँ मनहुँ सेन चतुरंगा ॥
झरना झरहिं मत्त गज गाजहिं। मनहुँ निसान बिबिध बिधि बाजहिं ॥

चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मद मराल मुदित मन ॥

निष्कर्ष—

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अयोध्या काण्ड 'रामचरित मानस' की मजुल मणि है। भाव, कल्पना, अलकार-योजना, छन्द-योजना उक्ति-वैचित्र्य आदि की दृष्टि से कवि को सीमातीत सफलता मिली है। अवधी भाषा का प्राजल रूप काव्य को सौन्दर्य प्रदान करता है।

प्रश्न२६—सिद्ध कीजिए कि अयोध्या काड मे भावो की मनोहारी व्यजना है।

उत्तर—अयोध्या काड की प्रत्येक पक्ति मे कवि-कौशल की स्पष्ट झलक मिलती है। कैकेयी स्पष्ट कडवी, कर्कश और कटोर वाणी मे राजा दशरथ से कहती है कि प्रतिज्ञा के पुतले बने रहो या राम का मोह छोड दो। यदि कल दिन निकलते-निकलते तापस वेश धारण कर राम वन को न चले गये मेरी मृत्यु और ससार मे तुम्हारा अयश निश्चित है—

होत प्रातु मुनिवेष धरि, जौं न रामु वन जाहि।
मोर मरन राउर अजस, नृप समुझिअ मन माही ॥

कैकेयी के क्रोध का ठिकाना नही, रहता। वह रौद्र-रस की साकार प्रतिमा वन जाती—

अस कहि कुटिल भई उठि ठाढी। मानहुँ रोष तरगिनि वाढी ॥
पाप पहार प्रकट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई ॥
दोउ वर कूल कठिन हठ धारा। भवँर कूवरी वचन प्रचारा ॥
ढाहत भूपरूप तरु मूला। चली विपति वारिधि अनुकूला ॥

कवि ने यहाँ पर क्रोध का विचित्र चित्र खीच दिया है।

कैकेयी के शब्दों को सुनकर राजा दशरथ विवश और व्याकुल हो जाते हैं। उनका सारा शरीर शिथिल हो जाता है। बेवशी और व्याकुलता की अवस्था निम्न प्रसंग में द्रष्टव्य है—

व्याकुल राउ सिथिल सब गाता। करिनि कलपतरु मनहुँ निपाता॥
कंठु सूख मुख आव न बानी। जनु पाठीनु दीन बिनु पानी॥
राम नाम रट बिकल भुआलू। जनु बिनु पंख बिहंग बेहालू॥
बिबरन भयउ निपट नरपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥
माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन॥

राम के चरित्र में गम्भीरता और धीरता की पराकाष्ठा है। उनकी शान्तिप्रियता कैकेयी के क्रोधानल पर ठंडा पानी छिड़क देती है। गम्भीरता और धैर्य का चित्रण निम्न उदाहरण में द्रष्टव्य है—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥
जौं न जाउँ बन ऐसेहु काजा। प्रथम गनिअ मोहि मूढ़ समाजा॥

अयोध्या कांड में कौशल्या-राम और कौशल्या-भरत के प्रसंग में वात्सल्य का सुन्दर चित्रण हुआ है निम्न उदाहरण में देखिए—

बार बार मुख चुंबति माता। नयन नेह जलु पुलकित गाता॥
गोद राखि पुनि हृदयँ लगाए। स्रवत प्रेमरस पयद सुहाए॥
प्रेम प्रमोदु न कछु कहि जाई। रंक धनद पदवी जनु पाई॥
तात जाउँ बलि बेगि नहाहू। जो मन भाव मधुर कछु खाहू॥
पितु समीप तब जाएहु भैआ। भइ बड़ि बार जाइ बलि मैआ॥

यहाँ पर पुत्र के प्रति माता का वात्सल्य अक्षर-अक्षर से प्रवाहित हो उठा है। 'भैआ' 'मैया' शब्द वात्सल्य की सामग्री उपस्थित कर देते हैं। पुत्र का चुम्बन लेकर गोद में बैठा लेना कितना स्वाभाविक है।

परमार्थ तत्व का विवेचन—

गोस्वामी तुलसीदास ने अयोध्या काड मे 'शृगवेर पुर के प्रसंग मे परमार्थ तत्व का सुन्दर विवेचन किया है। राम-सीता शयन कर रहे हैं। आधी रात्रि से अधिक समय व्यतीत हो चुका है। लक्ष्मण निषाद पहरा दे रहे हैं। लक्ष्मण निषाद से परमार्थ तत्व का विवेचन करते है। निम्न कथन मे मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य सार-तत्व सामने उपस्थित हो जाता है :—

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सबु भ्राता ॥
जोग वियोग भोग भल मदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फदा ॥
जनमु मरनु जँह लगि जग जालू। सम्पत्ति विपति करमु अरु कालू ॥
देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माही। मोह मूल परमारथु नाही ॥
एहि जग जामिनि जागहि जोगी। परमारथी प्रपच वियोगी ॥
जानिअ तबहि जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा ॥
होइ विवेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा ॥

रसात्मता

तुलसी को मानव-हृदय की पूरी पहचान है। यही कारण है कि वे कथा के बीच मे रसात्मक स्थलो को प्रस्तुत करने मे सफल हुए हैं।

राम के वन-गमन, दशरथ की मृत्यु और चित्रकूट के प्रसग मे करुणा रस की वेगवती धारा प्रवाहित हुई है। राजा के मरने पर राज-भवन और नगर उसमे डूब गया था। चित्रकूट मे जनक-समाज पर उस करुणा-सरिता का प्रभाव यह हुआ था—

आश्रम सागर सान्तरस, पूरन पावन पाथ।
सेन मनहुँ करुना सरित, लिये जाहि रघुनाथ।

बोरति ग्यान विराग करारे, वचन ससोक मिलत नद नारे।
सोच उसास समीर तरङ्गा, धीरज तट तरुवर कर भङ्गा।
विषम विषाद तोरावति धारा, भय भ्रम भवर अवर्त अपारा।

केवट बुध विद्या बड़ि नावा, सकहिं न खेइ ऐक नहिं आवा।
बनचर कोल किरात बिचारे, थके बिलोकि पथिक हियँ हारे।
आश्रम उदधि मिली जब जाई, मनहुँ उठेउ अंबुधि अकुलाई।
सोक बिकल दोउ राज समाजा, रहा न ग्यानु न धीरजु लाजा।
भूप रूप गुन सील सराही, रोवहिं सोक सिन्धु अवगाही।

अवगाहि सोक-समुद्र सोचहिं नारि नर व्याकुल महा।
दै दोष सकल सरोष बोलहिं बाम विधि कीन्हों कहा।

'रौद्र' रस लक्ष्मण के निम्न कथन में स्पष्ट है। सेना लेकर आते हुए भरत के आगमन की सूचना पाते ही वे उबल पड़ते हैं—

अनुचित नाथ न मानव मोरा, भरत हमहिं उपचार न थोरा।
कहँ लगि सहिअ रहिअ मन मारें, नाथ साथ धनु हाथ हमारें।

छत्रि जाति रघुकुल जनमु, राम अनुग जगु जान।
लातहुँ मारें चढ़ति सिर, नीच को धूरि समान।

उठि कर जोरि रजायसु मांगा, मनहुँ बीररस सोवत जागा।
बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा, साजि सरासन सायकु हाथा।
आजु राम सेवक जसु लेऊँ, भरतहि समर सिखावन देऊँ।
राम निरादर कर फलु पाई, सोवहुँ समर सेज दोउ भाई।
आइ बना भल सकल समाजू, प्रकट करउँ रिस पाछिल आजू।
जिमि करि निकर दलइ मृगराजू, लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू।
तैसेहिं भरतहि सेन समेता, सानुज निदरि निपातउँ खेता।
जौं सहाय करि संकरु आई, तौ मारउँ रन राम दोहाई।

अति सरोष माखे लखनु लखि सुनि सपथ प्रवान।
सभय लोक सब लोकपति, चाहत भभरि भगान।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भाव-व्यंजना और रसात्मकता दृष्टि से अयोध्या कांड सफल है। वह मानस को भाव-सागर में निमग्न कर देता है।

प्रश्न ७—सिद्ध कीजिए कि अयोध्या काड रामचरित मानस का मेरुदण्ड है।

रामचरित मानस मे अयोध्याकाँड—

उत्तर—'रामचरित मानस' मानव जीवन को उठाने मे समर्थ है। यह मानव जाति का महाकाव्य है, क्योकि इसके अध्ययन से मानव मात्र का कल्याण हो सकता है। सारा मानस सात काण्डो मे बँटा हुआ है। प्रत्येक काड अपनी अपनी विशेषता रखता है, किन्तु अयोध्या काड की विशेषता कुछ निराली है।

घटनाओं का बाहुल्य—

राम के विवाह के उपरान्त अयोध्या-कांड का आरम्भ 'जब ते राम व्याहि घर आए' से होता है। राजनैतिक और सामाजिक उथल-पुथल भी इसी कांड मे होती है। तुलसीदास जी का मनोवैज्ञानिक पाण्डित्य ज्ञान भी इसी काड मे प्रकट होता है। राम की पितृ-भक्ति, माता-पिता का वात्सल्य, सीता का पतिव्रत धर्म, तथा लक्ष्मण की भ्रातृ-भक्ति एव त्याग, इत्यादि की घटनाएँ इसी काड मे होती है, जो आगे की कथा के लिए भूमिका डाली जाती है।

चरित्र-चित्रण—

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी यह काण्ड सर्वोत्तम है क्योकि रामचरित मानस के जितने भी प्रमुख पात्र हैं, उन सबके चरित्रो का विकास इसी काण्ड मे हुआ है। विवाह से पूर्व का राम-चरित्र हमारे जीवन पर यह तो प्रभाव डालता कि वे सदाचारी, उदार और सज्जनता के [illegible] है, और धनुष यज्ञ मे धनुष तोड़ने से उनके अतुल बल का भी पता लगता है, किन्तु उनके चरित्र के उदात्त गुणो का ज्ञान इसी काण्ड मे होता है। हम एक-एक इन्च भूमि के लिये आपस मे लड़ते है अथवा सम्पत्ति प्राप्त करने के लिये पिता की हत्या तक कर देते है, किन्तु राम केवल पिता को वचन बद्ध जानकर उनके वचनो की रक्षा के लिए प्राप्त [illegible] साम्राज्य को ठुकरा कर वन-वन के लिये [illegible] बन देते है।

लक्ष्मण के चरित्र का विकास भी इसी काण्ड में हुआ है। लक्ष्मण को वनवास की आज्ञा नहीं दी गई है, किन्तु वह वीर भ्रातृ-सेवा व्रत से प्रेरित होकर सुखों पर लात मार कर चल देता है और स्वयं कष्ट सहकर राम और सीता को सुख पहुँचाता है।

भरत ने भी जिस तपस्या का परिचय दिया वह भी उनके चरित्र को जगमगा देता है। राज्य भोग का अधिकार बड़े भाई का ही है, यह सोचकर वह स्व सुखों पर लात मार कर राम को लिवाने चल देते हैं और राम के न लौटने पर स्वयं भी तपस्वी जैसा जीवन बिताता है।

दशरथ के चरित्र का विकास भी इसी काण्ड में होता है। "रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्राण जाय पर वचन न जाई॥" के द्वारा वे सत्यवादिता का जो परिचय देते हैं वह सारे भारत का गौरव बढ़ा देता है। इसी प्रकार कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी, मन्थरा इत्यादि सभी पात्रों के चरित्र का विकास इसी काण्ड में हुआ है।✓

कथोपकथन—

कथोपकथन की दृष्टि से भी यह काण्ड उत्तम है। गुरु वशिष्ठ और दशरथ का संवाद, कैकेयी-मन्थरा संवाद, दशरथ-कैकेयी संवाद, राम-कैकेयी संवाद, राम-कौशल्या संवाद, सीता-राम संवाद इत्यादि बहुत ही उत्तम हुए हैं। ये संवाद जहाँ पात्रों के चरित्र का विकास करते हैं, वहाँ कथा को भी आगे बढ़ाते हैं। वात्सल्य, शृंगार, वीर और शान्त-रस का इनमें पूर्ण परिपाक हुआ है। अलंकार और विशेष कर लम्बे-लम्बे रूपक अलंकारों का जैसा सुन्दर विधान इस काण्ड में हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं। मध्य भाग में अयोध्या काण्ड प्रौढ़ता को प्राप्त होता है, यहाँ पर तुलसी के कवित्व के पूर्ण दर्शन होते हैं। भाषा भी अलंकारों से सज जाती है। यह प्रौढ़ता अन्त तक चली चलती है। भरत के महत्व का प्रतिपादन करते हुए कवि कथानक को समाप्त करता है।

प्रश्न २८— कैकेयी का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर— कैकेयी महाराज दशरथ की पट्ट महिषियो मे से सर्व प्रिय पट्ट महिषी है। 'मानस' मे उसका दर्शन राम के राज्याभिषेक के समय होता है। जब मन्थरा लम्बी-लम्बी साँस लेती हुई तथा तिरिया चरित्र कर आँसू बरसाती हुई उसके सामने आती है तब कैकेयी उसकी कुदशा देखकर सहसा पूछ उठती है—

"सभय रानि कह कहसि किन, कुशल रामु महिपाल।
लषनु भरतु रिपुदमनु सुनि, भा कुबरी उर सालु॥"

कैकेयी स्वभावतः मृदु, हृदय की शुद्ध और सम्मिलित पारिवारिक जीवन मे ही रस लेने वाली और उसी को कुटुम्ब के लिए लाभ प्रद मानने वाली है। तभी तो वह मन्थरा की भेद डालने वाली बातो पर क्रुद्ध होकर उसे बुरी तरह डाँट देती है :—

"पुनि अस कबहुं कहसि घर फोरी।
तब धरि जीभ कढावौ तोरी॥"

राजनीति की पण्डिता—

कैकेयी राजनीति की पण्डिता है। वह जानती है कि बडे भाई का स्वामी होना और छोटे भाइयो का सेवक होना उचित है। वह तो राम के राज्याभिषेक से परम प्रसन्न होती है और इस प्रसन्नता मे मथरा को मनचाहा देना चाहती है क्योकि राम उससे बहुत अधिक प्रेम करते हैं। वह तो चाहती है कि सब के यहाँ ही राम जैसा पुत्र और सीता जैसी पुत्र वधू हो।

कैकेयी राजनीति मे पूर्ण कुशल है। जब वह देखती है कि प्रधान मन्त्री सुमन्त्र राजा को मूर्च्छित देखकर कही राम का राज्याभिषेक न करदे तो वह तुरन्त कहती है—

"आनहु रामहि वेगि बुलाई। समाचार तब पूछेहु आई॥"

वह जानती है कि राम तो पिता के आज्ञाकारी पुत्र हैं वे तो पिता को वचन-बद्ध जानकर वन चले जायेंगे, किन्तु यदि सुमन्त्र ने उन्हें राज तिलक कर दिया तो फिर सारा गुड गोबर हो जायेगा और करे धरे पर पानी फिर जायेगा।

कैकेयी अपनी राजनीतिज्ञता का परिचय राम के आने पर भी देती है। वह राम की पितृ-भक्ति की प्रशंसा कर राम को भी पिता के यश की रक्षा करने का उपदेश है, क्योंकि पुत्र का धर्म पिता का क्लेश दूर करता है।

दुर्बलताएँ—कैकेयी मे स्त्री सुलभ दुर्बलताएँ भी हैं। इन्ही दुर्बलताओं से प्रेरित होकर वह मन्थरा की बातो म आ जाती है। और आवे भी क्यो नही। वह जानती है कि मन्थरा कभी भी उसका अहित न करेगी। जब मन्थरा अनेक प्रकार का तिरिया चरित्र कर उसके हृदय मे भेद का बीज बो देती है और कैकेयी उसको अपना परम हितू मान लेती है, तब तो वह उसे इस पकार दृढ विश्वास दिला देती है—

> "परौं कूप तुव वचन पर, सकौ पूत पति त्यागि।
> कहसि मोर दुखु देखि बड कस न करब हित लागि॥"

यह विश्वास दिलाने के बाद कैकेयी कोपभवन मे जाकर जो स्त्री चरित्र करती है, वह एक कुलीना और पतिव्रता के लिए सर्वथा अनुचित हो जाता है।

चतुरता और दूरदर्शिता—

कैकेयी दूरदर्शी और अत्यन्त चतुर है। वह सहसा किसी की बातों मे आने वाली नही है। जब वह देख लेती है कि महाराज उसके प्रेमपाश मे बिलकुल फस गये है, तब वह वर माँगने की भूमिका बाँधती हुई इस प्रकार कहती है—

> "माँगु-माँगु पै कहहु पिय, कबहुँ न देहु न लेहु।
> देन कहेहु बरदान दुइ तेउ पावत सदेहु॥"

वह महाराज दशरथ का तभी विश्वास करती है जब वह राम की शपथ खा लेते हैं।

कठोरता—

कैकेयी भी समय पर अति कठोर हो जाती है। चाहे कोई मरो या जीओ चाहे, राज्य का काम बने या बिगडे, किन्तु उसने जो हठ ठानली है वह उसे करके छोडेगी।

व्यंग्य-प्रियता—

कैकेयी व्यंग्य करने मे बडी चतुर है। वह जब देखती है कि महाराज रदान देने मे ढिलाई करते है तब वह कह ही तो देती है—

"जो अंतहु अस करतबु रहेऊ। मांगु मांगु तुम्ह केहि बल कहेऊ ॥

कभी वह

"छांडहु वचन कि धीरज धरहू।
जनि अबला जिमि करुना करहू ॥"

कह कर मर्म वचन कहती है और कभी

"तनु तिय तनय धामु धनु धरनी। सत्य सघ कहँ तृन सम बरनी ॥"

द्वारा प्रतिज्ञा पर दृढ रहने का उपदेश देती है। भांति-भांति के वचनो से अनेक उपदेशो और व्यंग्यो से कैकेयी मन चाहे वरदान प्राप्त कर के ही रहती है।

कपटाचरण—

कैकेयी कपटा चरण मे बहुत कुशल है। भरत के आने पर वह नेत्रो मे आंसुओ को भरकर जिस कपट का परिचय देती है वह स्त्रियो की विशेषता है। वह पुत्र को विकल देखकर समझती है और राज्य भोगने के लिए उत्साहित करती है। किन्तु कैकेयी सहनशील भी है। अतएव वह भरत के कटु वचनो को चुपचाप सह लेती है।

निष्कर्ष—कैकेयी पदार्थ नारी है, वह अपने दोष को स्वीकार करके आत्मग्लानि करती है। चित्रकूट में उसे, ग्लानि करते देखकर पाठकों को उसके प्रति सहानुभूति हो जाती है।

प्रश्न२९—भरत का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—सामान्य-परिचय—

भरत महाराजाधिराज दशरथ के पुत्र और राम के प्रियभाई हैं। इनके प्रारम्भिक जीवन के विषय में कवि ने प्रकाश नहीं डाला है। ये राम से इतने मिलते जुलते हैं कि राम भरत का भेद सहसा नहीं हो पाता है। कैकेयी के ये इकलौते पुत्र हैं किन्तु कौशल्या से बहुत हिले मिले हुए हैं। राम के राज्याभिषेक के आयोजन के समय इनकी अनुपस्थिति सबको अखरती है। सरस्वती के द्वारा मन्थरा की बुद्धि के भ्रष्ट कर देने पर वह कैकेयी को भरत के राज्याभिषेक के लिए और राम के वनवास के लिए पट्टी पढ़ाती है और भवितव्यता के कारण कैकेयी उसके हाथों में खेलकर अपने थाती रखे हुए दो वरदानों से राम का वनवास और भरत का राज्याभिषेक माँग ही तो लेती है।

पितृ-भक्ति और बन्धु-प्रेम—

भरत के चरित्र का विकास उस समय होता है जब वह गुरु वशिष्ठ के बुलाने पर ननसाल से अयोध्या आते हैं। भरत के हृदय में पिता के लिए तो प्रेम है ही, किन्तु उससे भी अधिक भाई राम के लिए है। उन्हें पिता के मरण का तो दुःख होता ही है किन्तु पिता उन्हें राम को नहीं सौंप गये इसका बहुत दुःख है। राम का वन-गमन और फिर, उसमें अपने को के कारण जान कर तो वह कैकेयी पर बरस पड़ते हैं और यहाँ तक कह देते हैं।

"पापिन सबहि भाँति कुल नासा।"

राम वियोग में वह कैकेयी से फिर कहते हैं।

"जो पै कुरुचि रही अति तोही। जनमत काहे न मारेसि मोही॥"

भरत उस माता को, जो उनके पितृ-मरण और भ्रात-वन-गमन का कारण बनी, माता कहने मे भी सकुचाते है। उन्हे तो बडा आश्चर्य होता है कि ऐसे वर मागते समय माता की जीभ मे कीडे क्यो नही पड गए। वह तो ऐसी माता को माता ही नही मानना चाहते है, अपितु उसका मुँह भी देखना नही चाहते और इसी लिए उससे .—

"आँखि ओट उठि बैठहि जाई।
कह कर उसे सामने से हटा देते है॥"

हृदय के पवित्र—

भरत का हृदय वह शुद्ध हृदय है जिसमे काम, क्रोध, लोभ, मोह के लिए कोई स्थान नही है। उन्हे राज्य की कोई इच्छा नही है। वह तो केवल राम के दर्शन के भूखे है। अपने हृदय की शुचिता और पवित्रता को प्रकट करने के लिए वे बडी-बडी शपथ खाते हैं जिससे माता कौशल्या के हृदय मे उनके प्रति कोई द्वेष भावना न आ जाय। उनकी इन शपथो को सुनकर कौशल्या को :—

"तुम्ह रामहि प्रतिकूल न होहू।"

कहना ही पडता है।

राम के प्रति सेवा की भावना—

भरत राज्य का अधिकारी राम को ही मानते है और उनकी अनुपस्थिति मे राज्य-भोग करना अपनी अनधिकार चेष्टा समझते है। वह तो अपना अधिकार केवल राम की सेवा ही समझते हैं। जैसा वह स्वयं कहते है :—

"हित हमार सिय पति सेवकाई। सो हरि लीन्हि मातु कुटिलाई।"

वह तो राम के अभाव मे राजपद स्वीकार करना देश के लिए अत्यन्त हानिकारक समझते हैं। इसीलिए तो वे कहते हैं —

"मोहि राजु हठि देइहहु जबही। रसा रसातल जाइहि तबही॥"

भरत का विश्वास है कि यदि वह राम के सिंहासन पर बैठेंगे तो देश की बड़ी हानि हो जायेगी अतएव वह राम को लिवाने के लिए चित्रकूट के लिये प्रस्थान कर देते है।

ऊँच-नीच की भावना का अभाव—

भरत के हृदय मे ऊँच-नीच की भावना बिल्कुल नही है। वह निषाद को बडे प्रेम से हृदय से लगा लेते हैं। उस समय भरत के निश्छल प्रेम को देख कर निषादराज तन मन की सुध भुला देता है।

राम-दर्शन की उत्सुकता—

राम के दर्शन के लिये भरत के हृदय मे जो उत्सुकता है वह दिन-दिन बढती ही जाती है। भरत प्रत्येक नागरिक से यही चाहते हैं कि वह राम-दर्शन में उनका सहायक हो। वह तीर्थ राज से भी इसी प्रकार भीख मांगते हैं :—

"मांगौ भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करै कुकरमू॥"

भरत अत्यन्त ही सरल हृदय, उत्तम स्वभाव सब गुणो की खान, ज्ञान के भण्डार और भ्रातृ प्रेमागार हैं। भरद्वाज ऋषि उनके ही मुँह पर उनकी इस प्रकार प्रशंसा करते हैं :—

"सुनहु भरत रघुवर मनमाही। प्रेम पात्र तुम सम कोउ नाही॥
लषन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥"

निरभिमान—

राजमद तो भरत को छू तक नही गया है। उनके हृदय मे तो केवल राम की सच्ची भक्ति है। वह तो चाहते हैं कि उन्हे राम की सेवा करने का अवसर मिले उन्हे राज्य के झंझटो से कोई प्रयोजन नही। इसी बात को राम दृढ विश्वास के साथ कहते हैं :—

"भरतहि होइ न राजमदु विधि हरि-हर-पद पाइ॥"

भरत के गुण अनन्त हैं। अयोध्या काण्ड का अधिकांश भाग भरत के गुणो से भरा पडा है। तुलसीदास जी ने भरत के चरित्र-चित्रण मे कोई बात उठा

नही रखी हैं। सचमुच भरत का चरित्र अलौकिक और अनुपम है। राम की आज्ञा शिरोधार्य कर वह राज काज तो करने लगते हैं किन्तु तपस्वी बनकर। शाम, दाम, संयम नियम और उपवास ये ही उनके जीवन सगी बने हुए है जिनके कारण भरत के विमल चरित्र मे चार चाँद लग रहे है।

भरत की निष्ठा और श्रद्धा भक्ति इतनी बढी चढी है कि राजनैतिक जटिल समस्या के आने पर वह प्रभु की खडाऊँ से आज्ञा लेकर उलझनो को सुलझा लेते है। तुलसीदास तो भरत के चरित्र से इतने प्रभावित है कि भरत के चरित्र को ससार का उद्धार करने वाला और एक उत्तम आदर्श स्थापित करने वाला मानते हैं।

प्रश्न३०—राम का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर—मर्यादा पुरुषोत्तम राम महाराजाधिराज दशरथ के पुत्र है। यह रामचरित्र मानस के नायक हैं। तुलसीदास ने उन्हे लौकिक पुरुष न मानकर अलौकिक पुरुष माना है। राम ने अपने जन्म के आरम्भ मे ही माता को विस्मय मे डाल दिया है।

राम के चरित्र का विकास अयोध्या काण्ड मे होता है। राम का आतिथ्य और शिष्टाचर जो अवसर प्राप्ति के बिना हृदय मे दबा हुआ था वह गुरु वशिष्ट के आने पर उभर जाता है। राम गुरु का आदर सत्कार कर किस नम्रता का परिचय देते हैं:—

"सेवक सदन स्वामी आगमनू। मंगल मूल अमगल दमनू॥"

बन्धु-प्रेम—

राम को अपने राज्यभिषेक का समाचार सुनकर बडा दुःख होता वह इसके लिये इस प्रकार पछताने लगते हैं :—

"विमल वस अनुचित यह एकू। बंधु विहाइ बर्डाह् अभिषेकू॥"

पितृ-भक्ति—

राम पितृ भक्ति के उज्जवल आदर्श है। ज्योही राम माता कैकेयी से

'पिता के दुःख का कारण सुनते हैं, त्यों ही वह वन जाने के लिये सन्नद्ध हो जाते हैं।

राम का कोमल हृदय स्त्री की जन्मजात कोमलता से परिचित है। वे नहीं चाहते कि कुसुम सी सुकुमारा सीता उनके साथ कष्ट भोगे, अतएव वे उन्हें घर पर रहने का ही परामर्श देते हैं, किन्तु उनके दृढ निश्चय को देखकर साथ लेने में आना कानी नहीं करते। इसी प्रकार वह लक्ष्मण को भी पहले घर पर रहने की ही सलाह देते हैं और फिर भ्रातृ प्रेम से प्रेरित होकर उन्हें अपने साथ ले चलते हैं।

मनुष्य-हृदय के अनुपम पारखि—

राम मनुष्य के हृदय की परख करने की उत्तम कसौटी है। उनके निश्चय में कभी अन्तर नहीं पड़ता है। भरत के सम्बन्ध में लक्ष्मण के हृदय में तो दुर्भावना पैदा होती है किन्तु राम "भरतहिं होइ न राजमदु विधि हरि हर पद पाइ" कह कर भरत की प्रशंसा करते हुए प्रेम विभोर हो जाते हैं।

राम के लिए पितृ-वाक्य वेद-वाक्य से भी बढ़कर हैं। वह माता के अनुरोध पर वशिष्ठ के समझाने पर और प्रमुख नगर वासियों की प्रार्थना पर पितृ-वाक्य की रक्षा के लिए ही अवधि से पूर्व अयोध्या नहीं लौटते हैं।

निष्कर्ष—

राम कथानक के नायक हैं। वे दैवी और मानवीय दोनों ही रूपों में हमारे सामने आते हैं। पिता की आज्ञा के पालन का जो आदर्श उन्होंने उपस्थित किया, वह अन्यत्र खोजने में भी न मिलेगा। वे सुख-दुख में निर्लिप्त और निर्विकार थे। राज्याभिषेक के समाचार पर वे प्रसन्नता में मग्न नहीं होते और वनवास की आज्ञा पर उनके मुख पर म्लानता नहीं आती। राम अनिच्छा-पूर्वक अपने मन को मार कर भी दूसरों का मन नहीं तोड़ते। सीता

श्रौर लक्ष्मण को वे श्रयोध्या मे रहने के लिए बहुत समझाते हैं, किन्तु जब वे स्वीकार नही करते तो उनकी इच्छा पूरी करने को विवश हो जाते है।

राम भरत के प्रेम के वश मे थे। वे भरत की सदैव सराहना करते हैं श्रौर चित्रकूट की सभा मे भरत की इच्छानुसार काम करना स्वीकार कार लेते हैं। राम सकोची स्वभाव के थे। वे कटु बचन कहना जानते ही नही थे। गंगा-तट पर लक्ष्मण सुमन्त से पिता के लिए कुछ कटु शब्द कहते है। इस पर राम श्रपनी शपथ दिलाते हुए सुमन्त से कहते है कि वे लक्ष्मण का सन्देश जाकर न कहे—

सकुच राम निज सपथ देवाई। लखन सँदेसु कहिग्र जनि जाई॥

श्रयोध्या काण्ड मे राम का चरित्र कोमल, संकोची, उदार, कृतज्ञ, पितृ-श्राज्ञा पालक श्रादि उदात्त गुणो से विभूषित है।

परीक्षोपयोगी प्रश्न

प्रश्न संख्या;—६, ८, ११, १७, १९, २४ २६, २९